भक्ति आंदोलन और हिंदी रंगमंच : एक अध्ययन

BHAKTI MOVEMENT AND HINDI THEATRE: A STUDY

पीएच.डी. (हिंदी) की उपाधि हेतु शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक

डॉ.रमण प्रसाद सिन्हा

शोधार्थी

दीपा

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा,साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नईदिल्ली – 110067

2022

Dated: 30 /09 /2022

Declaration

I hereby declare that the Ph.D. thesis entitled titled **"Bhakti Andolan aur Hindi Rangmanch: Ek Adhyayan" [Bhakti Movement and Hindi Theatre: A Study)** submitted by me is the original research work. It has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution to the best of my knowledge.

I further declare that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarised in my Thesis, I will be solely responsible for the act.

Deepa

DEEPA
Name of Students

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 30 /09 /2022

Certificate

This is to certify that the Ms. DEEPA, a bona-fide Research Scholar of Centre of Indian Languages, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D. thesis entitled**"Bhakti Andolanaur Hindi Rangmanch: Ek Adhyayan" [Bhakti Movement and Hindi Theatre: A Study)**This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

Dr. Raman Prasad Sinha
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. Omprakash Singh
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

Dr. Raman Prasad Sinha
Associate Professor
Centre for Indian Languages
SLL&CS
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067
अध्यक्ष / Chairperson
भारतीय भाषा केन्द्र / CIL
भा. सा. एवं सं. अ. सं. / SLL & CS
ज. ने. वि. / JNU
New Delhi-110067
Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (O) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217,
Email: chair_cl@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

Scanned with CamScanner

अनुक्रमणिका

भूमिका

प्रथम अध्याय –भक्तिकाल का परिप्रेक्ष्य

द्वितीय अध्याय – भक्तिकालीन प्रदर्शनकारी कलाएं

तृतीय अध्याय – भक्तिकालीन हिंदी रंगमंच

चतुर्थ अध्याय–भक्ति आंदोलन और हिंदी नाटक

पंचम अध्याय–भक्ति संवेदना के विकास में हिंदी रंगमंच का

योगदान

उपसंहार

भूमिका

नाटक और रंगमंच ऐसी विलक्षण विधा है जो वास्तविक जनजीवन के भाव संपदा को अधिक यथार्थ रूप में व्यक्त करती है और अधिक प्रभाव उत्पन्न करती है। भरत मुनि द्वारा 'नाट्यशास्त्र' की रचना की गई। इस ग्रंथ को पंचम वेद भी माना जाता है । इस ग्रंथ में भरत ने नाट्य कला के पाठ एवं मंचन; दोनों ही पद्धतियों को गंभीरता से प्रस्तुत किया है । भरत की नाट्य परंपरा संस्कृत नाटकों में भली –भांति प्रयुक्त हुई । यह एक प्रचलित परंपरा थी। इसमें लोकधर्मी और नाट्यधर्मी नाटकीय परंपराएं शामिल थीं । नाट्यधर्मी नाट्य परंपरा को- संस्कृत और शास्त्रीय नाटककारों ने अपनाया । लोकधर्मी नाट्य परंपरा शास्त्रीय नाटकों में न होकर लोकनाट्य रूपों में प्रचलित हुई । ये दोनों शैलियां समांतर रूप से विकसित हुईं लेकिन नाट्यधर्मी परंपरा संस्कृत नाटकों तक सीमित रह गई और लोकधर्मी परंपरा आज भी हम सभी के बीच मौजूद है । हिंदी की भक्तिकालीन नाट्य परंपरा में लोकपारंपरिक नाट्यशैलियों का अद्‌भूत योगदान है । भक्तिकाल में लोकसंस्कृति का प्रचार व प्रसार लोकनाट्य द्वारा परिलक्षित होता है । जब कभी हिंदी की मध्यकालीन रचनाओं के बारे में चर्चा उठती है तो वह केवल भक्ति से परिपूर्ण कविताओं तक सीमित रह जाती है हालांकि मध्यकालीन साहित्य के अतिरिक्त प्रदर्शनकारी कलाएं भी भक्त कवियों की रचनाओं की आधारशिला बनी । इन कलाओं ने शास्त्रीयता के मोह को त्याग कर लोकनाट्य रूप एवं मंच के माध्यम से अपनी नयी व्याख्या प्रस्तुत की । शास्त्रीयता के गुणों से युक्त प्रदर्शनकारी कलाओं में लोक शैलियों का पुट दिखाई देने लगा । मध्ययुग में कवियों के मतसाधना–पद्धति और आचार– विचार में अंतर्विरोध ज़रूर दिखायी देता है परंतु कई रूपों में समानता भी है । इसी समानता के कारण मध्ययुग का सारा भक्ति साहित्य एक विशेष प्रवृत्ति का साहित्य है। इस काल के संपूर्ण साहित्य के बारे में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि भगवान या ईश्वर इन भक्तों की दृष्टि में कोई शक्ति सत्ता-मात्र नहीं है बल्कि एक सर्वशक्तिमान व्यक्ति है जो कि कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर

सकता है व अवतार ले सकता है। भक्तिकालीन कवियों ने सामाजिक विषमता स्वरूप मानवीय परिस्थितियों को केन्द्र में रखकर काव्य रचना की। इसके अतिरिक्त तत्कालीन कवियों ने भक्ति के माध्यम से जातिवाद, सांप्रदायिकता और धार्मिक कर्मकाण्डों को भी चुनौती दी। हिंदी साहित्येतिहासकारों एवं विद्वानों ने मुसलमानों के आगमन को लेकर विभिन्न मत दिये हैं परंतु इस दौर में इस्लामिक संस्कृति का आगमन हो चुका था जिससे भारतीय परिवेश में एक नया सांस्कृतिक समावेश हुआ। इस कारण भी भक्तिकालीन कवियों में जायसी, मंझन आदि सूफी कवियों की विशिष्टता हिंदी साहित्य को समृद्ध करती है। साथ ही इस्लामी संस्कृति ने लोक–जीवन में स्थापत्यकला, चित्रकला और संगीत कला आदि के माध्यम से भारतीय जीवनशैली में प्रवेश कर लिया था।

इस काल की विशेषता यह है कि इसमें कला के माध्यम से वैचारिकी समाज के सभी वर्गों तक स्थानांतरित हुई।भक्ति-आंदोलन के प्रभाव के कारण भारत के सांस्कृतिक इतिहास में पहली बार शूद्रों,अन्त्यजों और सताये गये वर्गों ने अपने– अपने संत दिये और इन संतों ने पहली बार जाति,धर्म, वर्ण तथा संप्रदाय की चारदीवारियों को तोड़ते हुए एक मानव धर्म तथा मानवीय संस्कृति को प्रतिष्ठित किया। सूफी कवियों के माध्यम से इस्लाम धर्म में कट्टरपंथी विचारों को त्यागकर समन्वय मूलक समाज का आगाज हुआ। भक्त कवियों की रचनाओं को विस्तार लोकसाहित्य एवं लोकनाट्य शैलियों के मंच से मिलता है। उदाहरणस्वरूप स्वयं तुलसीदास ने रामचरितमानस की चौपाइयों को जात्रा (एक लोक नाट्य शैली) के माध्यम से लोक परिवेश में प्रचलित किया। इस जात्रा में स्थानीय लोग ही अभिनय करते थे। मानस के पात्रों एवं घटनाओं पर आधारित गली व मोहल्लों के नाम भी गढ़े गए। यह लोक मानस का प्रतिबिंब होता है। भक्ति कालीन सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत में कथा–

वर्णन, नृत्य, जादू के खेल, कठपुतली के नाच, स्वर– संगीत, नाटक- तमाशा, नटों के खेल आदि के साथ-साथ जनसाधारण के नाट्यात्मक मनोविनोदों के भी वर्णन दिखाई देते हैं–

कतहूँ कथा कहै कुछ कोई।

कतहूँ नाटको उभल होई।

कतहूँ छट हटा पे खन लावा।

कतहूँ पाखँड का ठन चावा।

कतहूँ ना दस बद होई भला।

कतहूँ नाटक चेटक कला[1]।।

जायसी ने जिन लोक-पारम्परिक शैलियों का उल्लेख पद्मावत में किया है वह निश्चित रूप से तत्कालीन परिस्थितियों से उद्धृत हुई हैं । जायसी के काव्य में तत्कालीन समाज एवं सांस्कृतिकता का प्रभाव परिलक्षित होता है । इस शोध-कार्य में तत्कालीन लोक-साहित्य एवं लोकनाट्य शैलियों को इस्लामिक संस्कृति से जोड़ते हुए प्रदर्शनकारी कलाओं एवं नाट्य शैलियों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है । भारतीय संस्कृति में इस्लाम धर्म और संस्कृति, कलाओं के माध्यम से लोगों के आचार-विचार में रच– बस रही थी । उत्तर भारत के भवन– निर्माण में गुंबद, नक्काशी एवं चित्रों में विभिन्न परिवर्तन दिखाई देते हैं । इन बदलावों के साथ– साथ भारतीय रहन– सहन में नयी संस्कृति का सम्मिश्रण प्रदर्शित होने लगा था । साहित्य में भक्त कवियों ने इस्लाम आगमन का विरोध भी किया तथा इससे आहत जन-समुदाय को

[1]हे सामाजिक (भारतीय रंग-परंपरा परसंवाद),सुरेश अवस्थी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय,दिल्ली,पृ.सं-63

विचार-विमर्श का नया मार्ग सुझाया । अतः हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन काव्य, नाटक एवं रंगमंच को ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित पर नया दृष्टिकोण देखा गया है ।

भक्तिकाल में कृष्ण काव्य का पूरा साहित्य लोकोन्मुखी है । लोक की धड़कनों की अभिव्यक्ति इस साहित्य का प्रमुख उद्देश्य रहा है । चैतन्य, मीराबाई, तुलसीदास व सूरदास ने धर्म के उस रूप को आधार बनाया जो लोकवादी है । इस प्रकार से भक्ति आंदोलन ने परंपरागत धर्म, संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था का अतिक्रमण किया है । वे एक ऐसे समाज की संरचना का स्वप्न देखते थे जहाँ धर्म और ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं । भक्तिकाल के कवियों ने जो सपना देखा था वह आज भी पूरा नहीं हुआ है । उस सपने की सार्थकता और मूल्यांकन की आज के संदर्भ में महती आवश्यकता है ।

तत्कालीन साहित्य में मठ और मंदिरों की यह विशेषता रही है कि वहां हर क्रांतिकारी सुधारक और कवि का पहले तो विरोध किया जाता है और फिर उसे अपने अनुसार ढ़ालकर मंदिरों में उनके विचारों को स्थापित कर देते हैं । बिना चमत्कारों के किसी महान सुधारक और कवि का अध्ययन करने में ये पुरोहितवादी संस्कृति सबसे बड़ी बाधक है । ये तर्क और विवेक के स्थान पर भावना को महत्व देती है । आज यह आवश्यक है कि भक्तिकाल और उसके साहित्य का अध्ययन उसके ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों में किया जाए । आज के संदर्भों में उनके पूरे अंतर्विरोधों के साथ, उनकी सार्थकता को रेखांकित करने की आवश्यकता है । यह इसीलिए भी जरूरी है ताकि आज धर्म के नाम पर जो अनाचार हो रहे हैं, उसके सामने प्रश्न चिह्न लगाया जा सके । भक्त कवियों ने हिंदू धर्म को लोकधर्म के रूप में स्थापित किया । उसके मानवीय चेहरे को हमारे सामने प्रस्तुत किया । धर्म जब सत्ता का हथियार बनता है तो उससे ज्यादा अमानवीय कुछ नहीं हो सकता । ऐसा लगता है कि हजारों सालों में अर्जित

सभ्यता–संस्कृति और मानवीय मूल्य कबीलाई संस्कृति में बदल गये हैं । संतों, भक्तों और सूफियों ने इस असंगत गठजोड़ का अपने साहित्य में निरंतर प्रतिकार व प्रतिरोध किया है।

पूरा भक्ति साहित्य लोकहित का साहित्य है । वह किसान, कारीगर और साधारणजन को अभिव्यक्त करता है। यह लोक संस्कृति का सबसे बड़ा प्रेरणास्रोत है। यह शासकों और सत्ता भोगियों के विरूद्ध एक सशक्त सांस्कृतिक हस्तक्षेप है। संस्कृति मनुष्य को संस्कार देती है और पूरे जन-समुदाय को भी संस्कारित करती है। लोक संस्कृति के जन-जीवन में प्रचलित रीति-रिवाज, आस्था–विश्वास, विधि-विधान, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, विचारधारा और व्यवहार सभी कुछ आते हैं । चिंतन के क्षेत्र में सामूहिक प्रतिभा के बल पर,लोक को जो जीने का बेहतरीन मूल्य उपलब्ध कराता है वही उसकी संस्कृति है। लोक संस्कृति और साहित्य के शुरू से अंतर्संबंधित रहे हैं। लोक संस्कृति का सबसे बड़ा आधार लोक चेतना है।

प्रस्तुत शोध–कार्य के प्रथम अध्याय के अंतर्गत भक्तिकलीन वातावरण एवं साहित्यिक गतिविधियों का विश्लेषण हुआ है । साहित्य में भक्ति के उद्भव के कारणों एवं परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया गया है। भक्तिकालीन इतिहास के माध्यम से भक्तिकाल में उत्सर्जित भक्ति के स्वरूप को एकरूपता से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । मध्यकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि में उत्पन्न भक्तिआंदोलन के बीजकारणों का अध्ययन हुआ है। सगुण और निर्गुण कवियों के माध्यम से लोक जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का यथार्थ चित्रण किया गया है । भक्तिकालीन कवियों की कृतियों में उपलब्ध आंदोलनकारी स्वर को स्थापित करने वाली परिस्थितियों का विशिष्ट अध्ययन करके प्रयोग में लाया गया है । दक्षिण में आलवार भक्तों के भक्ति गीतों का संग्रह प्रबन्धम् माना जाता है। इसी ग्रंथ को आधार मान कर दक्षिण में भक्ति का प्रादुर्भाव माना गया है। इस अध्याय में दक्षिण की आरंभिक भक्ति के स्वतंत्र स्वरों की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया गया है। भक्ति के महत्व और आदर्श को

रेखांकित किया गया है । भक्त रामानुज एवं शंकराचार्य के भक्ति के पैमानों का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है । कबीर, सूर, तुलसी आदि अन्य भक्त कवियों के साहित्य की लोक चेतना पर विचार-विमर्श किया गया है । साथ ही भक्तिकालीन संप्रदायों के महत्व को उद्धृत करते हुए नाम-महिमा, स्तुति, कीर्तन, गुरू की महिमा, वैराग्य आदि भक्ति तत्वों का चिंतन करने का प्रयास प्रथम अध्याय में किया गया है ।

दूसरे अध्याय के अंतर्गत उन भक्तिकालीन प्रदर्शनकारी कलाओं के महत्व को जानने का प्रयास किया गया है जिन्होंने भक्त कवियों की रचनाओं को जन-समुदायों तक पहुंचाया है । इन कलाओं में संगीतकला, नृत्यकला, स्थापत्य कला एवं चित्रकला आदि का विशिष्ट महत्व दिखाई पड़ता है । दक्षिण भारत के अनुष्ठान पर मध्ययुगीन प्रदर्शनकारी कलाओं में नृत्य और संगीत नाटक का उपयोग दिखायी देता है । मंदिरों में भजन और नृत्य के माध्यम से ईश्वर की आराधना करने की परंपरा उल्लिखित है । जब कभी भारत के प्रदर्शनकारी कलाओं की चर्चा उठती है तो उसके साथ ही दुर्गा की प्रतिमा और नटराज– रूप में शिव का तांडव-नृत्य स्मरण हो आता है । ऐसे में, भारत की कलाओं में, विशेषतः प्रदर्शनकारी कलाओं की किसी एक रूप परंपरा की कल्पना असंभव है क्योंकि ये कलाएं शाब्दिक संप्रेषण पर आश्रित हैं भी और नहीं भी लेकिन भक्तिकालीन काव्य और कला में जो एक सम रूपता दिखाई देती है वह है भक्ति । भारत में भौगोलिक विविधता होने के कारण भी यहाँ विविध प्रकार की परंपराएं पाई जाती है । दक्षिण भारत और उत्तर भारत ; दोनों क्षेत्रों में कला के माध्यम से लोगों तक संदेश पहुंचाने का कार्य किया गया है । भक्ति की संवेदना का प्रसार प्रदर्शनकारी कलाओं के माध्यम से कैसे हुआ ? साथ ही मुगलकालीन संस्कृतियों का असर भारतीय जीवन शैली में किस तरह दिखाई पड़ता है इन बिंदुओं के माध्यम से कला प्रेमी मुगल शासकों की उपलब्धियों का ज़िक्र किया गया है ।

चित्रकला में, भारत के राजस्थानी चित्रशैली में, मुगल चित्रकारी का प्रभाव, भवन निर्माण की प्रक्रिया व मुगलों के प्रभाव,अध्ययन करने का प्रयास परिलक्षित है।

मैंने शोध–कार्य में भक्तिकालीन हिंदी रंगमंच के उद्भव और विकास की परंपरा अध्ययन किया है। संगीत– प्रधान नाटकों के बीज तो भरत मुनि द्वारा निर्देशित नाट्यधर्मी अभिनय में भी मौजूद हैं। तत्कालीन रंगमंचीय परंपरा मिथिला, नेपाल और असम में कायम दिखायी देती है। इस दौरान इन क्षेत्रों में हिन्दू शासकों ने रंगशालाएं बनाईं और राजकोष से नट– नटियों, कवियों की जीविका तथा पुरस्कारों के लिए उपयुक्त धनराशि का प्रबंध किया। इसके अतिरिक्त उत्सवों एवं विवाह संस्कारों के अवसर पर रंग-प्रदर्शन की व्यवस्था की। इससे दरबारी रंगमंच की परम्परा का निर्वहन हुआ। इसके पूर्व संस्कृत रंगमंच में रंग स्थापत्य का विवरण शास्त्रीय दृष्टिकोण से सर्वमान्य है परन्तु भक्तिकाल में अनुष्ठान पर रंगमंचीय व्यवस्था भी दिखाई देती है। दक्षिण भारत के मंदिरों में रंगशालाओं और नाट्यमण्डपों की परिकल्पना आज भी परिलक्षित है। इनके अतिरिक्त खुले मंच, जात्रा और जुलूस के माध्यम से होने वाले मंचन भी सर्वोपरि विलक्षण पद्धति के थे। अतः इस अध्याय के अंतर्गत भक्ति संवेदना का प्रचार-प्रसार कैसे हिन्दी रंगमंच के माध्यम से हुआ, रेखांकित किया गया है। रामलीला और रासलीला के लोक प्रचलित होने के कारणों पर गहन एवं गंभीर चिंतन किया गया है। अतः प्रयास रहा है कि सभी तथ्यों का प्रारूप दिया जा सके।

चौथे अध्याय में मध्यकालीन हिन्दी नाटक, लोक नाटक और शास्त्रीय नाटक का भक्ति आंदोलन से किस प्रकार का संबंध था – यह स्थापित किया गया है। साथ ही भाषा नाटक में उपस्थित प्रवृत्तियों का मूल्यांकन किया गया है। अध्याय के अंतर्गत भाषा नाटक और लीला

नाटकों के महत्व की चर्चा एवं विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। इन नाटकों के विकास एवं विस्तार का मूल्यांकन किया गया है । तत्कालीन हिन्दी प्राचीन भाषा नाटक परिजातहरणनाटकम् (उमापतिउपाध्याय,1325), गोरक्षविजय (विद्यापतिठाकुर), कालिदमनयात्रा (शंकरदेव), पत्नीप्रसाद (शंकरदेव), केलिगोपालनाट (1540,शंकरदेव), परशुरामविजयव्यायोग (गजपति श्रीकपिलेन्द्रदेव,1435), रूक्मिणीहरणनाटक (शंकरदेव), परिजातहरण (शंकरदेव), अर्जुनभंजनयात्रा (माधवदेव) आदि नाटकों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए इन नाटकों की विशेषताओं एवं कथानक में उपस्थित सामाजिकता को प्रस्तुत किया गया है । इन नाटकों की रंगमंचीय आवश्यकता का भी अध्ययन करने का प्रयास किया गया है ।

रंगमचीय तत्वों से समृद्ध रचनाओं में मौजूद भक्ति संवेदना को भक्ति आंदोलन में उद्धृत किया गया है । लोक समूह से जुड़ने वाले,लोकनाट्य और पारंपरिक नाट्य शैलियों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है । मध्यकालीन भारत की साहित्यिक गतिविधियों का अध्ययन करते हुए मालूम होता है कि ग्रामीण लोक-रूप प्रदेशीय साहित्य और मौखिक परंपरा ; दोनों में विद्यमान थी । इसकी पुष्टि समसामयिक रंगमंच के विशद् अध्ययन से होती है ।

अंतिम अध्याय में भक्ति की संवेदना में होने वाले परिवर्तन का उल्लेख किया गया है । साथ ही इस अध्याय में हिंदी रंगमंच के योगदान को उजागर किया है । उस समय के लोगों में भक्ति का विशेष प्रभाव था । लोगों के दिनचर्या की शुरुआत मंदिरों में भजन - कीर्तन या संत कवियों द्वारा निर्गुण-निराकार राम के गीतों के माध्यम से शुरू होती थी । तब उपासना करना आदि क्रियाओं के माध्यम से लोगों के भीतर भक्ति संवेदना का वर्चस्व था। ऐसे में लोक रंगमंच या लोकनाट्य शैलियों के माध्यम ने इस परंपरा को और अधिक प्रचलित बनाया । लीलानाटक

लोगों के अधिक निकट दिखाई पड़ते हैं । जनसाधारण की उपस्थिति से यह ज्ञात होता है कि राम और कृष्ण, दोनों विष्णु के अवतार लोगों के आदर्श थे । भक्ति के सगुण और निर्गुण , दोनों धाराओं में , इन दोनों चरित्रों का विशिष्ट स्थान एवं योगदान रहा है । भारतीय समाज में विविधता होने के कारण लोक शैलियों में भी विभिन्नता दिखाई देती है परंतु समाज की भक्ति धारा में कोई भी अंतर दिखाई नहीं देता है । मैंने अपने शोध में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन को आधार बनाते हुए गहन चिंतन किया है ।

आभार

मेरे शोध कार्य को पूरा करने में कई गुणी जनों का योगदान है । मैं अपने सभी शुभचिंतकों का तहेदिल से धन्यवाद करना चाहती हूं । सर्वप्रथम मैं अपने शोध-निर्देशक डॉ.रमण प्रसाद सिन्हा जी का धन्यवाद करना चाहूँगी जिन्होंने शोध-कार्य को पूरा करने में मेरी बहुत सहायता की है । मैं उनके निर्देशन और सुझावों से ही शोध-कार्य को सफलतापूर्वक पूरा कर सकी ।

मैं हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहूंगी हमारी शोध परामर्श समिति की सदस्या प्रो. गरिमा श्रीवास्तव जी का जिन्होंने शोध-संबधी बारीकियों से हमें अवगत कराया । साथ ही अपने ज्ञानवर्धक परामर्शों से शोध-कार्य में मदद की ।

मैं अपने अग्रजों,सहपाठीगण एवं अनुजों का भी शुक्रिया करना चाहूंगी जिन्होंने शोध –संबंधी पुस्तकों की खोज में मेरी सहायता की ।

मैं संगीत नाटक अकादमी और साहित्य अकादमी, दिल्ली के लाइब्रेरी के समस्त कर्मचारियों का धन्यवाद करना चाहूंगी जिन्होंने विश्वव्यापी बीमारी कोरोना काल में ऑनलाइन शोध-सामग्री उपलब्ध कराने में अपना संपूर्ण योगदान दिया है।

इसी कड़ी में मैं बिहार राष्ट्रभाषा परिषद प्रकाशन का भी धन्यवाद करना चाहूंगी जिन्होंने पटना में अपने पुराने स्टॉक से मुझे पुस्तकें उपलब्ध करीं।

मैं अपने माता-पिता का चरण-स्पर्श कर धन्यवाद करना चाहूंगी जिन्होंने मुझे इस मुकाम तक पहुंचाया। मैं अपने परिवार के सभी सदस्यों का शुक्रिया करना चाहूंगी जिन्होंने मुझे शोध-कार्य करने में सहयोग किया।

अंत में मैं अपने साथी अभिषेक विक्रम का धन्यवाद करना चाहूंगी जिन्होंने मेरे शोध-कार्य का प्रूफ रीड किया है।

प्रथम अध्याय

भक्ति आंदोलन का परिप्रेक्ष्य–

भक्ति आंदोलन के उद्भव के कारणों एवं परिस्थितियों पर विचार

भारतीय साहित्य में भक्ति – आंदोलन मध्यकालीन भारत की महत्वपूर्ण घटना है। इसके सम्यक् आकलन के लिए 'भक्ति' के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। भक्ति मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों में से एक प्रमुख प्रवृत्ति है। शांडिल्य भक्ति–सूत्र के अनुसार शांडिल्य ने ईश्वर में परम अनुरक्ति को भक्ति कहा है–सा परानुक्तिरीश्वरे।[2] नारद उसे परमात्मा में परम प्रेम का होना कहते हैं –'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'[3]। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि परम सत्ता के प्रति

---

[2]मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का सामाजिक विवेचन,डॉ सुमन शर्मा,विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी,1974पृ सं - 35

[3]वही,नारद भक्ति - सूत्र,सूत्र - 2 पृ सं 35

व्यक्ति का अनुराग ही भक्ति है। भक्ति मनुष्य के हृदय की परम विभूति है जिसके रस या आनन्द के बिना वह पल भर भी नहीं रह सकती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी भक्ति को 'धर्म की रसात्मक अनुभूति' की संज्ञा प्रदान की है। यहाँ धर्म में 'धृ' धातु है जिसका अर्थ है 'धारण करना' अर्थात् जो किसी पदार्थ या व्यक्ति को धारण करता है। उसे धर्म कहा जाता है। धर्म का रसात्मक, भावात्मक या आनन्दात्मक पक्ष 'भक्ति' से अभिहित किया जाता है। इसका तात्पर्य है कि भक्ति से व्यक्ति आनन्द की प्राप्ति करता है और धर्म की आनंदप्रद धारणा के अनुभव को 'भक्ति' कहा जाता है। धर्म का बौद्धिक या प्रज्ञात्मक पक्ष नहीं, अनुभूत्यात्मक रूप 'भक्ति' कहलाता है। मानव–हृदय की परम विभूति को ही दो अभिधान प्रदान किये गये हैं। प्रथम,'परम अनुराग या अनुरक्ति'। दूसरा, 'रसात्मक अनुभूति' ही है।भक्ति में रागात्मकता या भावनात्मकता की प्रधानता होती है, बौद्धिकता की नहीं। इसी को केन्द्र में रखकर उक्त परिभाषाएं दी गई हैं। जब कभी भक्ति, भक्त कवि एवं भक्ति-आंदोलन की बात शुरू होती है तो पूर्व मध्यकालीन काव्य रचना के बिम्ब मानस पटल पर प्रकट होते हैं। भक्तिकालीन कवियों द्वारा अपने आराध्य के प्रति जो एकनिष्ठता, अनन्यता या प्रपन्नता कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ, दादू आदि में परिलक्षित होती है, वह अन्य समय के कवियों में अपेक्षाकृत कम दिखाई पड़ती है। भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है - 'जाते बेगि द्रवऊँ मै भाई। सो सम भगति भगत सुखदाई'[4]। भक्ति में यदि गंतव्य, लक्ष्य या आलम्बन परिवर्तित हो जाए तो भाव का रूप भी बदल जाता है। जो भाव धारा पुत्र व मित्र के प्रति प्रवाहमान होकर प्रेम या श्रृंगार कही जाती है, वही ईश्वरोन्मुखी होकर 'भक्ति' संज्ञा प्राप्त करती है। आलंबन–भेद से एक रति लौकिक–

[4]'जाते बेगि द्रवऊँ मै भाई। सो सम भगति भगत सुखदाई (आराधक का प्रेम आराध्य को द्रवीभूत कर देता है। यह द्रवणशीलता भक्त को आनन्द प्रदान करने वाली होती है) रामचरित मानस,तुलसीदास,अरण्यकांड 15/2,गीताप्रेस,गोरखपुर,संवत् 2000 विक्रम.पृ.सं-334

पारलौकिक विशेषण ग्रहण कर लेती है। भक्ति की आनन्दमयता का रहस्यय ही है कि भक्त को अपना कोई भाव न त्यागना पड़ता है और न दबाना उसे केवल लौकिक आलंबन से पारलौकिक आलंबन की ओर जाना होता है। मनुष्य को लौकिक भाव–भोग में जो सुख उपलब्ध होता है, उसे वह कभी नहीं छोड़ना चाहता लेकिन दूसरी ओर लौकिक सुख क्षणभंगुर है। उससे व्यक्ति को कभी–न–कभी वंचित होना ही पड़ता है। सुख को स्थायित्व प्रदान करने या आनन्द में परिणत करने का सर्व–सुलभ साधन 'भक्ति' है।

विद्वानों ने ईसा की 14वीं से 16वीं शताब्दी के मध्य भाग अथवा 17वीं शताब्दी के प्रारंभिक युग को 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में 'भक्तिकाल' कहा है। इस युग में मुख्यतःभागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति - आंदोलन का आरंभ हुआ था। भक्ति युग की लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे–धीरे लोक–प्रचलित भाषाएं भक्ति भावना की अभिव्यक्ति का आधार बन गईं। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत धार्मिक भावना व दार्शनिक चिंताधारा की आनुषंगिक उपलब्धियाँ हैं। इन सब का क्षेत्र विशाल मानव समाज है जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवनयापन करता है। इस युग में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। देवी–देवताओं तथा देवालयों की स्थापना द्वारा लुप्त प्रायःधर्म–व्यवस्था को पुनर्जीवित किया गया। यह वह समय था जब वैष्णव धर्म को विशेष महत्व मिला। इसके साथ ही स्मृति–ग्रंथों में लोक प्रचलित विश्वासों तथा मान्यताएं भी प्रकाश में आईं। भक्ति साहित्य की काव्य रचनाओं एवं पौराणिक कथाओं में धर्म विशेष का लौकिकीकरण, अवतारवाद की स्वीकृति, देवालयों में देव- प्रतीकों की पूजा, तीर्थादि की स्थापना और धर्म के भारतीय स्वरूप का संरक्षण किया गया। इन काव्य रचनाओं का मध्यकालीन हिंदू जीवन–प्रणाली गहरा प्रभाव पड़ा। रचनाकारों ने समन्वय- साधना की प्रवृत्ति को पुनर्जागृत किया। भक्तिकालीन साहित्य में मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, अवतारवाद, ब्राह्मण–रक्षा, धर्म शास्त्रों का सम् और कर्म–फल में विश्वास

आदि धार्मिक रूप मौजूद थे। इन धार्मिक रूपों पर लोगों का पूर्ण विश्वास था। इसके अतिरिक्त साधु–संन्यासियों का सम्मान और स्वर्ग–नरक,श्राद्ध–पिंडदान आदि क्रियाओं का भी उल्लेख इस युग के साहित्य में हुआ है। इनका आधार पौराणिक कथाएं हैं। मध्यकालीन हिंदू समाज को हम दो पक्षों में देख सकते हैं –एक वे हैं जो शास्त्रों के समर्थक थे और दूसरे वह जो परंपरागत विश्वासों, मान्यताओं अथवा स्वानुभूति के पक्षधर थे। भगवान और मानव के बीच संबंध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति, कुल, देशकाल और परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना 'धर्म' है। इस तरह धर्माचार और नैतिकता समाजपरक है। धर्म साधना व्यक्तिनिष्ठ। साध्य और साधक का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है। भगवान के सगुण और साकार रूप का विकास देवाराधन, संस्कार मूलक क्रिया और नित्य–नैमित्तक कर्म से हुआ है। इस काल में हिंदू–समाज की बृहत्तर इकाई गांव था और लघुतर इकाई परिवार, जो जीविका के सम्मिलित साधनों से युक्त था। मध्यकालीन धर्मों में हिंदू, जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी व ईसाई प्रमुख थे जिनका संपर्क–द्वार उन्मुक्त था। लोक विश्वासों पर आधारित लोकधर्म की निष्ठा किसी धर्म विशेष के प्रति न थी। इस प्रयास में वैष्णव धर्म ने भागवत संप्रदाय के रूप में नेतृत्व किया और व्यापक प्रभाव डाला जिसके फलस्वरूप भक्ति–आंदोलन का सूत्रपात हुआ।

'भारतीय धर्म साधना के इतिहास में भक्तिमार्ग का विशिष्ट स्थान है यद्यपि संहिता भाग के रचना काल तक उसके अस्तित्व का कोई परिचय नहीं मिलता। वैदिक युग में यज्ञ अथवा कर्मकांड में किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने के लिए यज्ञादि का

आयोजन करते थे ।'[5]भक्ति काल में वैदिक युग की भाँति भक्ति – परंपरा का विकास नहीं हुआ लेकिन दक्षिण भारत में पृथक भक्ति–परंपरा का सूत्रपात हो चुका था । दक्षिण भारत में 5वीं-6वीं शताब्दी से लेकर 9वीं शताब्दी तक का काल इतिहास में बहुत अधिक महत्वपूर्ण काल है क्योंकि इसी काल में, दक्षिण में भक्ति–आंदोलन का प्रादुर्भाव हुआ । यही भक्ति–आंदोलन परवर्ती काल के उस व्यापक मध्ययुगीन भक्ति–आंदोलन का भी उद्गम स्थान है जिसने संपूर्ण भारत के धार्मिक वातावरण को प्रभावित किया और संपूर्ण भारतीय भाषाओं में विपुल भक्ति–साहित्य के निर्माण की भाव भूमि तैयार की । बाबू श्यामसुंदर दास ने भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग भी कहा है । इस युग ने दक्षिण के प्रसिद्ध वैष्णव भक्त कवि आलवारों और शैव संत कवि नायनमारों को जन्म दिया जिनकी भक्तिपरक रचनाओं ने दक्षिण भारतीय जन-जीवन में एक नवीन चेतना एवं स्फूर्ति का संचार कर उसे रससिक्त कर दिया । यह युग भक्ति के भावावेश का युग था । इन आलवार भक्तों ने भक्ति का संदेश संपूर्ण दक्षिण भारत के कोने-कोने में पहुंचाया । यह युग भारतीय धार्मिक जीवन में एकदम नवीन मोड़ लाने वाला था जिसका प्रभाव आज भी विद्यमान है । भारतीय आलवारों के द्वारा भक्ति – मार्ग को जो नया रूप दिया गया उसी को 'वैष्णवभक्ति–आंदोलन' नाम दिया गया है और यही आंदोलन संपूर्ण भारत में भक्ति–आंदोलन के नाम से प्रचलित हुआ । आलवार भक्तों का भक्ति–आंदोलन यथार्थ रूप में जन–आंदोलन था क्योंकि ये भक्तिकाव्य की पद–रचनाकर के सामान्य कवियों की तरह अपने घरों में पड़े नहीं रहे । इन्होंने खुले क्षेत्र में घूम–घूम कर लोगों के बीच भक्ति का प्रचार कर एक नवीन जन–जागरण के ऐसे वातावरण का सृजन किया जिसमें भक्ति का स्वर सबसे ऊँचा था । भक्ति–आंदोलन का नेतृत्व करने वाले आलवार भक्तों ने स्वयं अपने जीवन–आदर्शों के बल पर वैष्णव भक्ति के नवीन रूप को जनता–जनार्दन के सम्मुख रखा । कहना चाहिए कि उन्होंने भक्ति का राष्ट्रीयकरण कर दिया जिससे उस पर केवल कुछ ही लोगों का एकाधिकार न होकर

---

[5]हिन्दी साहित्य का इतिहास,संपादक डॉ नगेन्द्र,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,2008 पृ. सं. - 81

सबका समान अधिकार हो गया । आलवारों द्वारा संचालित भक्ति–मार्ग को जन–आंदोलन की संज्ञा देने का मुख्य कारण यह भी है कि उन्होंने भक्ति–भावना के उदार तत्त्वों के साथ, संगीत का भी सहारा लेकर उसे सार्वजनीन और सार्वभौमिक बना दिया । साथ ही भक्ति पदों को गा–गाकर,आत्म–विभोर होकर,अनुभूति की वस्तु बना दिया । भक्ति–आंदोलन को क्रांति के रूप में देखने से पूर्व यह मानना आवश्यक है कि यह आंदोलन एक सामाजिक–सांस्कृतिक आंदोलन होने के साथ–साथ,कलाएं व साहित्य में प्रस्तुत आमजन एवं जनसाधारण समाज का आंदोलन है । यह आंदोलन द्वारा आमजनता से और आम जनता के लिए निर्मित आंदोलन है । संक्षेप में कहा जाए तो इस आंदोलन ने अतीत को पुनर्जीवित (जिसने पुनःजीवन प्राप्त किया हो) करके,पतनोन्मुख धर्म को नया जीवन प्रदान करने के लिए व्यग्रता पूर्ण प्रयास किए । वैदिक मंत्रों का पाठ, यज्ञों की परंपरा तथा तांत्रिक पंथों की परंपरा को फिर से जीवित किया । इसी दौरान नई सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने नए विचार एवं नई धार्मिक अवधारणाओं को जन्म दिया ।

यूरोप के महान सुधार–आंदोलन का उल्लेख करते हुए एंगेल्स ने लिखा था: “मध्ययुग ने धर्म–दर्शन के साथ विचारधारा के अन्य सभी रूपों दर्शन, राजनीति व विधि–शास्त्रों को जोड़ दिया और इन्हें धर्म–दर्शन की उपशाखाएँ बना दिया । इस तरह उसने हर सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन को धार्मिक जामा पहनने के लिए विवश किया । आम जनता की भावनाओं को धर्म का चारा देकर और सब चीज़ों से अलग रखा गया इसलिए कोई भी प्रभावशाली आंदोलन आरंभ करने के लिए अपने हितों को धार्मिक जामे में पेश करना आवश्यक था ।”[6]यह कथन 14वीं और 17वीं शताब्दियों के काल के भारत पर भी समान रूप से लागू

[6]मध्यकालीन साहित्य विमर्श (लेख संग्रह),सं. सुधा सिंह,आनन्द प्रकाशन,कोलकता, 2004 पृ.सं. -12

होता है । भारत में उभरे भक्ति–आंदोलन का मूल आधार भगवान विष्णु और उनके अवतार राम व कृष्ण की भक्ति थी । परंतु यह शुद्ध रूप से धार्मिक-आंदोलन नहीं था अर्थात् भक्ति-आंदोलन के माध्यम से लोगों के भीतर संप्रभुता और मानसिक स्वतंत्रता के एहसास को जगाने का प्रयास भी था । वस्तुतःइस आंदोलन में व्याप्त थी सामाजिक–आर्थिक यथार्थ की आदर्शवादी अभिव्यक्ति । सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने राष्ट्रीय नवजागरण का रूपधारण किया तो सामाजिक विषय वस्तु में वे जाति–प्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरूद्ध अत्यंत महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे । भक्ति–आंदोलन ने भारत की विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों , राष्ट्रीय भाषाओं और उनके साहित्य को अभिवृद्धि का मार्ग दिखाया । इस आंदोलन का केंद्र ऊँच–नीच जाति का भेद मिटाना बना । भक्त कवियों का मानना था कि जब ईश्वर के समक्ष सभी व्यक्ति एक समान हैं तो समाज में जाति के आधार पर भेदभाव क्यों ? इससे जाति प्रथा एवं पुरोहित वर्ग के विरूद्ध संघर्ष करने वाली आम जनता ने व्यापक रूपों से अपने चारों ओर के लोगों को एकजुट किया । इस प्रकार मध्ययुग के भक्ति–आंदोलन ने न केवल विभिन्न भाषाओं व विभिन्न धर्मों वाले जन समुदायों की एक सुसंबद्ध भारतीय संस्कृति के विकास में मदद की बल्कि सामंती दमन और उत्पीड़न के विरूद्ध संयुक्त संघर्ष चलाने का मार्ग भी प्रशस्त किया ।

मध्यकालीन भक्ति–आंदोलन ने लगभग पूरे देश को प्रभावित किया । उसका धार्मिक सिद्धांतों, धार्मिक अनुष्ठानों, नैतिक मूल्यों और लोकप्रिय विश्वासों पर ही नहीं बल्कि कलाओं और लोक-संस्कृति पर भी निर्णायक प्रभाव पड़ा । सांस्कृतिक क्षेत्रों में- क्षेत्रीय भाषाओं, संगीत, नृत्य, चित्रकला, शिल्पकला इत्यादि के विकास का भक्ति–आंदोलन से निकट संबंध रहा है । भक्ति–भावना को देशव्यापी बनाने में एवं लोगों के बीच प्रचलित करने के लिए कला और संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए ई.एम.एस.नम्बूदिरीपाद कहते हैं कि 'इस सिलसिले में यह समझना होगा कि संस्कृति का

निर्माण जनता करती है । दुनिया में जो कुछ भी सुन्दर है, शक्तिशाली है, मनुष्य जाति के सामूहिक श्रम की उपज है । मानव समाज में जो कुछ भी अच्छा है , महान है , सुन्दर है , शक्तिशाली है, जिसमें संस्कृति भी शरीक है, मेहनत करने वालों ने पैदा किया है लेकिन संस्कृति का निखार, सुधार, विकास और परिष्कार प्रभुत्वशाली वर्गों से संबद्ध व्यक्ति या व्यक्ति–समूह करते हैं ।'[7] और डॉ मदन गोपाल गुप्त भक्ति–आंदोलन के बारे में कहते हैं कि 15वीं शती के प्रारंभ में, उत्तर भारत में भक्ति–आंदोलन के कारण कला के क्षेत्र में अपूर्व प्रेरणा का संचार हुआ जिसके फलस्वरूप आलोच्य युग ललित कलाओं के दृष्टिकोण से कलात्मक पुनर्जागरण तथा उसके माध्यम से सांस्कृतिक समन्वय का काल माना गया ।[8] भक्ति-आंदोलन के सामाजिक विकास के दौर में बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि जैसे नये सामाजिक व धार्मिक आंदोलन सामने आए हैं जो परंपरागत, स्थापित मूल्य–व्यवस्था के विरोधी और लोक–चेतना के दबाव के सूचक माने जाते हैं । प्रारंभिक दौर में इन सभी आंदोलनों को दमनकारी यंत्रणा का कोपभाजन बनना पड़ा परंतु जब इन आंदोलनों की वैचारिकता ने जन–जीवन में प्रवेश कर, एक भौतिक शक्ति का रूप धारण कर लिया । तब यह आंदोलन ऐतिहासिक घटना के रूप में घटित हुआ । भक्ति–आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में जार्ज ग्रियर्सन का मत है कि हम अपने को एक ऐसे धार्मिक – आंदोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारत वर्ष ने कभी देखा था । ग्रियर्सन का अनुमान था कि दूसरी- तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई,मद्रास प्रेसिडेंसी के कुछ हिस्सों में आ बसे थे । रामानुजाचार्य को इन्हीं ईसाई भक्तों के भावावेश और प्रेमोल्लास की धार्मिक भावना का परिचय मिला था जो उत्तर भारत में

---

[7]वही,पृ. 104

[8],वही,पृ. सं.- 123

प्रचारित–प्रसारित हुआ । इसी आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि उतर भारत का भक्ति आंदोलन ईसाईयत की देन है ।

साहित्यिक इतिहास दृष्टि के संदर्भ में विचार करें तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आंदोलन के उद्भव का मुख्य कारण हिन्दुओं पर मुसलमानों के अत्याचार को माना है । उन्होंने विस्तार से सिद्ध करते हुए कहा कि हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में भक्ति–आंदोलन अस्तित्व में आया । आगे चलकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ग्रियर्सन और शुक्ल की बातों का खण्डन करते हुए कहा कि 'भक्ति आंदोलन का मूल प्रेरक दक्षिण का वैष्णव मतवाद है।'[9] इन्होंने बताया कि भक्ति आंदोलन न तो अचानक बिजली की चमक की तरह फैला और न ही वह ईसाई मत की देन था । इसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघ-खण्ड एकत्र हो रहे थे फिर भी ऊपर–ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि उसका प्रादुर्भाव एकाएक हो गया । इसका मुख्य कारण उस समय लोक–प्रवृत्ति का, ठोस शास्त्र सिद्ध आचार्यों एवं पौराणिक ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना था । असल में शास्त्र सिद्ध आचार्य दक्षिण वैष्णव थे । सर्वसम्मत तथ्यों के अनुसार यह बात स्पष्ट है कि भक्ति आंदोलन दक्षिण भारत से आया ।

भक्ति – आंदोलन का प्रादुर्भाव आलवार भक्तों के समय से प्रज्वलित होता है पर इसका आलोक देश के अन्य क्षेत्रों में वैष्णवाचार्यों के आविर्भाव से विस्तृत होता है । आलवार भक्तों का समय ईसवीं की पांचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक है । भक्ति–मार्ग को देशव्यापी बनाने के लिए आलवारोत्तर काल में वैष्णव आचार्यों ने, (विशेष कर रामानुजाचार्य ने) आलवार–भक्ति का शास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ कर दिया । इस प्रयत्न में अनेक संप्रदायों का जन्म हुआ जिन्होंने अपने–अपने क्षेत्र में भक्ति–मार्ग को प्रतिष्ठित कर उसे लोकप्रिय बना दिया ।

---

[9]हिन्दी साहित्य की भूमिका,हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय,बंबई पृ सं. 54

कई इतिहासकार मध्ययुग का प्रारंभ 10वीं शताब्दी से मानते हैं । उसकी अवधि सत्रहवीं शताब्दी तक है । आलवारोत्तर काल ही भक्ति–साहित्य के इतिहास में 'मध्यकाल' कहलाता है । मध्ययुगीन दक्षिणी भारत में वैष्णवभक्ति–आंदोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा था जबकि वहीं उत्तर भारत में पराधीनता की जंजीरों में जकड़कर पतित धार्मिक अवस्था में था । वहाँ भी सुधार की आवश्यकता हुई । जब परिस्थितियां तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में बहुत ही विकट हो गईं तब उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन का स्वाभाविक रूप से स्वागत हुआ । उत्तर में दक्षिण के इस सर्व–सुलभ, सार्वजनीन व सार्वभौमिक उदार वैष्णव भक्ति–आंदोलन को जनआंदोलन का व्यापक रूप देने के लिए जन–भाषा हिंदी के माध्यम से भक्ति–मार्ग का प्रचार कियाग या । यह कार्य स्वामी रामानन्द ने किया । इस प्रकार रामानन्द ने उत्तर में वैष्णव भक्ति का द्वार सब के लिए खोल दिया और दक्षिण के वैष्णव भक्ति–आंदोलन ने सभी आकर्षक तत्त्वों का समावेश अपने युग की आवश्यकता के अनुसार किया।

मध्ययुगीन भक्ति–आंदोलन का प्रमुखस्रोत 'प्रबन्धम्'

आलवारों का 'प्रबन्धम्' वैष्णव भक्ति–आंदोलन तथा वैष्णव भक्ति–साहित्य के इतिहास में एक बहुमुखी प्रभावशाली ग्रन्थ सिद्ध हुआ है । मध्ययुगीन भक्ति–आंदोलन और वैष्णव भक्ति–साहित्य के मूल ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' ने परवर्ती युग के साहित्य को अधिक प्रभावित किया । 'प्रबन्धम्' का प्रभाव परवर्ती युग में तमिल–प्रदेश के सामाजिक,धार्मिक जीवन तथा भक्ति–साहित्य पर तो व्यापक रूप से पड़ा ही । यही नहीं, तमिल–प्रदेश की सीमाओं को पाकर भी 'प्रबन्धम्' के भक्ति–दर्शन ने वैष्णव आचार्यों को बहुत हद तक प्रभावित करते हुए, उनके द्वारा मध्ययुग में वैष्णव भक्ति–आंदोलन को देशव्यापी बना दिया । परवर्ती युग में विविध क्षेत्रों पर 'प्रबन्धम्' का प्रभाव

पड़ा । वैष्णव भक्ति–भावना का रूप प्रदेश–विशेष की लोक–रुचि तथा परिस्थितियों के अनुसार भक्ति–काव्य में स्थिर हुआ है । यही कारण है कि किसी युग में, किसी प्रदेश में, वैष्णव के अंतर्गत राम–भक्ति की प्रधानता रही तो किसी में कृष्ण–भक्ति की प्रधानता रही है । किसी युग में दास्य–भाव की भक्ति–भावना युगानुकूल रही तो किसी में मधुरोपासना परंतु वैष्णव भक्ति के ये सारे रूप 'प्रबंधम्' में उपलब्ध हैं।

'प्रबन्धम्' कई दृष्टियों से भक्ति–आंदोलन का मूल ग्रन्थ माना गया है । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से यहाँ मध्ययुगीन भक्ति–साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्त्वों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है– 1. सामान्य तत्त्व 2. विशिष्ट तत्व । सामान्य तत्त्वों के अन्तर्गत उन तत्त्वों को लिया जा सकता है जिन्होंने सामान्य रूप से मध्ययुगीन भारतीय भक्ति–साहित्यको प्रभावित किया । विशिष्ट तत्त्वों के अंतर्गत हम मध्ययुगीन कृष्ण–भक्ति और राम–भक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले तत्त्वों को विशेष रूप से ले सकते हैं । प्रबन्धम् में परवर्ती भक्ति–साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित करने वाले निम्नलिखित प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं–

1.भक्ति का सर्वोपरि महत्व, 2. नाम–महिमा 3. स्तुति 4. शरणागति अथवा प्रपत्ति 5. गुरु–महिमा 6. सत्संग 7. वैराग्य।

भक्ति का सर्वोपरि महत्व भारत वर्ष में अति प्राचीन काल से ही संसार के दुःख से छूटकर मुक्ति का लाभ पाने के लिए तीन प्रधान मार्ग प्रचलित रहे हैं:ज्ञान–मार्ग, कर्म–मार्ग और भक्ति - मार्ग । आलवार भक्तों के समय तक ज्ञान–मार्ग जन–साधारण के लिए असाध्य जान पड़ने लगे । आलवार भक्तों ने भक्ति–मार्ग को इतना आशावादी और सुगम बना दिया कि लोगों ने इसे बड़ी सरलता से अपना लिया । यहाँ तक कि कर्म और ज्ञान–मार्गों में भी भक्ति को साधन रूप प्रविष्ट किया है । 'कर्म और भक्ति, ज्ञान के साथ साधन–रूप भक्ति और योग के साथ गुरु की श्रद्धा–रूप

। इस प्रकार अन्य मार्गों में भी भक्ति का समन्वय हुआ । स्वतंत्र रूप से तो भक्ति–मार्ग इतना प्रचलित हुआ कि इसकी लहर ने दक्षिण से उठ कर संपूर्ण उत्तरी भारत को आप्लावित कर दिया ।'[10]अतःआलवारों के अनुसार भक्ति साधन ही नहीं साध्य भी है । स्पष्ट है कि आलवारों ने भक्ति को सर्वोपरि महत्व दिया है । मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी भक्ति को ही सर्वाधिक प्राधान्य प्रदान किया है ।

नाम–महिमा:भक्ति के साधन के अनेक नामों में से किसी भी नाम के स्मरण, कीर्तन तथा श्रवण का आलवार भक्तों ने भारी महत्व बताया है । आलवार भक्तों को दृढ़ विश्वास है कि सहस्त्र नामों में से किसी भी एक का नाम सदा मन में स्मरण करने से जिह्वा से उसका **कीर्तन**–गायन करने से और उसका कानों से श्रवण करने से मन, वाणी और कर्म द्वारा होने वाले समस्त पापों का क्षय हो जाता है । मध्यकालीन भक्ति–साहित्य में भी भगवान नाम की अनंत महिमा की प्रतिष्ठा हुई है । निर्गुण मार्ग के संत तथा सगुण मार्ग के भक्त ;दोनों ने मुक्त कंठ से ईश्वर की अमोघ शक्ति का वर्णन किया है । डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'मध्ययुग के भक्तों में भगवान नाम का माहात्मय बहुत अधिक है । मध्ययुग की समस्त धर्म–साधना को 'नाम की साधना' कहा जा सकता है । चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों या निर्गुण मार्ग के, नाम–जप के बारे में किसी को सन्देह नहीं । इस अपार भव सागर में एकमात्र नाम नौका रूप है।'[11]

स्तुति:भगवत्–स्तवन भक्ति का ही एक प्रधान अंग माना गया है । स्तुति की परंपरा तो वैदिक ऋचाओं से मिलती है । ईश्वर का नाम, गुण, माहात्म्य, लीला, धाम तथा भगवद्-भक्ति का यश,

---

[10]अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय,डॉ दीन दयाल गुप्त,नागरी प्रचारणी सभा,काशी,वाराणसी,प्रथम संस्करण संवत् 2024 विक्रम. पृ सं - 513

[11]मध्यकालीन धर्म - साधना,डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी,साहित्य भवन,लिमिटेड,इलाहाबाद,स1970 पृ सं. - 5

प्रेम और श्रद्धा के साथ कथन, स्तुति, उच्च स्वर में पाठ तथा गान 'कीर्तन' कहलाता है । आलवारों के समस्त पद एक प्रकार से स्तुति–गीत ही हैं। आलवारों के स्तुति–गीतों की एक बड़ी विशेषता उनमें संगीत का समावेश है । संगीत का प्रभाव विश्वव्यापी है और आलवार गीतों ने मध्ययुगीन भक्त कवियों को बहुत ही प्रभावित किया है। मध्ययुग के हिंदी कृष्ण–भक्त कवियों ने भीरु गीतात्मक शैली को अपनाया और भगवत् – स्तवन के गीत प्रस्तुत किए ।

शरणा गति या प्रपत्ति: आलवारों के अनेक पदों में 'शरणा गति तत्त्व' पर विशेष जोर दिया गया है। आत्म दोषों पर पश्चाताप प्रकट करना, अपनी आश्रयहीनता का अनुभव करना, भगवान को एक मात्र सहारा समझना और उद्धार की प्रार्थना करते रहना ही प्रपत्ति या शरणा गति है । मध्ययुग के भक्ति–साहित्य में श्री वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गों ने भी आलवारों की अनुकंपा वाली प्रपत्ति की मान्यता को स्वीकार किया।

गुरू महिमा: आलवार भक्तों ने गुरू को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने साथ ही साथ मनुष्य की पहचान जाति से न करके, भक्ति और ज्ञान के आधार पर मानकर,जाति–भेद मिटा ने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया है। मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी गुरू–भक्ति की आवश्यकता बताई है और जाति–भेद मिटाने का संदेश दिया है।

सत्संगःभक्ति की उत्पत्ति एवं विकास के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करने वाला अद्वितीय साधन माना जाता है। मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी अपने अनेक पदों में सत्संग के महत्व को प्रकट किया है। हिंदी के अष्टछापी कवियों ने भी सत्संग–महिमा, भक्त-भगवान की एकता तथा हरि–विमुख–संग–त्याग के भावों को प्रकट करने वाले अनेक पद लिखे हैं।

वैराग्य: भक्ति–पथ के लिए सांसारिक विषयों तथा उन विषयों से संबंध रखने वाले पदार्थों का त्याग करके उनके प्रति वैराग्य–भाव रखना परम आवश्यक है । आलवारों के पदों में,वैराग्य के अनेक साधनों में, निम्नलिखित विषयों का विशेष रूप से निरूपण हुआ है– (क) पंचेन्द्रियों पर विजय (ख) नारी के मोहक रूप की निंदा (ग) अर्थ – निंदा और (घ) शरीर की नश्वरता का बोध । मध्ययुगीन भक्त कवियों ने भी वैराग्य पर ज़ोर दिया है और उसे अध्यात्म पथ के पथिक के लिए अनिवार्य साबित किया है ।

मध्यकालीन संप्रदायों के आचार्यों के मत

भक्ति के स्त्रोत को दक्षिण से उत्तर की ओर लाने का श्रेय आचार्य रामानन्द को दिया जाता है । वे भक्ति की गंगा को दक्षिण से लाकर उत्तर भारत की विस्तीर्ण भूमि पर प्रवाहमान करने वाले भगीरथ कहे जाते हैं । रामानन्द, मध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, वल्लभ आदि आचार्यों के प्रयासों से तत्कालीन देशज भाषाओं के साहित्य –प्रांगण भक्ति की सुरभि से संपन्न होने लगे । दक्षिण से उत्तर तक भक्तों और आचार्यों के माध्यम से भक्ति–भावना के प्रचार–प्रसार को भक्ति आंदोलन कहा गया । साहित्यिक इतिहास में माना जाता है कि शंकराचार्य के मत के विरूद्ध भक्ति–आंदोलन का प्रादुर्भाव हुआ है । इस बात को स्पष्ट करने से पहले शंकराचार्य के भक्ति मत को जानना आवश्यक है ।

शंकराचार्य का मत

शंकराचार्य का सर्वविदित सारभूत सिद्धांत यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या । जीव ब्रह्म ही है, अन्य नहीं–

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मै वनाS परः।'

शंकराचार्य की दृष्टि में निर्गुण ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है । वे इसी सत्ता को अखण्ड, अव्यय, अगोचर एवं सत्य मानते हैं-जगत् एक भ्रम है,अध्यास है,विवर्त्त है।

'आह कोSय मध्यासो ना मेति । उच्य ते स्मृति रूपःपरत्र पूर्व दृष्टावभास'[12]

शांकर मत के अनुसार सत्ता को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक । रजत प्रातिभासिक एवं शुक्ति या सीप व्यावहारिक सत्ता कहा जा सकता है तथा ब्रह्म को पारमार्थिक सत्ता कहा जा सकता है । सामान्य ब्रह्म अविद्या जन्य होता है-जैसे सीप में चाँदी का भ्रम । इसी प्रकार जगत रूपी भ्रम माया जन्य है । सामान्य या व्यक्तिगत भ्रम के विषय में जिसे अविद्या कहा जाता है उसी को विश्व रूप भ्रम के संबंध में 'माया' की संज्ञा प्रदान की जाती है । दूसरों शब्दों में कहा जा सकता है कि जैसे सीप में चाँदी की भ्रांति अविद्या या अज्ञानता के कारण होती है वैसे ही ब्रह्म में जगत् का अध्यास माया के कारण होता है । चाँदी भ्रम है, असत्य है, अवास्तविक है और सीप व्यावहारिक दृष्टि से वास्तविक या सत्य कही जा सकती है । शुक्ति या सीप की वास्तविकता भी ब्रह्म के संदर्भ में भ्रम ही है ।

जीव–ब्रह्म के बीच माया या अविद्या का आवरण पड़ा है । इस आवरण के हटते ही जीव ब्रह्म हो जाता है । स्वरूप–स्थिर हो जाता है । 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्व मसि' जैसे महावाक्यों का अर्थ यही है । जीव और ब्रह्म का द्वैत अविद्या या अज्ञान से उद्‌भूत है । अज्ञान के दूर हो जाने पर यह द्वैत तिरोहित हो जाता है । ज्ञान प्राप्त होते ही जीव और ब्रह्म की अद्वैतता प्रकट हो जाती है । जीव–ब्रह्म की इस एकता के सिद्धान्त को 'अद्वैतवाद' कहा जाता है ।

---

[12] 'अध्यास' क्या है अर्थात् 'अध्यास' का क्या लक्षण है ? यह स्मृतिरूप या स्मृति के समान संस्कार - जन्य ज्ञान है । यह अन्यत्र या अन्य वस्तु में पूर्वदृष्ट अर्थात् पहले देखी हुई वस्तु का अवभास (मिथ्या ज्ञान) है। पूर्वदृष्ट (रजतादि) का परत्र (शुक्त्यादि में) स्मृतिरूप या स्मृति के सदृश असन्निहित विषयक तथा बाधित होने वाला अवभास (मिथ्या ज्ञान) 'अध्यास' कहा जाता है । जैसे स्मृति में स्मर्यमाण विषय असमीपवर्ती होता है,वैसे 'अध्यास' असन्निहित विषयक होता है।ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्,प्रथम अध्याय,प्रमाणभाष्य (उपोद्घात),पृ. 12

शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद की परिकल्पना की। वे जीव - ब्रह्म का अभेद नहीं मानते। जीव परमात्मा का अंश होने से क्षूद्र, अणु, अल्पज्ञ है जबकि ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वव्यापक व अनंत है। जीव एवं ब्रह्म की एकता उन्हें किसी स्थिति में स्वीकार्य नहीं है। मुक्ति मिल जाने पर भी जीव ब्रह्म की कामना और आनंदानुभव करता रहता है। यहाँ भी शंकराचार्य से उनका पार्थक्य स्पष्ट है। रामानुज माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। माया ईश्वराधीन है। अज्ञानता का आश्रय जीव है। शंकर की दृष्टि में माया और अज्ञान वस्तुतः एक ही पदार्थ के भिन्न–भिन्न नाम हैं परंतु रामानुज दोनों को भिन्न- भिन्न मानते हैं। अज्ञानता जीवात्मा को सांसारिक माया-जाल में फांस लेता है। इसी से जीवात्मा-जगत् अनेक कष्ट भोगती है। भगवान के अनुग्रह से अर्थात् भक्ति द्वारा यह जाल स्वयं छिन्न–भिन्न हो जाता है। भक्ति–पथ का अनुसरण करने वाली आत्मा अज्ञानता के पाश से मुक्त हो जाती है।

भारतीय भक्ति की धारा को व्यापक एवं प्रवाह पूर्ण बनाने में रामानुजाचार्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि ने थोड़े–बहुत परिवर्तन के साथ रामानुजाचार्य के सिद्धांतों को ही अपनाया। आगे चलकर रामानुजाचार्य का संप्रदाय अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। इसकी एक शाखा रामानंदी संप्रदाय के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। इसी शाखा के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द ने भक्ति को सर्वजन–सुलभ बनाया।

रामानुजाचार्य ने एक कट्टर वैष्णव की भाँति लक्ष्मी–नारायण की पूजा पर विशेष बल दिया। उन्होंने अपने सिद्धांतों को श्रुति–सम्मत बनाकर जन- जीवन के समक्ष उपस्थित किया। वे अभेद और भेद का प्रतिपादन करने वाली दोनों प्रकार की श्रुतियों को प्रामाणिक मानते हैं। वे निर्गुण और सगुण ब्रह्म के प्रतिपादक अर्थात् दोनों प्रकार के वाक्यों को प्रामाणिक बताते हैं। रामानुजाचार्य पर ब्रह्म को पाँच रूपों में अभिव्यक्त मानते हैं –मूर्ति,अंशावतार, पूर्णावतार, सूक्ष्म तथा अंतर्यामी। साधक अपनी साधना मूर्त्ति से प्रारम्भ करता है और क्रमशः अंतर्यामी हो

जाता है । वह बैकुण्ठ या साकेत में परब्रह्म से मिलकर दिव्यानन्द का अनुभव करता है । शंकराचार्य ने अद्वैतवाद को सीधे रूप में ग्रहण करने में असमर्थ जनता को पूजा –उपासना का मार्ग दिखाया और ईश्वर के सगुण रूप की उपासना के माध्यम से अद्वैत के प्रचार को सहज–सरल बनाया।

वैष्णवाचार्यों में रामानुजाचार्य के पश्चात निम्बार्काचार्य का आगमन हुआ । निम्बार्काचार्य का मत 'द्वैताद्वैत' और उनका आध्यात्मिक समुदाय 'सनकादि सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात था। निम्बार्काचार्य की भक्ति का विशेष बल श्रीकृष्ण और श्री राधिका की प्रेम–भक्ति की ओर दिखाई देता है। उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, शक्तिमान एवं परम शरण हैं । परम सत्ता की प्राप्ति श्रवण, मनन एवं भक्ति द्वारा ही संभव है । निम्बार्काचार्य के अनुसार जगत और जीव दोनों ही ब्रह्म के अंश हैं। अंश अपने अंशी से भेद और अभेद ; दोनों रूपों में संबधित रहता है। जगत और जीव का ब्रह्म से ऐसा ही सबंध है। निम्बार्क के मतानुयायियों में श्रृंगार–लीलाओं की अभिव्यक्ति की प्रधानता परिलक्षित है अर्थात् उनकी उपासना जितनी मधुर भाव पर आश्रित है उतनी वात्सल्य–भाव पर नहीं। इस विषय में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि निम्बार्काचार्य ने किसी विशेष भाव पर बल नहीं दिया। उनका मतानुयायी अपनी अभिरूचि के अनुसार माधुर्य, वात्सल्य, दास्य, साख्य एवं शांत में से किसी भाव का भी आश्रय लेकर भक्ति–साधना में प्रवृत्त एवं अग्रसर हो सकता है। प्रत्येक भाव ग्राह्य हैं। निम्बार्कानुयायी श्रीभट्ट तथा श्री हरिव्यास देवाचार्य माधुर्य भाव या उज्ज्वल रस के उपासक माने जाते हैं परंतु उनमें वात्सल्य तथा दास्य भावों की भी अभिव्यक्ति हुई है।

श्री भट्ट के काव्य में राधा–माधव की दिव्य लीलाओं की मधुराभिव्यंजना हुई है । वे ब्रज भाषा में भक्ति–काव्य की सर्जना करने वाले पहले निम्बार्कानुयायी भक्त कवि कहे जाते हैं।

उनका काव्य भक्त के हृदय को आनंद में मग्न करने में सर्वथा समर्थ रहा है । उनके नेत्र राधा–कृष्ण की रूप - माधुरी एवं प्रेम लीला को देखने के लिए लालायित ही बने रहते हैं–

भींजत कब देखौं इन नैना।

स्यामाजू की सुरंग चुनरी, मोहन को उपरैना।

स्यामा–स्याम कुंज तर ठाढ़े, जतन कियौ कछु मैंना।

श्रीभट्ट उमड़ि घटा चहुँ दिसी ते घिरि आई जल सेना।।[13]

श्री भट्ट की भक्ति–धारा को आगे ले जाने का श्रेय उनके अंतरंग एवं सर्वप्रिय शिष्य श्री हरिव्यास को उपलब्ध है । वे निम्बार्क संप्रदाय के भीतर 'रसिक सम्प्रदाय' नामक शाखा के प्रवर्तक कहे जाते हैं । इस शाखा के अनुयायी 'हरिव्यासी' नाम से प्रचलित हैं । श्रीकृष्ण के मधुर या श्रृंगारी रूप की उपासना 'रसिक सम्प्रदाय' का प्रमुख लक्ष्य है ।

बिलसौ दो उलाल मेरे हियसदन सुख सने।

सुर तरस लीन अंग–अंग नागर नवल

कमल की मालल हल हीड हड हतने।

मुकुट की लटक अरविन्द पद पर सिनी

सर सनी समर अद्‌भुत सु आनन्द घने।।[14]

---

[13]भक्तमालः पाठानुशीलन एवं विवेचन,नाभादास द्वितीय खण्ड,परिशिष्ट - ख,(जुगलसप्तक,श्री भट्ट,),सं.रूपकला,नवकिशोर प्रेस,लखनऊ,द्वितीय संस्करण,पृ सं -70

[14] वही,पृ. 27

इस प्रकार निम्बार्क–मत में माधुर्य की प्रधानता है पर अन्य भावों के साथ-साथ भक्ति के उदाहरण भी संबद्ध हैं। इस संप्रदाय में भक्ति की प्रधानता एवं दार्शनिकता की गौण है। बाबू गुलाब राय अपनी साहित्येतिहासिक आलोचना में कहते हैं कि 'मध्यकालीन भक्ति आंदोलन में निम्बार्क मत का योगदान असंदिग्ध है। उनका युग 12 वीं शताब्दी बताया जाता है'।[15] मध्यकालीन हिन्दी भक्ति–साहित्य पर उनके मत का प्रभाव स्पष्ट है। सगुणोपासक ही नहीं, निर्गुणियां संत कवि भी उनके मत से प्रभावित दिखायी पड़ते हैं। सागर और बूँद के उदाहरण द्वारा ब्रह्म–जीव का भेदाभेद कबीर और नानक ने अनेक बार समझाने का प्रयास किया है। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की तरह निम्बार्क–सम्प्रदाय में भी बाह्योचारों का निर्वाह भक्ति का मुख्य अंग माना जाता है। निम्बार्काचार्य ने बाह्योचारों का महत्व स्वीकार करते हुए तीन प्रकार की पूजा का विधान किया है। प्रथम वैदिकी पूजा है जिसमें वैदिक मन्त्रोच्चार के साथ षेडशोपचारों द्वारा अर्चना की जाती है। दुग्ध , जल, धूप, दीप, मधु इत्यादि सामग्री से शालग्राम का अभिषेक किया जाता है ।निम्बार्क के समय में धर्म–प्रचार या तीर्थ–यात्रा के लिए बाहर जाने वाले आचार्य शालग्राम को कण्ठ से लटका कर भ्रमण करते थे। विश्राम–स्थल पर स्नानादि के पश्चात् उनकी पूजा वैदिक विधि से करते थे। यज्ञ, तप ,सूक्त पाठ एवं वैदिक मन्त्रों के व्यवहार को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। दूसरी है तान्त्रिकी पूजा। इस दृष्टि से हर देवता का स्वरूप रेखात्मक माना गया है। तंत्र त्रिकोण,चक्र, कमल आदि के संयोग से बनता है और उसमें तंत्रात्मक देवता की स्थापना की जाती है। इस संप्रदाय में गोपाल तंत्र की आराधना होती है। तीसरी प्रक्रिया है अनुरागात्मिका पूजा। इसमें कृष्ण को प्रिय और राधा को प्रियतमा मानकर मधुर भाव से पूजा की जाती है।

---

[15]हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास,बाबू गुलाबराय,नागरी प्रचारणी सभा,काशी,वाराणसी,1938पृ.- 35

दार्शनिक दृष्टि से मध्वाचार्य का सिद्धान्त द्वैतवाद के नाम से जाना जाता है। उनका सम्प्रदाय ब्रह्म संप्रदाय कहा जाता है क्योंकि इसके प्रवर्तक ब्रह्मा माने जाते हैं। यह संप्रदाय वैदिक, औपनिषदिक साहित्य, महाभारत तथा भागवत पर विशेषतः आधृत है। मध्वाचार्य ब्रह्म–जीव के भेद के साथ ही जगत प्रकृति आदि का द्वैत भी स्वीकार करते हैं। उन्हें ब्रह्म, जीव , प्रकृति आदि में तात्त्विक भेद दिखायी पड़ता है। यह भेद पाँच प्रकार के हैं–

ब्रह्म का जीव से भेद।

ब्रह्म का प्रकृति से भेद।

जीव का प्रकृति से भेद।

जीव का जीव से भेद।

प्रकृति का प्रकृति से भेद।

मध्वाचार्य का संपूर्ण बल भगवद्भक्ति पर है लेकिन वे कर्म और ज्ञान की उपेक्षा नहीं करते। उन्हें भक्ति हीन ज्ञान का मान्य नहीं है और न ही ज्ञान हीन भक्ति मान्य है। मुक्ति न कोरे ज्ञान से सुलभ है और न कोरी भक्ति से प्राप्य है। मध्व के अनुसार जीव को कर्म से पलायन नहीं करना चाहिए। उनका स्पष्ट कथन है कि भगवान भक्ति से प्रसन्न होकर ज्ञान देते हैं और भक्ति से ही उनके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। भक्ति से ही मोक्ष मिलता है। भक्ति–साहित्य में आगे वैष्णवाचार्यों की भूमिका में एक प्रसिद्ध नाम वल्लभाचार्य का है। उनका दार्शनिक मत शुद्धाद्वैतवाद के नाम से विख्यात है लेकिन उनका अद्वैतवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न है। शंकराचार्य माया–संबलित ब्रह्म को जगत का कारण मानते हैं जबकि वल्लभाचार्य माया से निर्लिप्त शुद्ध ब्रह्म को ही जगत् का कारण बताते हैं।

वैष्णवाचार्यों में, रामानुजाचार्य की पांचवीं पीढ़ी में, रामानंद का आविर्भाव हुआ। रामानंद ने राम को आराध्य माना है। इनके इष्टदेव 'राम' और मूल मंत्र 'राम - नाम' है। वे 'श्री रामायनमः' मंत्र का जप करने पर बल देते हैं। रामानन्द भक्ति के द्वार सभी वर्णों एवं जातियों के लिए खुले थे। वह लौकिक जीवन में जाति एवं वर्ण का शास्त्रीय विधान स्वीकार नहीं करते जो अन्य पूर्ववर्ती वैष्णवाचार्यों के द्वारा बनाए गये थे। उनकी दृष्टि में भक्ति का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। उनकी भक्ति अन्य आचार्यों की भक्ति से अधिक जनवादी एवं प्रगतिवादी कही जा सकती है । रामानंद की शिष्य मण्डली में उच्चजाति, निम्नजाति, सगुणोपासक भक्त एवं निर्गुणोपासक भक्त; सभी सम्मिलित हैं । भक्त कवियों में कबीर निर्गुणोपासक और तुलसी सगुणोपासक; दोनों ही उनके शिष्य हैं। भक्ति आन्दोलन के प्रति उनका सबसे बड़ा योगदान यही है । आचार्य शुक्ल का कथन है कि 'जाति–पाति का विरोध करने पर भी रामानन्द जीवर्णाश्रम के विरोधी न थे। समाज के लिए वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए वे भिन्न–भिन्न कर्त्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे। केवल उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सबका अधिकार स्वीकार किया। भगवद्भक्ति में वे किसी भेदभाव को आश्रय नहीं देते थे। यदि वे वर्णाश्रम के विरोधी होते तो शास्त्र–विहित त्रिदंड संन्यास क्यों ग्रहण करते ? तात्पर्य यह कि कर्म के क्षेत्र में शास्त्र–मर्यादा इन्हें मान्य थी पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे। सब जाति के लोगों को एकत्र कर राम- भक्ति का उपदेश ये देने लगे और राम नाम की महिमा सुनाने लगे।'[16]रामानन्द ने भक्ति के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक-दोनों पक्षों को वाणी प्रदान की है। उनकी हिन्दी रचनाओं या उनके भक्ति- विषयक पदों ने ही भक्ति–आंदोलन को

[16]हिन्दी साहित्य का इतिहास,आ. रामचन्द्र शुक्ल,नागरी प्रचारणी सभा,काशी,वाराणसी,16वां संस्करण संवत् 2025 विक्रम पृ सं. 101

जन–आंदोलन का रूप प्रदान किया । मध्यकालीन भक्त कवियों के लिए रामानंद की रचनाएं प्रेरणा–स्त्रोत रही हैं । रामानंद के भक्ति कर्म को आगे भक्त कवियों ने परिलक्षित किया है । भक्ति–आन्दोलन के प्रति हिन्दी कवियों के योगदान पर प्रकाश डालना अपेक्षित है किंतु इस प्रकाश से पूर्व उन परिस्थितियों की चर्चा करना आवश्यक है जिन्होंने भक्ति–आन्दोलन और भक्त कवियों को प्रभावित किया।

भारत में समय–समय पर बहुत से विदेशी आक्रांता आये । सीमांत प्रदेशों को जीतते हुए कुछ तो देश के भीतरी भागों तक आ गये । बहुत से विजेता जैसे शक, कुषाण और हूण यहीं बस गये । प्रचीन–काल में विदेशी आक्रमणों के परिणामस्वरूप राजनीतिक उथल–पुथल तो बहुत हुई किंतु सांस्कृतिक संघर्ष की विभीषिकाएँ उतनी देखने में नहीं आयीं । हिन्दू धर्म में विभिन्न विचारधाराओं और विभिन्न दृष्टिकोणों को आत्मसात कर लेने की अद्‌भुत क्षमता है । उसकी उदारता की सीमाएं बड़ी विस्तृत हैं । 'हिंदू' शब्द की व्यापक परिभाषा है कि उसे किसी एक परिधि में नहीं बाँधा जा सकता है । शिव की उपासना करने वाला भी हिन्दू है और जो नहीं मानता वह भी हिन्दू है । जो प्रतिदिन छः घण्टे मन्दिर में पूजा करता है वह तो हिन्दू है ही और जो कभी भगवान का नाम भी नहीं लेता वह भी हिन्दू है । वास्तव में हिन्दू धर्म कहलाने का अधिकारी नहीं है । हिन्दू धर्म तो जीवनयापन का एक ढ़ग है । कुछ सुंदर आस्थाओं और कुछ कोमल मान्यताओं को प्रतिदिन के जीवन में ढ़ालने की एक क्रिया है । यह व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है कि वह ईश्वर को कितना माने और उसकी आराधना कैसे करे।

भक्ति–आंदोलन का प्रमुख स्त्रोत:श्रीमद् भागवत

श्रीमद्भागवत का अधिकतर प्रभाव मध्ययुगीन कृष्णभक्ति–साहित्य पर ही पड़ा है । श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण–चरित, गोपी–कृष्ण प्रेम तथा कृष्ण की विविध लीलाओं ने मध्ययुगीन कृष्ण–भक्ति–साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है । बहुत से मध्ययुगीन कृष्ण–

भक्त–कवियों ने अपने काव्य–प्रणयन का आधार भागवत को ही माना है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि विविध कृष्ण–भक्ति संप्रदायों में श्रीमद्भागवत की मान्यता प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में रही है। इन संप्रदायों में दीक्षित भक्त–कवियों ने श्रीमद्भागवत से प्रभावित होकर ही कृष्ण - भक्ति परक काव्य रचा है। श्रीमद्भागवत का विशेष प्रभाव 13वीं शताब्दी से ही सभी भारतीय भाषाओं के कृष्ण–भक्ति–साहित्य पर पड़ने लगा। भागवत के कुछ ऐसे कृष्ण भक्ति परक तत्त्व हैं जिन्होंने परवर्ती आचार्यों और भक्त–कवियों को विशेष रूप से आकृष्ट किया है। समस्त मध्ययुगीन कृष्ण–भक्ति–साहित्य में कृष्ण की विविध लीलाओं का जो विशद वर्णन है उसका प्रेरणा–स्रोत श्रीमद्भागवत है। भागवत में वर्णित कृष्ण की बाल-लीलाओं और गोपी–प्रेम–क्रीड़ाओं ने कृष्ण भक्त–कवियों को बहुत ही आकृष्ट किया था। अतःश्रीमद्भागवत के दशम्स्कन्ध में भी पूर्वार्द्ध में वर्णित कृष्ण–चरित और कृष्ण–लीला, मध्ययुगीन कृष्ण–भक्त कवियों का प्रियतम विषय है। मध्ययुगीन भक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले भागवत के प्रमुख तत्त्व इस प्रकार हैं–

श्री कृष्ण की विविध लीलाएं

श्री कृष्ण की अलौकि रूप–माधुरी

श्री कृष्ण का परमेश्वर तत्त्व

श्री कृष्ण के प्रति गोपियों का अलौकिक प्रेम

मुरली वृंदावन, गोपी, लीला आदि प्रतीकार्थ

प्रारंभ में जो कृष्ण शैशव की मनोरम लीलाओं के कारण, अनंत वात्सल्य और संख्य का केन्द्र होता है, किशोर में वही माधुर्य का निधान बन जाता है ; तारुण्य एवं प्रौढ़ावस्था में वही प्रेम एवं श्रद्धा के सीमांत पर दिखाई देता है। लीला सगुण ब्रह्म भगवान का अचिंत्य चरित है।

निर्गुण और निराकार ब्रह्म का लीला में कोई सरोकार नहीं है किंतु भक्तों का भगवान,भक्तों का अनुरंजन करने के लिए नाना प्रकार की क्रीड़ाएं करता है । भक्त गण भी उसकी क्रीड़ा में सम्मिलित हो जाते हैं । भगवान की दिव्य लीलाओं का ज्ञान हो जाने पर भक्त जो सबसे बड़ी वस्तु प्राप्त करता है वह है ईश्वर का प्रेम । श्रीमद्भागवत में एकाधिक स्थलों पर यह बात कही गई है । ईश्वर की ये लीलाएं त्रिभुवन को पवित्र करने वाली हैं ।

श्री कृष्ण के अलौकिक रूप–माधुरी कृष्णभक्ति–साहित्यमें कृष्ण का सर्वांग सुन्दर व्यक्तित्व चित्रित हुआ है कवि द्वारा सौंदर्य की जितनी कल्पना की जा सकती है, श्री कृष्ण के वास्तविक रूप-वर्णन में वह सब अपर्याप्त और अशक्त ही सिद्ध होती है । श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को अनंत सौंदर्य के निधान के रूप में चित्रित किया गया है । श्रीमद्भागवत की भीष्म स्मृति में श्रीकृष्ण के सौंदर्य का अद्‌भुत चित्रण हुआ है । भीष्म ने अपने प्राणात्य के सम त्रिभुवन–कमनीय, तमाल वृक्ष के समान श्याम वर्ण,सूर्य–रश्मियों के समान ते जो वर्ण, पीताम्बरधारी और सुन्दर अलका वली से आवृत्त मुख कमल वाले श्रीकृष्ण का ध्यान किया था । गोपियां भी इसी कृष्ण की सुललित गति,दिव्य विलास,मनोहर मुस्कान और प्रणय कटाक्षों से मुग्ध होकर प्रेमोन्माद वश उनकी लीलाओं का अनुकरण करती तन्मय हो गई थीं ।

श्रीकृष्ण का परब्रह्म–परमेश्वरत्व और राम-कृष्ण अभेद भाव–भागवत और 'प्रबंधम्' में श्रीकृष्ण और श्रीराम का पर ब्रह्म परमेश्वत्व प्रतिपादित हुआ है । ईश्वर के विविध अवतारों का एकत्व स्थापित किया गया है । भागवत के इसी दृष्टिकोण ने मध्ययुगीन कृष्णभक्त–कवियों को और मध्ययुगीन हिंदूजन–मानस को, कृष्ण परम ब्रह्मत्व और परमेश्वरत्व को स्वीकार करने के साथ-साथ अवतारों की एकता मानने के लिए बाध्य किया है । इस प्रकार भागवत ने इन अवतारों की एकता को मान्यता प्रदान की है । श्रीमद्भागवत में दिए गए उद्धरणों से वासुदेव

कृष्ण और दशरथ के राम आदि का एकत्व मध्ययुगीन भक्त कवियों के लिए आवश्यक पूर्व-पीठिका का कार्य करता है।

कृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेम–भावना: श्रीमद्भागवत में कृष्ण और गोपियों के प्रेम का सबसे अधिक उदात्त रूप में, बहुत ही विस्तृत भाव–पटल पर चित्रण हुआ है। डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'कथा को विस्तार देने में और गोपी प्रेम लीला का इतना उदात्त रूप देने में, भागवत पुराण अद्वितीय है'।[17]श्रीकृष्ण और गोपियों का पारस्परिक प्रेम भक्ति–साहित्य का मेरुदण्ड है। कृष्ण–भक्ति साहित्य में किसी भी अन्य बात पर उतना जोर नहीं है जितना गोपी भाव की भक्ति को प्राप्त करने पर। मध्ययुगीन कृष्ण–भक्त–कवियों को विशेष रूप से गोपियों का प्रेम भाव आकृष्ट करता है।

गोपी,रास, मुरली आदि के प्रतीकार्थ: भागवत में पुरुषावतार कृष्ण की विविध लीलाओं को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न हुआ है। भागवतकार ने बड़े ही सजग रूप से विविध लीलाओं के प्रसंगों में आध्यात्मिक व्याख्या करके लौकिक क्रीड़ाओं पर ऐसा आध्यात्मिक रंग चढ़ा दिया जिससे मध्ययुगीन भक्तिमय वातावरण के विविध वैष्णव संप्रदायों में श्रीमद्भागवत को भी ब्रह्म सूत्रों की भांति प्रामाणिकता अथवा मान्यता प्राप्त हो सकी। भागवत में रास–लीला की भी आध्यात्मिक व्याख्या हुई है। ब्रज लीला की पराकाष्ठा रासलीला में है। रासलीला का अभिनय ब्रज में रासोत्सव के रूप में किया गया। इस अभिनय के माध्यम से गोपियाँ अपने परमात्मा तुल्य श्री कृष्ण से मिलती हैं। यह आत्मा और परमात्मा का मिलन था न कि दो स्थूल शरीरों का। भक्त अपनी आत्मा को ईश्वर की शक्ति मात्र मानकर उनकी दी हुई वस्तु उन्हीं को समर्पित करने के लिए लालायित रहता है।

---

[17]मध्यकालीन धर्म - साधना,हजारी प्रसाद द्विवेदी,साहित्य भवन,लिमिटेड,इलाहाबाद,संस्करण 1970 पृ सं - 123

इन तत्वों के अतिरिक्त भक्ति–साहित्य में भागवतकार ने भ्रमरगीत तथा उद्धव–संदेश की भी योजना कर दी थी जिसे लेकर आने वाली पीढ़ी नाना प्रकार की उक्तियां गढ़ सकीं। भागवत भक्ति-साहित्य का उद्गम स्थल है। यद्यपि परवर्ती भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा से इस काव्य-विषय को बहुत विशाल व मनोहर बना दिया और देशकाल की परिस्थितियों से मूल वस्तु में परिवर्तन भी हुए तथापि इससे मूल वस्तु का महत्व कम नहीं हुआ। इस प्रकार भागवत में वर्णित भ्रमरगीत के मूल प्रसंग ने मध्ययुगीन कृष्ण भक्त कवियों को भ्रमरगीत काव्य–रचना के लिए बड़ी प्रेरणा दी है।

वैष्णव भक्ति–आंदोलन को देशव्यापी बनाने में श्रीमद्भागवत एक प्रमुख उपकरण अथवा माध्यम रहा है। भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन भक्ति–साहित्य में जो भावात्मक एकता दर्शित है, वह आश्चर्य जनक है। समस्त मध्ययुगीन भारतीय वैष्णव भक्ति–साहित्य को प्रभावित करने के कारण साहित्य में उपलब्ध भावात्मक एकता का प्रमुख माध्यम श्रीमद्भागवत ही रहा है। इस तथ्य के आधार पर भी वैष्णव भक्ति–आंदोलन में श्रीमद्भागवत का योगदान निश्चित ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

तत्कालीन परिस्थितियां

किसी भी महान आंदोलन को जन्म देने में तत्कालीन परिस्थितियों का व्यापक योगदान रहता है। इस युग की विषम परिस्थितियों ने आंदोलन को व्यापक रूप प्रदान किया। ईसा की 15वीं और 16वीं शताब्दियों के हिंदी प्रदेश में जो व्यापक भक्ति–आंदोलन चला उसके पीछे कई शताब्दियों की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम भक्तिकालीन इतिहास है। वस्तु स्थिति से अवगत होने हेतु भक्तिकाल की तत्कालीन परिस्थितियों का मूल्यांकन करना और उनका परिचय प्राप्त करना अनिवार्य है। 12वीं शताब्दी के अंत में अर्थात् मध्यकाल के प्रारंभ में, दिल्ली सल्तनत की स्थापना के उपरांत एक नई ही

परिस्थिति उत्पन्न हुई । तुर्क लोग शक और हूणों की तरह खाली हाथ नहीं आये । वे अपने साथ अपनी धार्मिक मान्यताएं और सामाजिक व्यवस्था के अपने मानदण्ड लेकर आये । इस्लाम के कुछ निश्चित सिद्धांत थे । प्रत्येक मुसलमान को काबे की ओर मुँह कर के प्रतिदिन नमाज पढ़ना, वर्ष में एक मास रोज़ा रखना, जीवन में एक बार हज करने जाना–आवश्यक था । खुदा और खुदा के पैगम्बर हजरत मुहम्मद में विश्वास रखना उसका प्रथम कर्तव्य था–"ला इलाहा इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूल अल्लाह।" इसमें उसे कोई स्वतंत्रता नहीं थी और मुसलमान बने रहने के लिए उसे इन सब निश्चित आदेशों का पालन करना आवश्यक था । समाज तथा राजनीति इस व्यवस्था में गौण और धर्म के अधीन थे । इमाम या खलीफा इस्लाम का सर्वोच्च पदाधिकारी होता था । वैधानिक दृष्टि से वही सारे विश्व में इस्लामिक मामलों का धार्मिक नेता तथा गुरु था । उसका ध्येय इस्लाम का प्रकाश सारे संसार में फैलाना था अर्थात् 'दारुलहबै' (नास्तिकों के संसार) को 'दारुल- इस्लाम' (इस्लाम के संसार) में बदल देना था । इसके लिये मुल्ला बल प्रयोग किए जाने की छूटपट्टी देते थे।[18] सातवीं शताब्दी की शुरुआत में जन्मा इस्लाम धर्म तलवार के बल पर 100 वर्ष से कम समय में ही मिस्र और ईरान जैसे प्राचीन प्रदेशों में फैल गया और धीरे–धीरे उसने वहाँ की प्राचीन संस्कृतियों को समूल नष्ट किया । पश्चिम में स्पेन तक और पूर्व में भारत तक यह धर्म निरंतर फैलता चला गया ।

मध्यकाल के विध्वंसात्मक इतिहास के नीचे उसका सृजनात्मक पक्ष दब गया । इस युग का अपना एक रोचक इतिहास भी है । बहुत–सी सृजनात्मक प्रेरणाएं मध्यकालीन भारत में आईं जिन्होंने देश की तत्कालीन कला–परंपराओं को झकझोर दिया । उनके शिथिल हुए

[18]हजरत मुहम्मद ने कुरान (सूरा -9 आयत 29) में उन लोगों के विरूद्ध जिहाद का आदेश दिया जो ईश्वर और इस्लाम में विश्वास नहीं करते थे। यह आदेश अरब देश की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितयों को ध्यान में रखकर दिया गया था वास्तव में हजरत मुहम्मद का उद्देश्य बल पूर्वक किसी धर्म को थोपना नहीं था। कुरान के सू - 2,आयत - 256 में उन्होंने स्पष्ट कहा कि धर्म के मामले में कोई बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

अवयवों को पुनर्जीवन मिला और बिना किसी विद्वेष के उन विजेताओं के आश्रय में ही वे विकास की नयी दिशा की ओर चल निकली या भारतीय कलाएं अनवरत, मध्यकाल की विभीषिकाओं में भी पलती रहीं । इस युग का कला–चित्र, संगीत और वास्तु के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है जो इस काल की प्रमुख भावनाओं और धाराओं का ,इन कलाओं के संदर्भ में,पर्यवेक्षण करने से स्पष्ट हो जाता है ।

मानव–हृदय अनंत भावों की लीला–भूमि है । अनेक भाव यहाँ प्रसुप्तावस्था में पड़े रहते हैं जिनके उदय के लिए अनुकूल या उद्दीपक परिस्थितियां आवश्यक होती हैं । भक्ति–भाव की अभिव्यक्ति के लिए भी उत्तेजक तत्त्वों की अपेक्षा होती है । ये तत्त्व कई प्रकार के हो सकते हैं– राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक आदि । मध्यकालीन हिन्दी भक्ति–काव्य का उदय आकस्मिक घटना नहीं है । यह उन परिस्थितियों की भी उपज है जो इस युग में व्याप्त थीं । रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब है'[19]। साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है और साहित्य की सर्जना कभी शून्य में नहीं होती । इसके अनुसार साहित्यकार अपने देश–काल की परिस्थितियों से अप्रभावित नहीं रह सकता । महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश आदि हिन्दी- अहिन्दी भाषी यानी दोनों प्रकार के क्षेत्रों में भक्ति का पारावार उमड़ता हुआ परिलक्षित होता है । यही भक्ति–आन्दोलन कहा गया । यह आलवार भक्तों से प्रारंभ होकर कई सोपानों को पार करके 15 वीं तथा 16वीं शताब्दी में चरम सोपान पर पहुंची।

भक्ति–आंदोलन का समय 'मध्यकाल' कहा जाता है । 'मध्यकाल' शब्द युग-विशेष का परिचायक कम और एक मनोवृत्ति का सूचक अधिक है । यह पतनोन्मुखी मनोवृत्ति का द्योतक प्रतीत होता

[19]हिंदी साहित्य का इतिहास,आचार्य रामचंद्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन,संस्करण-दूसरा, पृ.सं- 18

है। यूरोपीय इतिहास में मध्यकाल को अंधकार का युग कहा जाता है। यूरोप के मध्य-युग और भारत के मध्य युग में अन्तर केवल एक क्षेत्र में दिखायी पड़ता है और वह क्षेत्र है भगवद्भक्ति का। भारतीय इतिहास में यह भक्ति के विकास का युग है। भक्ति की दृष्टि से इतिहासकार जॉर्ज ग्रियर्सन ने इसे स्वर्ण–काल भी कहा है। हिन्दी प्रदेश में भक्ति–आन्दोलन का सूत्रपात जिस युग में हुआ उसे इतिहास में तुर्क–अफगान काल कहा जाता है। मुसलमानों के आगमन से पहले पूरे भारत में वर्णाश्रम–व्यवस्था एवं जातिगत भेदभाव अपने अस्तित्व में था जिसने मुगलों के आने के बाद और अधिक कठोर रूप धारण कर लिया। वर्णाश्रम - व्यवस्था एवं जातीयता अपरिवर्तनशील हो गयी। कर्म के स्थान पर जन्म जाति का आधार बनने लगा। इस्लाम के आने पर यह और भी अधिक दृढ़ हो गया। हिन्दू समाज की भूमि पर जातियों–उपजातियों के घने जंगल खड़े हो गये। एक जाति दूसरी जाति की प्रतिद्वन्दी बन गई। खान–पान, शादी–विवाह आदि के संबंधों के बीच चौड़ी–चौड़ी खाइयां तैयार हो गयीं। ऊँच -नीच का भेद और भी अधिक प्रबल हो गया। छुआ छूत की भावना पहले से अधिक उग्र हो गयी। तथा कथित भ्रष्ट जातियों या शूद्रों के लिए तो वेदाध्ययन और धर्मशास्त्रों के पठन–पाठन के द्वार बंद कर दिए गये। अछूतों की दशा तो इससे भी अधिक निरीह थी। उन्हें मन्दिरों में जाकर भगवान के दर्शनों का भी अधिकार नहीं था। जिस जलाशय से उच्च वर्ग के लोग जल भरते थे उस जलाशय का जल निम्न जातियां छू तक नहीं सकती थीं। इसके अलावा यदि सड़क पर चलते किसी निम्न जाति के व्यक्ति की छाया यदि किसी ब्राह्मण पर पड़ जाती तो उस निम्न जाति के व्यक्ति को कोड़ों से पीटा जाता था। ऐसी कठोरता दक्षिणी भारत में अधिक थीं। अस्पृश्य जातियों को नगर या ग्राम से बाहर रहना पड़ता था। उच्च वर्ण के अन्याय के प्रति ये जातियाँ जागरूक नहीं थीं। उनका अन्याय- अत्याचार अपना कर्म–फल समझती थीं परंतु शताब्दियों से उच्च वर्ण की दासता सहन करती हुई इन जातियों में मुस्लिम समाज को देखकर नयी चेतना जागृत होती है। निम्न जातियों में यह बोध जागा कि जातीय भेद या उच्च–निम्न का विचार कर्म-विपाक ने होकर उच्च वर्ण की स्वार्थ–पूर्ति का सबल अस्त्र है। इन जातियों ने एक ऐसे समाज के दर्शन प्रथम बार किये

जिसमें हिन्दू समाज में व्याप्त भेद–भाव की दरारें न थी। धर्म के नाम पर यह समाज एक था। यहां रोटी–बेटी के संबंध अत्यंत सहज या भेद रहित थे। यह समाज हिन्दू समाज से अत्यधिक संगठित था। हिन्दू समाज से उपेक्षित जातियों में विचार जागृत हुआ कि जातीय भेद–भाव आरोपित या कृत्रिम है। मुसलमानों के संपर्क में आने पर उन्हें यह अनौचित्य खटकने लगा। उन्हें अपनी सामाजिक स्थिति की वास्तविकता का बोध हो गया । सामाजिक स्तर पर मुसलमान-मुसलमान में भेद–भाव न था । वहां ऊँच-नीच व छुआ छूत का विचार न था। सामाजिक स्तर पर सब समान माने जाते थे। सबको कुरान पढ़ने, मस्जिद में जाने और नमाज या इबादत करने का समान अधिकार प्राप्त था। यह सब हिन्दू धर्म और समाज में देखने को भी न था। यही कारण था कि इस्लाम का अधिकांश प्रचार–प्रसार तो तलवार से हुआ पर हिन्दू समाज की उपेक्षित जातियों में से कुछ ने इसे स्वेच्छा से भी ग्रहण कर लिया। कुछ ने आर्थिक दबाव या दरिद्रता के कारण और कुछ ने सामाजिक विषमता का शिकार होने से बचने हेतु मुस्लिम धर्म को स्वीकार करना अधिक सहज समझा। इस धर्म परिवर्तन को रोकने के लिए संतों और भक्तों ने स्तुत्य प्रयास किया। भक्ति के क्षेत्र में ऊँच–नीच, धनी–निर्धन आदि का कोई भेद स्वीकार नहीं किया गया । जातीय भेद–भाव को समाप्त करने में भक्ति–आंदोलन की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

पहले-पहल में मुसलमान अत्यंत परिश्रमी, संयमी, साहसी और उत्साही थे लेकिन कालांतर में वे विलासी और वैभव शाली हो गये । लौकिक प्रेम का अतिरेक व्यक्ति को पारलौकिक प्रेम (भक्ति) की ओर आकर्षित करता ही है। लोक से परलोक, शरीर से आत्मा और प्राकृत जन से परमात्मा की ओर जाना मानव–मन की सहज गति या उसका साधारण स्वभाव है । भक्ति–युग इसी प्रवृत्ति का प्रकाशन है। तत्कालीन समाज में यही घटना घटी। सब जगह से उदास मन विश्राम की खोज में था। उसे यह विश्राम भक्तों की वाणी में प्राप्त हो गया। हिन्दू

समाज का एक बहुत बड़ा भाग भक्ति की गंगा में मग्न हो गया। मुस्लिम समाज में भी अनेक संत उत्पन्न हुए।

जब दो समाज एक दूसरे के संपर्क में आते हैं तब उनमें आदान–प्रदान होने लगता है। इधर हिन्दू समाज मुसलमानों की सामाजिक समानता से प्रभावित हुआ। तो उधर मुस्लिम समाज में स्तरीय विभेद प्रवेश कर गया। निम्न वर्ग और उच्च वर्ग मुस्लिम समाज में भी दिखायी पड़ने लगे–

तहवाँ मोहि जनम विधि दीन्हा। कासिम नाम जाति का हीना।।[20]

मुस्लिम समाज ने उच्च वर्ग हिन्दू समाज को अनेक तरह से प्रभावित किया। अशिक्षा और अज्ञानता के कारण वैदिक तथा अन्य मंत्र नष्ट हो गये थे। हिन्दू अशक्त और वैभव हीन हो गये। अधिकतर राजाओं के शासन–काल में संपन्न हिन्दुओं को घोड़े की सवारी करने, सुंदर वस्त्र पहनने, ताम्बूल खाने और अस्त्र–शस्त्र रखने का अधिकार नहीं था। मुस्लिम शासक हिंदुओं की सुंदर स्त्रियों के अपहरण के लिए भी आक्रमण किया करते थे। अलाउद्दीन ने रत्नसेन की पत्नी पद्मिनी की प्राप्ति के लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी -

आठ बरिस गढ़ छेंका। धनि सुलतान कि राजा महा।।

आइ साह अँबराव जो लाए। फटे झरे पै गढ़ नहिं पाए।।

जो तोराँ तो जोहर होई। पदमिनि हाथ चढ़ै नहिं सोई।।

एहि बिधि ढील दीन्ह तब ताँईं। दिल्ली तै अरदासै आई।।

पछिहँ हरेव दीन्हि जो पीठी। सो अब चढ़ा साँह कै दीठी।।

---

[20]हंस जवाहर,सूफी काव्य संग्रह,परशुराम चतुर्वेदी,नागरी प्रचारणी सभा,काशी,वाराणसी,संवत् 2025विक्रम पृ सं- 154

जिन्ह भुईं माथ, गगन तेइ लागा। थाने उठे, आव सब भागा।।

जहाँ सार चिउर गढ़ छावा। इहाँ देस अब होइ परावा[21]।।

समाज में नैतिकता का पतन हो रहा था। ब्राह्मण अनुदार, स्वार्थी, दंभी, कठोर, एवं आचार विहीन हो गये थे। पुरोहित पौरोहित्य से दूर रहने की कामना करते हुए भी जातीय अभिमान में फूले रहते थे। उनमें जातिगत श्रेष्ठता का मान था। छुआछूत उनके भीतर समा गयी थी। कबीर ने ऐसे लोगों को लक्ष्य बनाते हुए कहा कि संसार में नितान्त पवित्र कुछ भी नहीं है, केवल वे व्यक्ति पवित्र है जो भगवान को भजते हुए तमाम विकार छोड़ देते हैं–

चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी काढ़ी कारा।

कहै कबीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहिं बिकारा।।[22]

तत्कालीन समाज आधुनिक समाज की तरह धनी और निर्धन;दोनों वर्गों में विभक्त हो गया था। धन वैभव–विलास का मार्ग खोल देता है। अर्थाभाव या दारिद्रय के कारण निम्नस्तरीय जीवन में पारिवारिक कलह का प्राचुर्य था। कबीर का अपनी पत्नी से इसी कारण संघर्ष रहता था कि घर में पेट भरने को अन्न न था और कबीर ने माला पकड़ ली थी। पेट की अग्नि को शांत करने के लिए लोग धर्म-अधर्म सब कुछ करने को मजबूर हो गये थे। उदर–पूर्ति के लिए लोग बेटा–बेटी तक बेच देते थे : *ऊँचे–नीचे करम, धरम–अधरम करि, पेट ही को पचत बेचत बेटा–बेटकी* /[23]तात्पर्य यह है कि साधारण लोगों की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। सामान्य जन के लिए अर्थोपार्जन का प्रमुख साधन कृषि था। कृषक को फसल के लिए वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता था

---

[21]पद्मावत,वासुदेवशरण अग्रवाल,साहित्य सदन,चिरगाँव,झांसी,पृ.सं- 545

[22]कबीर - ग्रंथावली,श्यामसुन्दरदास,नागरी प्रचारणी सभा,काशी,वाराणसी,संवत् 2008 विक्रम पृ सं - 251

[23]रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड),तुलसीदास,गीताप्रेस,गोरखपुर,संवत् 2000विक्रम पृष्ठ 162

। समय पर वर्षा हो जाना किसान का परम सौभाग्य है । वर्षा उचित अवसर पर नहीं होती तो लोग अन्न उत्पन्न न होने से दुःखी होते थे–*बरषा समय ने बरषा होइ । बिना अन्न दुख पावे लोइ ।।*[24]तुलसीदास भी मानस में बताते हैं–*ताम सधर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान । देव न बरषहिं धरनीं बए न जामहिं धान ।।* स्थानीय अधिकारियों की लोलुपता और नीचता के कारण कृषकों का जीवन और अधिक विपन्न हो जाता था । अधिकारी आवश्यकता से अधिक भूमि नाप लेते थे । किसान को बेगार करने पर भी भाड़ा नहीं मिलता था । कृषकों की आर्थिक निर्बलता का अनुचित लाभ व्यापारी, दुकानदार आदि उनकी स्त्रियों की इज्जत लूटकर उठाते थे–

अब न बसूँ इहि गुसाईं, तेरे नेवगी खरे सयाँने हो राम

गाँइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।।

जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो राम।

खोटौं महतौ बिकट बलाही सिर कसदम का पारैं ।

बुरौं दिवाँन दादि नहिं लागै, इक बाँधे इक मारै हो राम।।[25]

मध्यकालीन युग में लोगों का भक्ति–साधना की ओर अधिक झुकाव होने का कारण केवल मुसलमानों का आगमन नहीं था । तत्कालीन समाज की जनता अपने प्रशासनिक अधिकारों से वंचित थी । उसके पास न अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता थी और न ही जीविकोपार्जन का कोई साधन । उसके जीवन में केवल भक्ति–साधना और भगवान भरो से बैठना ही एकमात्र विकल्प था । भक्ति के माध्यम से भक्ति साधक एवं उपासकों ने अपने मन की पीड़ा को काव्य में व्यक्त किया । भक्त कवियों ने धार्मिक आडंबरों को न कारते हुए निर्गुण भक्ति की आराधना की । मध्यकाल में

---

[24]सूरसागर,आ. रामचन्द्र शुक्ल,सरस्वती मंदिर,बनारस,तृतीय संस्करण,पृ,सं-45

[25] वही,पृ.सं-121

धार्मिक विकृति पर्याप्त मात्रा में दिखायी देती है । इस काल में धर्म के नाम पर अनेक संप्रदाय प्रचलित हो चुके थे –शैव, शाक्त, हीनयान, महायान, वज्रयान, सहजयान, नाथ, कौल, कापालिक इत्यादि । इन सभी में गुह्य साधनाओं का प्रवेश हो चुका था । जादू–टोना, तंत्र–मंत्र आदि का बोलबाला था । उक्त संप्रदायों के अतिरिक्त इस्लाम का आगमन भी हो चुका था । इस्लाम के साथ उसका परिष्कृत रूप 'सूफीसंप्रदाय' भी अपना अस्तित्व बना चुका था।

सामान्य जनता धार्मिक भय से ग्रस्त थी । वह जितना धर्म से डरती थी उतना शासन से भी नहीं । पुरोहित, साधु एवं संन्यासी का भय सबसे बड़ा था । मुस्लिम समाज में मौलवी, दरवेश, फकीर आदि का प्रभुत्व स्थापित था । साधारण जनता में धर्म के प्रति अंध श्रद्धा प्रचलित थी । अनेक देवी–देवताओं की पूजा के साथ ही भूत–प्रेत, शीतला–भैरवी आदि की अर्चना होने लगी थी । -*जावत गुनी गारूड़ी आए । ओझा वैद सयान बोलाए ।।*[26]ओझा, गुनी और सयानों पर अधिक विश्वास किया जाता था । ज्वर, तिजारी, वात, घेंघा, क्षय इत्यादि रोगों के निवारणार्थ तंत्र–मंत्र, जादू–टोना आदि का आश्रय अधिक लिया जाता था । परमानंद दास ने लिखा है कि "नास्तिकों के नाना वादों ने हिन्दुओं के सब कर्म तथा व्रत नष्ट कर डाले हैं । सर्वत्र पाखण्ड का बोलबाला है । अगर भगवान श्रीकृष्ण की लीलाएं न होतीं और उनका प्रतिपादक ग्रन्थ 'भागवतपुराण' न होता तो समस्त भारत औघड़ पंथ का पथिक बन जाता । इस युग में श्रद्धा–धर्म का लोभ दिखायी पड़ता है । वेद पाठी ब्राह्मण भी कुमार्गगामी हो गया है । डूबते धर्म को कृष्ण की लीलाओं ने ही बचा लिया है–

माधो, या घर बहुत धर ।। कहन सुनन को लीला कीन्हीं, मर्यादा नटरी।

---

[26]जायसी ग्रंथावली,रामचन्द्र शुक्ल,नागरी प्रचारणी सभा,काशई,बाराणसी,13वाँ संस्करण संवत् 2025 विक्र. पृ 158

जोगो पिन के प्रेम न हो तो , अरु भागवतपुरान ।। तो सब औघड़ पन्थिहिं होतो, कथत गमैया ज्ञान।

बारह बरस को भयो दिगम्बर ज्ञानहीन संन्यासी ।

पान खान घर–घर सबहिन के , भसम लगाय उदासी।।

पाखण्ड दम्भ बढ़्यों कलियुग में, श्रद्धा धर्म भयो लोप।

परमानन्द वे पढ़ि बिगरयो, का पर कीजै कोप।।"[27]

बौद्ध धर्म में साधक के लिए साधना का जो अंग स्त्री-सहवास माना गया था, वह कालांतर में भोग का माध्यम बन गया । भक्ति के बीज; धर्म और हठयोग–साधना में भी निहित थे । इन बीजों से मध्यकालीन भक्ति–आंदोलन संबद्ध दिखायी पड़ता है । इस काल में जो विकृतियाँ बौद्ध धर्म में परिलक्षित होती हैं उनसे ब्राह्मण धर्म भी अछूता न रह सका । इस प्रकार धर्म के नाम पर अधर्म का साम्राज्य स्थापित हो गया । अधर्म को दूर करने के लिए उत्तरी भारत में भी दक्षिण के वैष्णव भक्ति–आंदोलन की धारा की आवश्यकता अनुभूत हुई । धार्मिक विकार भक्ति की धारा में ही धुल सकते थे । भक्ति को जन- आन्दोलन का रूप प्रदान करने में तत्कालीन धार्मिक विकृतियों की भूमिका भी प्रकारांतर से सहायिका सिद्ध हुई ।

मध्यकालीन धार्मिक परिस्थितियों पर विचार करते हुए सूफीमत और उसके योगदान पर विचार करना आवश्यक है । इस्लाम के उदार एवं परिष्कृत रूप अर्थात् 'सूफीमत' ने भारतीय भक्ति–आंदोलन को कुछ सीमा तक अवश्य प्रभावित किया है । आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने लिखा

[27]वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त,परमानन्ददास,पृ. 245

है 'इन सूफी साधुओं ने हिन्दी भाषा, हिन्दी छंद और हिन्दी चरित्रों का आश्रय लेकर, हिन्दू जनता को अपने सूफी सिद्धांतों पर विमोहित करके 'खुदावाद' की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की।'[28]'सूफी' शब्द का प्रयोग इस्लाम के उन अनुयायियों के लिए हुआ है जिन्होंने परमात्मा से मिलने के लिए सरल–स्वच्छ जीवन व्यतीत करते हुए प्रेम और ज्ञान के पथ का अनुसरण किया है। सूफियों का मार्ग प्रमुखतः प्रेम या भक्ति का मार्ग है। ज्ञान तो उसका सहायक मार्ग है।

'कहा मुहम्मद प्रेम कहानी।

सुनि सो ज्ञानी भए धियानी।।'[29]

'प्रेम दीप जाके हिय बरा,

ते सब आदि अंत उजिअरा।'[30]

सूफी मत के अनुयायी संसार से उदासीन होकर परमात्मा के प्रेम, ध्यान और चिंतन में मग्न रहते थे। भगवदानुराग उनके जीवन का सर्वोच्च आदर्श था।

भक्ति-युग में सभी प्रकार के मत- मतांतर किसी–न–किसी रूप में भक्ति–आंदोलन को गति प्रदान करने में सहायक तत्व साबित हुए। भक्ति–आंदोलन समूचे देश का प्रमुख आंदोलन था। किसी क्षेत्र विशेष का नहीं। इसकी अभिव्यक्ति हिन्दी काव्य में ही नहीं, हिन्दीतर साहित्य में भी हुई है। महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल और राजस्थान के कवियों का काव्य भी मध्यकालीन

---

[28]मध्यकालीन भक्ति- आंदोलन का सामाजिक विवेचन,डॉ सुमन शर्मा,विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी,1974,पृ. सं-31

[29]अखरावट,मलिक मुहम्मद जायसी,जायसी ग्रंथावली,44/1 पृ. 333

[30]मधुमालती,मंझन,पतिसाह की सिफति,पृ 11

भक्ति–आन्दोलन का पोषक या प्रतिपादक रहा है लेकिन भक्ति की जैसी उत्ताल तरंगे हिंदी काव्य में दिखायी पड़ती हैं वैसी अन्य भाषा के साहित्य में नहीं मिलती हैं। सभी भारतीय भाषाओं का मध्ययुगीन साहित्य भक्ति – भावना से ओत–प्रोत है। मध्ययुग में व्यापक भक्ति–आंदोलन से उत्पन्न भक्तिमयी वातावरण के कारण ही समस्त भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन साहित्य में भावात्मक एकता बहुत ही स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। यह भक्ति–आंदोलन की महती देन है। इस प्रकार संपूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बांधकर, अनेकता में एकता वाली भारतीय संस्कृति के मूलभूत तथ्य को, मध्ययुग में भक्ति–आंदोलन ने सुदृढ़ किया।

द्वितीय अध्याय

भक्तिकालीन प्रदर्शनकारी कलाएं

भक्तिकालीन युग की प्रदर्शनकारी कलाएं एवं रंगमंच भारतीय साहित्य के वे अनछुए पहलू हैं जो भक्ति– साहित्य के अनुशीलन में अदृश्य रहीं पर तत्कालीन भक्ति– साहित्य के प्रचार-प्रसार में प्रदर्शनकारी कलाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा। समूचे भक्तिकालीन साहित्य में धार्मिक ग्रंथों एवं पौराणिक कथाओं का वर्चस्व दिखाई पड़ता है। ऐसे में प्रदर्शनकारी कलाओं पर धार्मिक अनुष्ठानों का प्रभाव स्वाभाविक रहा। अकारथ नहीं कि इन कलाओं में धार्मिक विधियों एवं गतिविधियों का विशेष योगदान रहा है। धार्मिक अनुष्ठान और रंगमंच का संबंध मध्य पाषाण युग में भीमबेटका की गुफाओं में स्थित चित्रों तक में दिखायी देता है जहाँ चार

नर्तकियां जंगली सांड़ों और भेड़ियों का मुखौटा पहने नृत्य कर रही हैं इसे डॉ. वॉक्कर ने 'जादुईनृत्य' (wizard dance) कहा है । इन गुफाओं में संगीत के वाद्ययंत्रों के चित्र भी परिलक्षित हैं । इस विकासशील परंपरा में मलयालम, तेलुगु और कन्नड़ साहित्य का अत्यधिक योगदान रहा है । दक्षिण भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं में कुटियट्टम, भागवत मेला और यक्षगान जैसी कलाएं मंदिरों के प्रांगण में प्रदर्शित होने वाली कला विधाएं हैं । इनमें रामायण और महाभारत जैसी पौराणिक एवं लोकप्रिय कथाएं सर्वोपरि हैं । इन कथाओं के माध्यम से धार्मिक प्रांगणों में नृत्य एवं नाट्यकला का विकास हुआ ।

भक्तिकालीन साहित्य में कला और मानवीय संवेदनाओं का अंतर्संबंध है । ऐसा माना जाता है कि कला समाज, विश्व की हितैषी और व्यक्ति के कल्याण का माध्यम है । जीवनशैली में सामाजिक और पारिवारिक अस्त-व्यस्तता तथा विप्लव से ऊबकर हम कला की ओर पलायन करने में शांति पाते हैं । जब कलाकार कविता, चित्रकला या मूर्तिकला में पूर्णरूप से लीन हो जाता है तब अपनी उस कृति में अपने अंतःस्तल की सुप्त और पीड़ित भावनाओं को शिष्टतापूर्वक प्रस्तुत करता है । प्राचीन भारतीय कला की शाश्वत स्थिति के भीतर केवल मानव की चिर भावनाओं का मूर्त रूप ही नहीं है वरन उसकी आध्यात्मिकता की आधारशिला भी सन्निहित है । महाकवि कालिदास ने ठीक कहा है कि रूप की सच्ची उपासना मन को मलिन करने के स्थान को और निखारती है–

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये

न रूपमित्य व्यभिचारि तद्वचः।।

अर्थात् हे पार्वती, लोक का यह मत सच्चा है कि रूप की उपासना तो करनी चाहिए पर पाप के लिए नहीं। संयम और सौंदर्य का मेल ही गुप्त कला और जीवन की विशेषता है। जिस प्रकार रघुवंश के आरंभ में ही कवि ने अर्थ और वाक् को एक– दूसरे से अभिन्न कहा है उसी प्रकार कला में भी बाहरी सौन्दर्य और आंतरिक अर्थ; दोनों का समन्वय गुप्तकालीन आदर्शों की विशेषता थी। उनके लिए कला का द्वार खुला था किंतु उस श्रृंगार– प्रधान जीवन को निखारने के लिए बुद्ध का संयम– प्रधान आदर्श एक स्वर से सर्वोपरि मान लिया गया था। जीवन और कला का यह आदर्श समन्वय जिस युग में प्राप्त होता है वह संस्कृति का स्वर्ण– युग कहलाता है।

भारतीय कला का प्राचीन एवं घनिष्ठ संबंध धर्म और अनुष्ठानपरक विधियों से रहा है। भक्ति के गीत हो या मंदिरों में धार्मिक अनुष्ठानों के लिए किए जाने वाले नृत्य एवं नाट्य आदि सभी कलाएं एक– दूसरे से परस्पर जुड़ी हुई हैं। माना जाता है कि किसी भी सभ्यता की स्थायी सफलता की संरक्षिका कलाएं ही होती हैं। किसी भी साम्राज्य के सभ्यता में सामाजिक , आर्थिक व्यवस्था एवं धर्म के अनेक तत्व मौजूद होते हैं। हालांकि ये परिस्थितियां परिवर्तनशील होती हैं लेकिन कला में संस्कृति और सभ्यता की संचित अमूल्य निधि हमें प्राप्त होती है। समाज की जो विशिष्ट और सुसंस्कृत रेखाएं हैं (जैसे कि –सामाजिक धारणाएं, तत्कालीन व्यवस्थाएं एवं मानवीय मान्यताएं) वो उस समाज की कलाओं में सर्वदा जीवंतता के साथ स्पष्ट दिखाई देती हैं। यथार्थपूर्ण अकृत्रिम कला समाज की आत्मकथा होती है। किसी भी देश का भौतिक विकास उसके साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, स्थापत्यकला और वास्तुकला आदि में देखा जा सकता है। इसी तरह भारतीय कलाओं का अध्ययन होना भी अनिवार्य बन पड़ता है। भारतीय कला का सिद्धांत अत्यन्त उच्चकोटि का है क्योंकि इसके माध्यम से भारत की

धर्म– प्रधान सामाजिक व्यवस्था पूर्णरूप से प्रतिबिंबित होती है। लंदन के प्रमुख 'दैनिक टाइम्स' के (सन् 1910) अगस्त मास के अंक में विलियम राथेन्सटाइन और अन्य विद्वानों ने लिखा था कि हम लोग भारत की उन्नत कलाओं में, भारतीयों की धार्मिक भावनाओं और ईश्वर के प्रति उनके गंभीर चिंतन में वैभवपूर्ण श्रेष्ठता संबंधी पर्याप्त वर्णन पाते हैं। विशेषता अत्यंत स्पष्ट है कि व्यक्ति या समाज के साधारण गुणों तथा भावों को गौण करके,उनकी विशिष्ट सामाजिक तथा आध्यात्मिक छवि को चित्रित करके, कला उस समाज और सभ्यता को प्रतिबिंबित ही नहीं करती; वरन् अमरता प्रदान करती है। भारतीय कला धार्मिक सत्य और नैतिक आदर्शों का वहन करती रही है और सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों को उत्तेजित भी । इनके माध्यम से भारतीय साहित्य को सामाजिक एवं साहित्यिक आंदोलन के प्रसार हेतु सहायता मिलती है । डॉ.राधाकृष्णन के विचार में– साहित्य और कला राष्ट्रीय चेतना के अत्युत्तम प्रतीक हैं। राष्ट्र की कला जन- जीवन से उत्साह पाती हैं और बदले में उसे अनुप्राणित करती हैं। कला सामाजिक वस्तु है। कलात्मक कृतियां वैयक्तिक अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। कला राजनीति के स्वरूप को भी प्रभावित करती है क्योंकि कला कलाकार की कृति है और यह कृति समाज की चित्त– संचित परिस्थितियों का दर्पण है । जहां कलाकार स्वयं ही सामाजिक परिवेश और तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होता है वहां अपने भावों तथा अनुभवों को अपनी कला में मोती– सा पिरोता है। वह अपने जीवन के उथल–पुथल भरे अनुभव को साहित्यिक विधाओं के माध्यम से प्रस्तुत करता है और इसीलिए कलाकार को समाज का सृष्टा भी कहा जाता है।

मध्यकालीन हिन्दू कला

मध्यकाल में दसवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक भारतीय कला को जीवित रखने का श्रेयपाल,जैन तथा गुजरात शैलियों को ही है। इस युग में अधिकतर पुस्तकों के दृष्टांत चित्र ही प्राप्त हुए हैं। इस समय मूर्तिकला प्रायःसमाप्त सी हो गयी थी। हमें इस बारे में बंगाल, बिहार और नेपाल की ऐतिहासिक पुस्तकों से जानकारी प्राप्त होती है। इन पुस्तकों में मौजूद चित्रों में रंगों का विशेष महत्व है। इस बारे में रायकृष्ण दास ने कहा है कि इनमें लाल,नीले,पीले,सफेद तथा काले रंगों एवं इन रंगों के मिश्रण से बने बैंगनी,हरे,गुलाबी, फाख़ताई आदि रंगों का ही प्रयोग किया गया है। यहाँ पर सोने का प्रयोग नहीं किया गया है।[31] ये शैलियां इस युग की प्रमुख शैलियां मानी जाती हैं।जोकि पाल,जैन, गुजरात एवं सेन शैलियों के नाम से विख्यात हैं। इन शैलियों में समानता अधिक दिखाई देती हैं। अतःइनमें अंतर कर पाना दुरुह कार्य है।

पूर्व भक्ति कालीन पृष्ठभूमि में दरबारी संस्कृति उदासीन हो गई। तत्कालीन मंदिरों में देवदासी प्रथा का दुरूपयोग होने लगा। इन देवदासियों को तांत्रिक-धर्म में भी शामिल किया जाने लगा। इससे मंदिरों में रत्यात्मक मूर्तिकला का भी विकास देखा जाता है। इससे प्रत्येक मंदिर में इस समय की एक लौकिक कला का झुंड दिखाई पड़ता है। इन मूर्तिकारों ने अपनी कला के प्रदर्शन के लिए मानवीय संवेदनाओं के प्रत्येक पहलू का मूर्तरूप, मंदिरों की दीवारों पर चित्रित किया। इस प्रकार भक्तिकालीन कलाओं में विभिन्न रूप देखे जाते हैं। एक ही समय में,दक्षिण की कलाओं में, जहां भक्ति के कई स्तर देखे जा रहे थे,वहीं उत्तर भारत की कलाओं में भी विभिन्नता देखी जाती है। यहाँ कला के मुख्य केंद्र बंगाल, बिहार एवं नेपाल का क्षेत्र था। जहाँ मध्यकालीन नाटकीय कलाओं में कई प्रयोग देखे गये।

---

[31]भारतीय कला परिचय,श्रीमती कुसुम दास,उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी1977, पृ सं - 101

पाल शैली: नवीं शताब्दी में पाल राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था। हालांकि इन का राज्य काल बंगाल में आठवीं शताब्दी से प्रारंभ हो गया था। इस वंश के राजाओं का जन्म-स्थान पूर्वी भारत था। इस प्रकार इस राज्य की स्थापना पूर्वी भारत के प्रदेशों में हुई परंतु बाद में ये उत्तरी भारत के मुख्य राज्यों में माने गये। पाल शैली के ग्रंथों में पाल राजाओं कलाओं का उल्लेख है। इस कारण से इस शैली को पाल शैली कहना उपयुक्त होगा। इन राजाओं की छत्रछाया में मूर्तिकला तथा चित्रकला; दोनों ही बहुप्रचलित हुईं। बंगाल एवं बिहार में यह शैली 13वीं शताब्दी तक जीवित रही परंतु नेपाल में यह 16वीं शताब्दी तक रही। ये चित्र पुस्तकों के रूप में ताड़पत्रों पर बने हैं एवं ये पाल पुस्तकें नेपाल, कलकत्ता, काशी के कला भवन तथा बड़ौदा के संग्रहालय आदि में रखी हैं।

ये चित्र पुस्तकों में दृष्टांत चित्रों के रूप में हैं एवं महायान की पुस्तकों में विशेषकर पाये जाते हैं क्योंकि पाल के राजाओं ने क्षत्रिय होते हुए भी नवीं तथा दसवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म को अपना लिया था। इस प्रकार के दृष्टांत चित्र नालंदा,बंगाल,विक्रमशिला एवं नेपाल में दसवीं-तेरहवीं शताब्दी में बीच बने मिले हैं। इस शैली का प्रचार नेपाल तथा तिब्बत तक हुआ। इसके प्रमाण उनके शिल्प,काँसे की मूर्तियों एवं चित्रकला के साथ ही इस शैली के प्रमुख केन्द्र बंगाल, बिहार तथा नेपाल थे।पाल राज्य की महान उन्नति रामपाल (1084-1126ई.) के राज्य में सबसे अधिक हुई। इस शैली के प्रमुख कलाकार धीमन उनके पुत्र वितपाल हुए हैं जिन्होंने चित्रशैली में बहुत उन्नति की।

चित्रकला

भक्तिकालीन चित्रकला पर विस्तार पूर्वक विचार करने से पहले पाल चित्रकला की परंपरा की ओर प्रकाश डालना आवश्यक है। पाल राजाओं के समय बौद्ध धर्म, स्तूप तथा भारत के

तीर्थस्थानों का चित्रण ताड़पत्रों के ऊपर हस्तलिपि (Manuscripts) चित्रों के रूप में हुआ। इन चित्रों के पास ही चित्र की व्यवस्था लिखी होती थी। कई बार इन ताड़पत्रों के दोनों ओर हाशियों पर चित्र का विवरण लिखा जाता था और बीच में चित्र बनाया जाता था या बीच में विवरण और हाशियों पर चित्र बनाए जाते थे।

इन चित्रों की शैलियां गुप्त काल के अंतिम दौर पर निर्भर थीं। इनके ऊपर उस समय की मूर्तियों की शिल्पकला का प्रभाव पड़ा जो हमें स्पष्ट दिखता है। इन चित्रों के विषय मुख्यतः बौद्ध धर्म पर ही आधारित थे। पाल राज्य के समय में 8000 ज्ञान की पुस्तकों का विवरण आज भी मिलता है। तिब्बतीय इतिहासकार तारानाथ के अनुसार धीमन तथा वित्तपाल ही इस चित्रकला की शैली के जन्मदाता माने गये तथा इस शैली के ये ही मुख्य कलाकार भी थे।

शैली के अनुसार इन चित्रों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहली 10 वीं शताब्दी में बंगाल, बिहार तथा नेपाल में पाए जाने वाले महायान के बौद्ध पुस्तकों के चित्र। दूसरी शैली के चित्र, जिनमें ह्रास के चिह्न कम हैं, उन्हें पूर्व मध्यकाल के चित्रों के साथ मिला दिया गया है। इस कला पर बौद्ध शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। इस प्रकार के चित्र नेपाल ,बंगाल एवं बिहार में पाये गये हैं।

पाल शैली के चित्र ताड़ पर बने हैं। ये 22बटे एक/चारx दो बटे एक/चार की नाप मेंहैं [32]। कहीं-कहीं पर चित्र के अक्षर श्वेत हैं तथा पृष्ठभूमि काली बनाई गई है। इन ताड़पत्रों के बीच में,चौकोर आकार में महायान के देवी,देवता या बौद्ध धर्म के चित्र बनाये गए हैं जिनका विषय जातक की कहानियों में से लिया गया है तथा ये खुद में बौद्ध धर्म का प्रभाव दिखाते हैं। इन चित्रों में लाल, नीले, सफेद और काले रंगों का प्रयोग किया गया है एवं इन रंगोंके मिश्रण से बने

[32]वही,पृ सं -103

रंगों का भी प्रयोग हुआ है। इनमें कहीं-कहीं पर चटकीले रंगों का भी प्रयोग किया गया है। इनके रंगों में बहुत मिलावट की गई है। सुनहले रंग का प्रयोग यहाँ पर नहीं किया गया है। बाद के हस्तलिपि चित्रों में काले रंग के कागज़ का भी प्रयोग किया गया है। इन चित्रों पर अजन्ता के चित्रों का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। किसी-किसी चित्र में महायान की आकृतियों का भी चित्रण है। इन चित्रों की भिन्नता केवल नेपाल के चित्रों में दिखती है जिसमें आकृतियों का मुख मंगोल ढ़ंग का बना है। पाल शैली के चित्रों में सवा चश्म चेहरे चित्रित हुए हैं। साथ ही इसमें लंबी आंखों को भी महत्व दिया गया है।

कला एवं चित्रकला का बेहद करीबी संबंध है। ये दोनों कलाएं युग में समाज की सभ्यता एवं संस्कृति की ओर प्रकाश डालती हैं। अतः किसी भी काल को समझने तथा अध्ययन के लिए कलाओं को प्रयोग में लाया जाता है। इस पर हम टालस्टाय के शब्दों का स्मरण कर सकते हैं। उन्होंने कहा है कि कला एक मानवीय चेष्टा है जिसमें मनुष्य अपने जीवन में साक्षात्कार हुई भावनाओं को ज्ञान पूर्वक कुछ रेखीय संकेतों से प्रकट करता है। इससे उन भावनाओं का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् वह उस कला में स्वयं को आत्मसात कर लेता है कला की इन प्रवृत्तियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि कला कलाकार की कल्पना की सौंदर्यात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। साहित्य, संगीत, चित्रकला एवं मूर्तिकला का जन्म कलाकार की इन्हीं कल्पनाओं की अनुभूति से हुआ है।

चूंकि भारतीय कला अध्यात्म और धार्मिक वातावरण से जुड़ी रही इसलिए भक्तिकालीन साहित्य में भारतीय कला को बने रहने का एक अत्यन्त अनुकूल परिवेश मिला। माना जाता है कि धर्म और कला का प्राचीन संस्कृतियों से अविच्छिन्न संबंध है जिस प्रकार अध्यात्म, दर्शन,धर्म और चरित्र की विशिष्ट उपासना के द्वारा अनंत सर्वव्यापक रस– तत्व तक पहुँचने की सतत् चेष्टा भारतीय संस्कृति में पाई जाती है, उसी प्रकार सौंदर्य की आराधना के

द्वारा रस को आत्मसात करने का प्रयत्न भारतीय जीवन– पद्धति की विशेषता रही है । संपूर्ण भारत में कला के रूप- धार्मिक स्मारक, मंदिर, चैत्य,देवी– देवताओं की मूर्ति-कला, संगीत आदि का साहित्य के साथ-साथ अभूत पूर्व विकास होना स्वाभाविक था । कला के क्षेत्र में गुप्तकाल को कला का स्वर्ण युग माना जाता है । भक्तिकाल में मुगलों के आगमन से भारत में कला ने हिंदू– इस्लामिक मिश्रित कला का रूप धारण कर लिया था । अकबर से लेकर शाहजहाँ तक का समय लगभग सौ वर्षों का समय (1556 ई. से 1658 ई.) तक रहा ।

यह समय मुगलकालीन कला के उदय और उत्कर्ष का काल रहा है । हिन्दुस्तानी राजस्थानी चित्रकला मुगल चित्रकला की समकालीन थी । भारतीय राजस्थानी चित्रों में लोकजीवन अभिव्यक्त होता था । सामान्य जीवन में जो प्रेम, श्रृंगार और भक्ति के भाव थे वे ही चित्रों में रस प्रदान करते थे । साथ ही 'राष्ट्रीय या जातीय जीवन की दृष्टि से राजस्थानी चित्रकला का पद ऊँचा माना जा सकता है पर रेखा और रंगों की निपुणता, शबीह (वह चित्र जो किसी व्यक्ति के सूरत शक्ल के ठीक अनुरूप बना हो) लगाने की सच्चाई, व्यक्तिगत चरित्र की चित्रात्मक अभिव्यक्ति आदि ऐसे गुण हैं जिनके कारण मुगल चित्रकला– प्रेमियों के विशेष आदर के पात्र बन गए हैं ।'[33]15वीं शताब्दी में बाबर ने पानीपत की लड़ाई जीत कर भारत में अपना शासन स्थापित कर लिया था । मुगल शासक हुमायूँ कला के प्रति प्रेम भावना रखता था । कहा जाता है कि अफ़गानी दबाव के कारण जब उसे भारत छोड़कर ईरान जाना पड़ा तब ईरानी शाह तहमास्प (1524 -76) ने (जिसे चित्रकला के साथ गहरा प्रेम था) उस पर जो उपहार– वृष्टि

[33]वासुदेव शरण अग्रवाल रचना - संचयन(हिंदी खंड),चयन एवं संपादन,कपिला वात्स्यायन,साहित्य अकादमी,दिल्ली,2012 पृ.सं-364

की,उसमें चित्र और चित्रकार भी शामिल थे। इनमें मीर सैयद अली एक अत्यंत कुशल चित्रकार था। कहते हैं कि काबुल में रहते हुए ही सन् 1550 में हुमायूँ ने किस्सये अमीर हम्जा नामक ग्रंथ के चित्र तैयार करने की आज्ञा सैयद अली को दे दी थी। आगे अकबर ने भी कलाएं व सांस्कृतिक विषयों में अधिक रूचि ली। देखा जाता है कि अकबर के दरबार में नवरत्न की परंपरा का आविर्भाव हुआ। इस नवरत्न परंपरा में साहित्य और कला से संबंधित विविध गतिविधियां हुआ करती थीं। कहा जाता है कि कला और साहित्य का उद्धार करने के लिए सम्राट ने एक महान स्वप्न देखा जिसको फतेहपुर सीकरी के नाम से जाना जाता है। सीकरी के पत्थरों की दीवारों पर सफेदी की घुटाई करके बहुत से भित्ति– चित्र बनाए गए। इस तरह के चित्र हिंदू मंदिरों के देवालयों और महलों में बनाए जाते थे। उनमें से कुछ ईरानी शैली और कुछ ठेठ भारतीय शैली के थे। इनचित्रों में भारतीय और मुगल चित्रकला का समन्वय प्रस्तुत होता है। माना जाता है कि सीकरी की दीवारों पर चित्रकला के लिए भारत, तुर्की व मध्य एशिया के कई चित्रकारों को बुलाया गया। यह भी एक कारण है कि फतेहपुर सीकरी के चित्रों में मिश्रित चित्रों की शैली प्रस्तुत होती है। सीकरी निर्माण के मौजूद चित्रकारों में अब्दुस्समद और मीर सैयद अली-दो ईरानी चित्रकारों को छोड़कर अन्य सभी हिंदू थे। फतेहपुर सीकरी की दीवारों में वर्णित चित्र हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का उपयुक्त उदाहरण है। इन चित्रों के माध्यम से तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिवेश में अंतर किया जा सकता है। मुगल काल में मुगलों का शासन अवश्य था परंतु विभिन्न कलाओं के परिप्रेक्ष्य में दोनों संस्कृतियों का मेल विशिष्ट था।

1100 ई. से 1500 ई. तक चले आते गुजराती चित्र शैली के नोकीले डेढ़ चश्मी शबीह वाले चेहरों का अंकन समाप्त हो गया। उसकी जगह गोलाई लिए एक चश्मी शबीह वाले चेहरों ने ले ली। 16वीं सदी के गीत– गोविन्द और बिल्हण की सचित्र चौर- पंचाशिका पुस्तक की

मुखाकृतियां अर्ध– चित्र या एक चश्मी शबीह वाली हैं ।[34]' अकबरकालीन सचित्र ग्रंथ हम्ज़ानामा और रज़्मनामा के कुछ चित्रों में हिंदू राजस्थानी चित्रशैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है । अकबर द्वारा सचित्र ग्रंथों का निर्माण कराया गया । इसमें सम्राट की निजी रूचि और प्रेरणा थी । इसके फलस्वरूप सबसे पहला सचित्र ग्रंथ हम्जानामा है । इसके सौ चित्र आज भी सुरक्षित हैं जिसमें से चार चित्र भारतीय संग्रहालयों में मौजूद हैं । कुमार स्वामी ने बोस्टन के संग्रह से य़ाफ्तनइस्कंदर नाम का एक हम्ज़ा चित्र प्रकाशित किया था जिस चित्र के निचले भाग में एक मछुआरा नदी में बहते हुए बालक सिंकदर को उठा रहा है । ऊपर के हिस्से में एक मंदिर, नगर एवं कल से सिर पर रखते हुए पनघट की स्त्रियों का दृश्य है । जहाँगीर कला प्रेमी शासक था । साथ ही वह चित्रों का विलक्षण पारखी था । वह अपने चित्रकारों की असल– नसल से पूरा परिचित था । चित्र देखकर ही जान जाता कि इसमें रंग किसने भरा है, शबीह किसने लगाई है इत्यादि । जब कभी जहाँगीर लुभावने प्राकृतिक दृश्य को देख लेते तो उसका सौंदर्य प्रेमी मन तरंगित हो उठता और वे तुरंत उसे चित्रित करने की आज्ञा दे देते । पशु– पक्षी, फूल– पत्तियों में उनकी गहरी रूचि थी । जहाँगीर द्वारा चित्रित सारंग दिल हिरन और आलम गुमान गजराज आज भी अमर चित्र है ।

भक्ति युग में भित्ति चित्रों के साथ– साथ सचित्र ग्रंथ लेखन की परंपरा पर अत्यधिक ध्यान दिया गया । 1100 ई. से 1600 ई. के अंतर्गत बंगाल में पाल शैली और पश्चिम भारत में चित्रशैली द्वारा बेहतरीन सुचित्र ग्रंथों की परंपरा विकसित हुई । इन सचित्र ग्रंथो की एक विशिष्टिता थी कि सचित्र ग्रंथ और फुटकर चित्रावली के रूप में अनेक भावनात्मक चित्रों का निर्माण किया गया था । राजस्थानी चित्र शैली मनोभावों की अभिव्यक्ति करने में अधिक समर्थ

---

[34]वही,पृ.सं-365

दिखाई देती है । इस शैली में मुख्यतः रसात्मक चित्रों का निर्माण हुआ है । श्री आनंद कुमारस्वामी के शब्दों में कहा जाए तो राजस्थानी चित्रशैली विश्व की महान शैलियों में स्थान पाने योग्य हैं। 'राजस्थानी चित्रों के विषय बहुत विस्तृत हैं। राधा और कृष्ण की लीला, अनेक प्रकार की नायक–नायिकाएं, रामायण– महाभारत की कथाएं, ढ़ोला– मारू, माधवानल-काम– कंदला सदृश लोक– कथाएं, स्त्री– पुरूषों के श्रृंगार– भाव, ऋतुओं के चित्र,बारहमासा, राजाओं प्रतिकृतियाँ शबीह आदि इन चित्रों के विस्तृत विषय हैं लेकिन इन सबसे बड़ी विशेषता रागमालाओं का चित्रण है जिसके लिए राजस्थानी शैली भारतीय चित्र– कला में अनोखा स्थान रखती है'[35] । भारतीय चित्र शैली में हिमाचली चित्रकला का भी महत्वपूर्ण स्थान है । भक्तिकालीन चित्रों में,भागवत के दशमस्कंध में कृष्ण की बाल लीला और यौवन गत विलास लीला का बहुत मनोहर एवं उन्मुक्त वर्णन चित्रित हुआ है । काँगड़ा चित्रशैली में कृष्ण का गोचारण, वंशी मोहिनी तान, गोवर्धन– धारण, दान– लीला, कालियदमन आदि अनेक लीलाओं के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, नल– दमयंती और सत्यवान की कथाएं भी चित्रों के विषय हैं । कांगड़ा चित्र– शैली पर आनंद कुमार स्वामी ने लिखा है कि– वह अपूर्व सुख और थिरकन जो काँगड़ा प्रदेश के चित्रों को पहले– पहल देख कर मैंने अनुभव की, मैं कैसे भूल सकता हूँ ? कैसे यह बात संभव हुई कि इस मोहिनी चित्रराशि का परिचय पश्चिम में अब तक हमारे पास तक न पहुँच सका ? एक रेखाचित्र जिसमें तब तक रंग नहीं भरा गया था, विशेष रूप से मेरे मन को खींच लिया। चित्र में दो प्रेमी चाँदनी रात में , सरोवर के तट पर , मंडप के नीचे संगीत का सुख लेते हुए दिखाए गए थे । चित्र मन को माया के कांतिमय जगत में हरे लिए जाता था । वह

---

[35]वही,पृ.सं-368

देखने में सरल पर मुक्तक गीत की तरह चुभता हुआ था। इस शैली के जो सर्वोत्तम चित्र हैं उन्हें देखते हुए कहना पड़ता है कि काँगड़ा की चित्रकला ठेठ आह्लाद का रूप है। जो इन चित्रों का ध्येय है उससे अधिक की आशा हम उनसे न करें पर मन के भावों का उद्घाटन और किन चित्रों की रेखाओं में इतनी लुनाई के साथ मिलता है ? काँगड़ा के चित्रों में निष्कपट ढ़ंग से मन के भाव उघाड़े हुए मिलते हैं। उनकी सहज छूट कुछ ऐसी है जैसी पुराने रासोगीत या पवाड़ों की होती है जिनका मिठा सहृदय में घर कर लेता है। संसार की कला में यह बेजोड़ बात है। काँगड़ा चित्रशैली की तरह गढ़वाल में भी इन चित्रों की रचना की जाती थी। इस प्रकार भारतीय चित्रकला में विशिष्ट चित्रों का समावेश दिखाई देता है। भारत में कलात्मक सौंदर्य, सृष्टि की अनुपम कला– निधि है। इस शैली में जितने अधिसंख्यक सुंदर और रसात्मक चित्रों का आलेखन हुआ है उतना अन्य किसी देश में नहीं मिलता। इन चित्रों का सामूहिक संग्रह करने और प्रकाशन की आवश्यकता है जिससे मध्यकालीन भक्ति और श्रृंगार-प्रधान जीवन का सरस और अंतरंग परिचय साक्षात् मिल सके।

भारतीय नाट्य परंपरा में सभी कलाओं का अंतर्संबंध है और रंगमंच में सभी कलाओं का समावेश। भारतीय कलाकारों ने भक्त के रूप में अपनी कलाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की। जब एक चित्रकार अपनी कल्पना के माध्यम से कृष्ण एवं गोपियों के मिलन के चित्र को रेखा में चित्रित करता है,उस समय कलाकार अपनी कला में आत्मा और परमात्मा के चिर-मिलन की भावना को दृश्यों के माध्यम से चरित्र में प्राण-तत्व भर लेता है। माना जाता है कि वाल्मीकि ने रामायण लिखने के पहले ही चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला एवं संस्कृत साहित्य के रास्ते से राम के चरित्र का अवलोकन कर लिया था। कलाकार भी मूर्ति गढ़ने के पहले ही अपने विषय को प्रत्यक्ष कर लेता है। भले ही स्थूल–चक्षु से बाद में देखता है।

दक्षिण भारत की भाँति ही उत्तर, पश्चिम एवं पूर्वी भारत में भी ऐसी समानांतर साहित्यिक और रंगमंचीय पद्धति का विकास हुआ जिसके प्रमुख चरित्र राम और कृष्ण थे। उत्तर भारत में नाट्य विधा के इतिहास को पूर्वी भारत (विशेषतःअसम, बंगाल और बिहार) तथा पश्चिमी (विशेषत या गुजराती व राजस्थानी) भारतीय भाषाओं की साहित्यिक गतिविधियों के संदर्भों में देखा जाता है । वास्तव में असमिया, बांग्ला, मैथिली, गुजराती आदि की पूर्वावस्था की रचनात्मक अवधि उत्तर भारत रंगमंचीय पद्धति का सामान्य आधार है। यह अब मुख्य रूप से ब्रज भाषा, अवधी, हिंदी और अन्य भारतीय अन्य भाषाओं से संबद्ध है। भले ही वर्तमान में हम कृष्ण या राम पर आधारित नाट्यविधाओं को लोकनाट्य अथवा परम्परा शीलनाट्य शैलियां कह दें लेकिन भारत के रंगमंच के इतिहास में शब्द, गतियां ध्वनि पर आधारित व्यापक रंगमंचीय पद्धति साहित्यिक विकास का अभिन्न अंग रही है । इन विधाओं के विकास में,विशेषतःलघु चित्रकला (मिनिएचर पेंटिंग) की विविध कृतियों का विशेष योगदान रहा है।

विभिन्न देशों की रंगमंचीय परंपरा के इतिहास में बतौर साक्ष्य माना जाता है कि चित्रकला और रंगमंच के बीच एक अटूट संबंध– सूत्र हैं। ये दोनों कला के माध्यम एक– दूसरे से अभिप्राय और व्यवहार ग्रहण करते हैं। कला– रूढ़ियां निर्धारित करने में दोनों एक– दूसरे के सहायक और निर्धारक होते हैं। भारतीय नाटकों में साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने चित्रकला एवं रंगमंच के इस आदान–प्रदान के संबंध का विश्लेषण करते हुए रंगमंच के रूप निर्माण समेत अनेक प्रदर्शन– रूढ़ियों के बारे में रोचक निष्कर्ष निकाले हैं। उनके अध्ययनों की प्रमुख स्थापना है कि 'चित्रकला में जिन रूढ़ियों का विकास शताब्दियों में होता है उन्हें रंगमंच ग्रहण कर लेता है। चित्रकला के कला– व्यवहार और विषय रंगमंच में स्वीकार कर लिए जाते हैं

और उनके आधार पर दृश्य– निर्माण और रंग – सज्जा के तत्वों व रूढ़ियों का विकास होता है। वास्तव में हमें रंगमंच को एक दृश्यकला के रूप में देखना चाहिए क्योंकि रंगमंच एक ओर साहित्य का अंग है तो दूसरी ओर चित्रकला और मूर्तिकला का वंशज है। भारतीय राज्यों की प्रतिष्ठित चित्रकला, दृश्यगत परिकल्पनाओं की मानसिक संक्षिप्तिका है। यहाँ चित्रकार एक ही चित्र के अंतर्गत कई झाँकियों, घटनाओं तथा कार्य– व्यापार का चित्रण करता है। इन चित्रों में प्रस्तुत पात्रों का विन्यास इतना नाटकीय होता है कि उनमें आलेखित कथा– प्रसंग रंगमंचीय– दृश्य और झाँकियों – से लगते हैं। भारतीय लघु चित्रों में अंकित नायिका भेद और कृष्ण रास आदि के चित्र, प्राचीन मंदिरों की भित्तियों पर संगीत, नृत्य प्रदर्शनों का अंकन करते हैं। अजंता के भित्ति चित्रों से लेकर मध्ययुगीन मंदिरों के उत्कीर्ण प्रतिमाओं तक पुराणों व गाथाओं के नाटकीय भंगिमाओं में प्रस्तुत ऐसे कितने ही दृश्य हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय रंगमंच कला में चित्र कला का बहु –प्रभाव है। भक्ति युग में जब चित्रकार लीलाओं के लघुचित्र बना रहे थे, उसी समय, मंदिरों में भक्ति काव्य-गायन और कीर्तन से रामलीला और रासलीला का प्रवेश भी हो रहा था।

मूर्तिकला

मूर्तिकला मध्यकालीन सामाजिक जीवन में धर्म-संस्कृति को व्यक्त करने वाले महत्वपूर्ण कला तत्व का नाम है। श्वेताश्वर उपनिषद्में 'भक्ति' शब्द का उल्लेख हुआ है जिसमें ईश्वर की प्रतिमा का अनुष्ठान स्वाभाविक माना गया। उपनिषदों में ईश, ईश्वर, परमेश्वर, रुद्र, शिव और महेश्वर का उल्लेख हुआ है। पुराणों और महाकाव्यों में अपने वैदिक देवताओं की उपेक्षा करके उन्हें दिक्पाल के रूप में माना गया है। अन्य देवताओं की तरह रुद्र शिव प्रधान माने गये। महापुरुषों

को भी देवताओं का दर्जा मिला। राम, कृष्ण, अर्जुन, गौतमबुद्ध, महावीर प्रभृति नरपुंग वही थे जिन्हें देवता माना गया और प्रतिमाएँ भी बनीं। बहुत संभव है कि जब इन देवताओं की प्रतिमाएं बनने लगीं तो उन्हें साधारण,निम्नस्तर के आर्य और आर्येतर जातियों की देव– प्रतिमाओं के ही आदर्श पर गढ़ा गया हो। तदानुसार गौतमबुद्ध, विष्णु, जैन व यक्ष– यक्षिणी की खड़ी मूर्तियों के आदर्श पर ही स्थलाकृतियां बनी होंगीं। मूर्ति पूजा और मूर्तिकला के विकास के लिए तब यह ज़रूरी नहीं था कि तुरंत देवताओं की मानवाकृति– युक्त प्रतिमाएं बनने लगी हो। वैदिक उच्च वर्गीय आर्य साधारणतः मूर्तिपूजक नहीं थे और जब कालांतर में उन पर समकालीन मूर्तिपूजक जातियों का प्रभाव पड़ा तब वे कुछ हद तक देवताओं की प्रतिमा के रूप को अभिचार के रूप में महत्व देने लगे। जब भक्ति का प्रभाव आर्य धर्म पर छाने लगा तब ईष्ट देव की पूजा के निमित्त स्थूल साधनों की आवश्यकता पड़ी और विशिष्ट लक्षणों के द्वारा उनका बिलगाव किया जाने लगा। सो विशिष्ट लक्षण वाहन या आयुधों के माध्यम से देवता का अभिप्राय सिद्ध किया जाने लगा जैसे त्रिशूल या वृष या दोनों से शिव का तथा चक्र से सूर्य या विष्णु का संकेत हुआ। प्राचीन ग्रंथों से मालूम होता है कि भारतीय धार्मिक कला सांकेतिक है। यद्यपि वेदों में देवताओं की मानव– प्रतिमा स्पष्ट नहीं है तथापि वेदों से भारतीय मूर्तिकला ने बहुत कुछ लिया है। जैसे– विस्तृत आकाश में विचरने वाले सूर्य को सुंदर पंख युक्त पक्षी सुपर्णा माना गया या तेज दौड़ने वाला अश्व। सूर्य की मूर्तियों में इस भावना को ही स्थूल आधार दिया गया। वेद में कई बार अग्नि की 'वृष' से तुलना की गई है और अग्निदेव को 'वृष' भी कहा गया है। अग्नि और रुद्र का घनिष्ठ संबंध है और आगे चलकर शिव का वाहन वृष को माना गया। इसी प्रकार इन्द्र का वाहन 'हाथी' मानकर इन्द्र की प्रतिमा का रूप निश्चित हुआ। विश्वकर्मा (ब्रह्मा) को वेद में सभी दिशाओं की ओर देखने वाला और हर तरफ हाथ फैलाने वाला कहा गया है। जब ब्रह्मा की प्रतिमा बनने लगी तब इसी भाव को ही आधार मानकर उन्हें चारों दिशाओं में सिर दिया गया

क्योंकि वे सभी दिशाओं की ओर देखने में समर्थ थे । इस प्रकार ब्रह्मा को चार मुख और चार हाथों से युक्त किया गया । ऐसे वैदिक साहित्य ने मूर्ति विज्ञान पर अपना प्रभाव छोड़ा है । उत्तर मध्यकाल में मूर्तिकला एवं वास्तुकला के माध्यम से विभिन्न मंदिरों या धार्मिक अनुष्ठानों में भक्त अपने आराध्य देव की अर्चना कर संतुष्ट होते थे । तत्कालीन युग में कला से प्रेम करने वाला कलाकार अकसर निम्न एवं साधारण वर्ग का प्रतिनिधि व्यक्ति होता था जो अपनी भक्ति को अपनी कला के माध्यम से प्रकट करता । यूं भक्त की कलागीत– संगीत, मूर्ति कला आदि रूप में परिलक्षित होती थी । इस तरह भक्त अपनी कला के माध्यम से भक्ति की धार्मिक क्रिया-प्रक्रियाओं में अपना योगदान देता था । धर्म स्वयं समाज में सर्वसाधारण व्यक्तियों की जीवन शैली का अभिन्न अंग था सो व्यक्ति व समाज की प्रतिभा एवं समृद्धि का उचित व्यय धर्म-संबंधी सभी उपक्रमों में किया जाना एक कर्तव्य माना जाता था । हिन्दी साहित्येतिहास के मध्यकाल में हिंदू धर्म भक्ति प्रधान धर्म है और भक्ति का मूल आधार है– व्यक्ति का अपने ईष्ट देव पर अटूट श्रद्धा समेत विश्वास होना । इसकी वजह से भक्त अपने आराध्य को सर्वशक्तिमान एवं सर्वोपरि मानता है । इसका विशिष्ट उदाहरण है कि जब कोई मूर्तिकार भक्त अपने ईश्वर की मूर्तियां बनाता है तो उसे सर्वशक्तिशाली रूप देता है । वह अमूमन मूर्ति के चार या आठ हाथों वाले देवी – देवताओं तथा दो, तीन, चार और पाँच सिर वाली मूर्तियों का निर्माण करता है । मैकडोनलड ने कहा है कि प्राचीन भारत की धार्मिक कला साहित्य से अत्यंत प्रभावित हुई है ।'[36] धार्मिक दृष्टि से भक्ति का युग परिवर्तनशील युग था । भक्तिकाल के आरंभिक दिनों में, वैदिक धर्म के स्वरूप में परिवर्तन दिखाई पड़ता है । अब वैदिक कर्मकांड की महत्ता कम होने लगी थी । साथ ही वैदिक देवताओं - इन्द्र, वरूण, अग्नि आदि बहुदेवों के स्थान पर मूल विष्णु की पूजा होने लगी । इन्द्र की केंद्रीयता को अपदस्थ करके विष्णु को ब्रह्म की मुख्य शक्ति के रूप में

---

[36]वही,पृ सं- 323

स्थापित किया गया । आगे चलकर विष्णु को ही दो रूपों में स्वीकार किया गया जिसे कृष्ण भक्ति धारा और राम भक्ति धारा नाम से अभिहित किया गया । इसके अतिरिक्त मध्यकालीन भारत में इस्लाम धर्म के आगमन से स्थापत्य कलाओं और धार्मिक स्थलों पर इस्लाम संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा जिससे खान–पान, रहन– सहन, शिक्षा– दीक्षा, साहित्य, स्थापत्यकला, मूर्तिकला एवं चित्रकला आदि में बदलाव आया । तुर्कों के आगमन से भारतीय स्थापत्यकला में परिवर्तन आया । भारतीय एवं विदेशी शैली के मिश्रण से गुजराती एवं जौनपुरी शैली का विकास हुआ । मुगल शासक स्थापत्य कला के प्रेमी थे । बाबर ने ग्वालियर, आगरा व सीकरी में इमारतें बनवाईं । शेरशाह सूरी ने सासाराम में एक मकबरा बनवाया जो मिश्रित शैली का नमूना है । आगरा का किला, दिल्ली का किला, फतेहपुर सीकरी, ताजमहल आदि मुगलकालीन स्थापत्य कला के सशक्त उदाहरण हैं । रायकृष्ण दास ने अपनी पुस्तक भारतीय मूर्ति- कला में कहा है कि मुसलमान विजेता मूर्तिपूजा के विरोधी थे । फलतः उनके प्रभाववश यहां के प्रस्तर शिल्प के केवल उस अंश में कला रह गई जिसमें ज्यामितिक आकृतियों व फूल– बूटे की रचना होती थी । मूर्तियों के प्रति राज्याश्रय के अभाव में ऊँचे दर्जे के कारीगरों ने अपनी सारी प्रतिभा अलंकरणों के विकास में लगाई । 15वीं शती में महाराणा कुंभा बहुत बड़ा वास्तु निर्माता हुआ । उसने अनेक विशाल मंदिर बनाये । अपने गुजरात– विजय का स्मारक- एक कीर्ति– स्तंभ भी बनाया जो एक सौ बाइस फुट ऊँचा है उसके बनाए मंदिरों में मुख्य कुंभ स्वामी विष्णु मंदिर है जिसे आज मीराबाई के मंदिर से पुकारा जाता है । वहीं अकबर की उदारता के चलते मानसिंह ने वृंदावन में गोविंद देव का विशाल मंदिर बनावाया । अकबर ने स्वयं आगरा का महल, जिसे आज जहांगीरी महल कहते हैं, भारतीय वास्तु को ध्यान में रखते हुए बनवाया । फतेहपुर–

सीकरी की पंच महल नामक इमारत में एक के ऊपर एक पाँच बारहदरियां हैं जो क्रमशःछोटी होती हैं। इसका भाव बिल्कुल मंदिर के शिखर की तरह है।

दक्षिण भारत में मूर्ति– मंदिर कला विद्यमान थी। कला– मर्मज्ञों ने मूर्ति कला को दो रूपों में प्रकट किया। एक संसृति का निर्देशन नटराज की मूर्ति और दूसरी शांति व स्थिरता की अभिव्यक्ति बुद्ध- मूर्ति। नटराज की मूर्ति को तांबे व पीतल धातु में ढ़ालकर बनायी जाती है। 15वीं शती से 16वीं शती में इसके कई रूप देखे जाते हैं। सबसे अधिक तांजर के वृहदीश्वर मंदिर में देखे जा सकते हैं। दक्षिण की अन्य कांस्य मूर्तियों में शिव के अनेक रूपों की, शिव भक्तों की, दुर्गा, लक्ष्मी, विष्णु, गणेश आदि देवी– देवताओं की तरह ही नृसिंह, राम नृत्य गोपाल, वेणुगोपाल आदि अवतार- संबंधिनी एवं हनुमान आदि की मूर्तियां प्रमुख हैं। भक्तिकालीन मूर्तिकला और मंदिरों के निर्माण के पूर्व प्राचीन काल में इस के बीज हमें किस रूप में दिखाई देते हैं, इस ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। इस प्रकार मध्ययुगीन मंदिरों के निर्माणों की आधारशिला को लोग जान सकेंगे।

उत्सव और प्रेक्षागृह

प्राचीन काल में मनोरंजन के लिए विभिन्न उत्सवों का आयोजन किया जाता था लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय नृत्तकों के लिए अभिनय गृह होता होगा क्योंकि प्राचीन ग्रंथों में इसका विवरण हमें नहीं मिलता लेकिन पुराने ग्रंथों में, राज्य द्वारा पहाड़ों की गुफाओं में दुमंजिले प्रेक्षागृह निर्मित किये जाते थे। इन्हीं तथ्यों से यह अंदाज लगाया जाता है कि मौकों एवं उत्सवों पर नाट्याभिनय और मनोरंजन के लिए मंच बनाए जाते थे। पहाड़ी गुफाओं का उदाहरण हमें छोटा नागपुर में रामगढ़ के खास मंदिरों के रूप में दिखाई देता है। यह मंदिर इसलिए खास है क्योंकि इस मंदिर में जन्मोत्सव, विवाह आदि धार्मिक उत्सव मनाएं जाते थे।

'नाट्यशास्त्र' में स्थायी रंगशालाओं की भी चर्चा है। राजभवन के भीतर तो निश्चित रूप से रंगशालाएं हुआ करती थीं। प्रायः संस्कृत नाटिकाओं में अन्तःपुर के भीतर अन्तःपुरिकाओं के लिए नृत्याभिनयशालाएं बनी होती थी।'नाट्यशास्त्र' में ऐसे प्रेक्षागृहों की संख्या भी दी गई है। साधारणतः ये नाट्यशालाएं तीन प्रकार की होती हैं जिन रंगशालाओं का आकार सबसे बड़ा होता है वे शालाएं देवों के लिए हुआ करती थीं। इन रंगशालाओं का आकार 108 हाथ लंबे वर्गाकार का होता था। जो रंगशालाएं त्रिभुजाकार की होती थीं वे 64 हाथ लम्बी होती थीं। दूसरी तरह के प्रेक्षागृह जो राजा के लिए बनाए जाते थे। वे तीन भुजाएं बत्तीस हाथ की होती थीं। इस प्रकार के प्रेक्षागृह अधिक प्रचलित माने जाते थे। लोगों के बीच जो राजा अधिक प्रभावशाली और समृद्ध हुआ करता था उसका प्रेक्षागृह भी अधिक वैभवशाली होता था। 'प्रतिमा' नाटक के आरंभ में ही नेपथ्यशाला के बारे में बताया गया है। राम के अन्तःपुर में एक नेपथ्य शाला थी जहाँ रंगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी जाती थी पर साधारण नागरिक अवसर के अनुरुप तीसरे प्रकार की अस्थायी शालाएं बनवा लेते थे। ऐसी शालाओं को बनवाने में बड़ी सावधानी बरती जाती थी। इन शालाओं को बनाने के लिए उपयोगी मिट्टी, भूमि और कल-पुर्जों का प्रयोग किया जाता था। प्रेक्षागृह बनाने से पहले मिट्टी को हल से जोता जाता था। भूमि मापन की प्रक्रिया में बेहद सावधानी बरती जाती थी क्योंकि ऐसी मान्यता थी कि यदि भूमि मापते समय सूत्र टूट जाएं तो रंगशाला के लिए भूमि अमंगलकारी मानी जाती थी। यदि कपास का सूत्र आधे में टूट जाए तो स्वामी की मृत्यु हो जाने की आशंका मानी जाती थी। ऐसा माना जाता थी कि यदि सूत्र चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता और तिहाई से टूट जाए तो राज कोप की आशंका होती थी। यदि हाथ भर धागा टूट जाए तो कुछ बुरा घटने की संभावना मानी जाती थी। इस प्रकार की मान्यताओं से यह माना जा सकता है कि लोगों के बीच प्रेक्षागृह बनाना एक उत्सव की तरह मनाया जाता था। प्रेक्षागृह के मंडप स्थापना के दिन समय और तिथि नक्षत्र आदि का पूरा ध्यान रखा जाता है। इसी तरह जब खंभों की स्थापना होती है तब

भी सावधानी बरती जाती है। माना जाता है कि यदि स्थापना के समय किसी भी कारण खंभा हिल जाए या खिसक जाए तो उपद्रव की संभावना बनी रहती है। वस्तुतःरंग गृह के निर्माण की प्रत्येक क्रिया मंत्र पाठ, बलि,पद पर पूजा-शुभाशुभ फलदायिनी मानी जाती है। भित्तिचित्र बनाना, चूना पोतना आदि क्रियाओं को प्रेक्षाशालाओं के निर्माण में अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता था।

जब कभी राजाओं की विजय यात्रा निकलती तब अस्थायी रंगशालाएं बनायी जाती थीं। इन रंगशालाओं के दो हिस्से हुआ करते थे। पहले स्थान को अभिनय स्थल बनाया जाता तथा दूसरे को प्रेषक स्थल बनाया जाता था। रंगशाला के अभिनयस्थल को रंगभूमि कहा करते थे। नेपथ्य के बाद पर्दा लगाया जाता था। जहाँ अभिनेतागण तैयार होते थे। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में भी प्रेक्षागृह उपलब्ध थे।

गुफाएँ और मंदिर

भारतीय तक्ष्ण-शिल्प के प्रमुख चार अंग हैं। गुफा,मंदिर,स्तंभ और प्रतिमा। प्रथम दो का संबंध नाटकीय अभिनयों के साथ भी पाया गया है। इस देश में पहाड़ों को काटकर गुफा–निर्माण की प्रथा बहुत पुरानी है। गुफाएँ दो प्रकार की हैं–चैत्य और विहार। चैत्य के भीतर एक स्तूप होता है और जन समाज के सम्मलित होने के लिए लंबा–चौड़ा बनाया जाता है। इस प्रकार की गुफाओं में कार्ली की गुफा श्रेष्ठ है। बौद्ध भिक्षुओं के मठ को विहार कहा जाता था। भारत में भाजा, कार्ली, एलोरा,अजन्ता जैसी गुफाएं मौजूद थी जिनका शिल्प लोगों के बीच प्रचलित था। ऐसा माना गया है कि एक गुफा में एक प्रेक्षागृह या रंगशाला का भग्नावशेष पाया गया है। मंदिरों से संबद्ध रंगशालाएं भी पायी गयीं जिस देवता का मंदिर हुआ करता था उसके चरित्र पर आधारित लीलाओं का आयोजन किया जाता था। मंदिरों से संबंधित रंगशालाओं में लीला प्रदर्शन देख कर लोग भगवत चिंतन में अधिक समय व्यतीत किया करते थे। भारत के उत्तरी

क्षेत्र में ब्राह्मण और जैन मंदिर अधिक देखे जाते हैं। जैन मंदिरों की आकृति में कभी –कभी दो मंडप होते हैं और एक वेदी के गर्भ गृह में परम शिखर बनाया जाता था। शिखर के ऊपर सबसे ऊँचे एक आंवला नुमा चक्र या गोला होता था जिसे आमलक कहा जाता है। इस आमलक के ऊपर कलश होता है। उसके ऊपर ध्वज दण्ड हुआ करता है। इसी तरह मंदिरों के गर्भ गृह के ऊपर द्रविड़ शैली की तरह कई मंजिलों का चौकोर मण्डप होता है जिसे विमान कहा जाता है। यह ज्यों ज्यों ऊँचा होता जाता है त्यों –त्यों उसका फैलाव कम होता जाता है। जहां स्थापत्य कला के अनुसार उत्तर भारत में शिखर बड़े –बड़े होते हैं वहीं दक्षिण भारत के मंदिरों में विमान हो जाते हैं। मंदिरों के गर्भ गृह में कई प्रकार के देवी- देवताओं की मूर्तियाँ बनी होती हैं। दक्षिण के चिदम्बरम् आदि मंदिरों पर नाट्यशास्त्र के बतलाये हुए विविध अंगहार चित्र बने होते हैं। पूर्वी भारत के मंदिर कोणार्क और भुवनेश्वर - मंदिरों में कई प्रकार के शास्त्रीय आसन की मूर्तियां बनी दिखायी देती हैं। इन गर्भगृहों और गुफाओं से भारतीय समाज को समझने में सहायता होती है। इस असाधारण कला को देखकर एक प्रसिद्ध अंग्रेज शिल्प–शास्त्री ने कहा था कि इन गुफाओं के निर्माण के लिए कहीं भी व्यर्थ ही छेनी का प्रयोग नहीं किया गया। भारतीय वास्तुकला का इस तरह का सामंजस्य संसार में बहुत कम मिलता है। आलोचकों ने इस सफलता का प्रधान कारण कलाकारों की भक्ति को ही बताया है।

खजुराहो के मंदिर

ये मंदिर उत्तरमध्यकाल में छतरपुर राज्य में बनाये गये थे। इन मंदिरों के बनने के समय को लेकर मतभेद है। कुछ विद्वानों के विचार से इनका समय 10वीं से 16 वीं शताब्दी कहा गया है परंतु कुछ लोगों के विचार से ये 10वीं - 11वीं शताब्दी के बीच में ही बने माने गये हैं। कुछ विद्वानों के विचार से इनका निश्चित समय 958 -1002 ई. कहा गया है। बुंदेलखंड में बहुत–सी महत्वपूर्ण इमारतें चंदेल राजाओं द्वारा दसवीं शताब्दी में बनायी गयी थीं। इस कारण इसे भी उसी समय का बना कहा जा सकता है। खजुराहो के मंदिर डागा तथा गांडा राजाओं के

द्वारा बनाये गये थे । यह भारतीय आर्य शैली में बना हुआ है । इस संप्रदाय के मंदिरों में भुवनेश्वर का मंदिर बहुत पुराना माना जाता है । खजुराहो 30 मंदिरों का समूह है । ये अपनी वास्तुकला की उत्कृष्टता तथा मूर्तिकला की सुंदरता के लिए विख्यात है । यहां के मंदिरों की अंदर और बाहर की दीवारें बहुत ही कोमल तथा भाव पूर्व दृश्यों के अध्युचित्रों से भरी हुई है ।

खजुराहो की मूर्तियों में गुप्तकाल की विशेषतायें विद्यमान हैं । इन में जिन घटनाओं के बड़े-बड़े दृश्य अंकित किये गये हैं वे इस काल की निजी विशेषताओं के सूचक हैं । इन दृश्यों में गति तथा अभिनय स्पष्ट दिखता है इस कारण इस काल को भारतीय मूर्तिकला का सबसे उत्तम काल माना जाता है । 64 योगिनी का मंदिर इसको स्पष्ट करता है । यह मैथुन तथा मद्य संबंधी कर्म-काण्डों से भरा हुआ है । यहां की मूर्तियां योग के द्वारा ही प्राप्त होती हैं- के सिद्धांतों पर आधारित है । यहां बनी मूर्तियों को थोड़ी दूर से देखने पर मूर्तियों की विलक्षणता को देखा जा सकता है । यहां का काँदरिया महादेव मंदिर बहुत प्रशंसनीय है। इस मंदिर का बाहरी रूप अंदर के रूप को बहुत सुंदर ढ़ंग से दिखाता है जो धीरे-धीरे चढ़ता चला गया है और एक ऊँचे शिखर में समाप्त हो गया है । यह एक छोटी प्रतिकृति संभालता है । यहां विस्मित कर देने वाली प्रेम संबंधी खूबसूरत मूर्तियां बनी हुई हैं । ये कोणार्क की मूर्तियों से अधिक सुंदर हैं ।

खजुराहो की मूर्तियों में मौलिकता का अभाव है । उस काल में मूर्तियां केवल सजावट की दृष्टि से बनाई गई थीं क्योंकि उस समय कलाकारों की विचार शक्ति क्षीण होने लगी थी । यहां बहुत सी मूर्तियां असावधानी से बनाई गई हैं । ये शरीर के रचना की दृष्टि से बहुत हद तक असंभव है ।

खजुराहो में कुछ मूर्तियां पश्चिमी सभ्यता की बनी मिली हैं जिनके शरीर की रचना अति उत्तम है । ये यहां की सबसे परिष्कृत मूर्तियां हैं । इन पश्चिमी सभ्यता की मूर्तियों से हमें स्पष्ट पता चलता है कि इस समय विदेशियों के आक्रमणों के कारण यह विशेष परिवर्तन मूर्तिकला में आया होगा।

कोणार्क मंदिर

कोणार्क के मंदिर में हमें मध्ययुगीन उत्तरी भारतीय हिंदू कला का चर्मोत्कर्ष देखने को मिलता है। यहाँ की कला उस समय के उत्तरी पूर्वी राज्य की (नवीं से तेरहवीं शताब्दी की) कला एवं गुप्तकाल के बीच के युग की कला को दिखाती है। यहाँ की कला गुप्त शैली से पूर्ण रूप से भिन्न है। यह मंदिर चन्द्रभागा नदी के किनारे बसा हुआ है। इसके निर्माण पर प्रारंभ दसवीं शताब्दी में हुआ था परंतु समाप्ति तेरहवीं शताब्दी में मानी गई है। सन् 1237 ई. में राजा नरसिंह वर्मा ने इस मंदिर को आधुनिक रूप देना प्रारंभ किया था। इस काल में कलाकारों की विचार-शक्ति क्षीण हो रही थी इसी कारणवश उनकी मूर्तियों में मौलिकता का अभाव हो गया था। इस समय मूर्तियां केवल सजावट की दृष्टि से बनाई जाने लगी थीं। इन मंदिरों की मूर्तियों के मुख मण्डल के कपोल स्थूल तथा उभरे हुए बनाये गये हैं। बल खाती देह का प्रदर्शन यहां से ही प्रारंभ हुआ जान पड़ता है। साथ ही इनमें वास्तविकता का ध्यान नहीं रखा गया है।

यहां पर सूर्य भगवान के मंदिर को बहुत महत्व दिया गया है। यह रथ के आकार का है जिसे सात घोड़े खींच रहे हैं तथा यह बारह जोड़ी पहियों पर टिका हुआ है। इसी कारण इस मंदिर को रथ भी कहा जाता है। इसको देखकर जान पड़ता है कि सूर्य भगवान आकाश मार्ग पर भ्रमण के लिए निकले हुए हैं। इस मंदिर की बहुत कुछ समानता उड़ीसा के सूर्य भगवान के रथ (मंदिर) में दिखती है। यह काला मेरु-मंदिर है और पुरी से 19 मील दूर उत्तर पूर्व में बना हुआ है। इसे सूर्य भगवान की उपासना के लिए बनवाया गया था। इसकी पद्धति विष्णु की पद्धति उपासना से बहुत मिलती है। इस मंदिर के निर्माण के लिए पत्थरों की कटाई की गई। मूर्तियां छेनी द्वारा बहुत कुशलता से काटी गई हैं परन्तु यह बहुत उन्नत नहीं है। इसका कारण भारत पर मुगलों के आक्रमणों का प्रारंभ माना जाता है। साथ ही कलाकारों की विचार-शक्ति की क्षीणता भी। ये हजारों की संख्या में बनी है। साथ ही ये भिन्न-भिन्न नाप की हैं। इन मूर्तियों के नाप की मूर्तियां कहीं से भी प्राप्त नहीं हुई। इन्हें व्यवस्थित किया गया है। ऐसा भास होता है

कि पूरी इमारत ही सजीवता से झूल रही है। रथ के पहियों पर जीवन की विभिन्न झलकियाँ चित्रित हैं। मंदिर का बाहरी अलंकरण मनुष्य के जीवन की विभिन्न झलकियों को दिखाता है तथा सूर्य की शक्ति का भी प्रदर्शन करता है। अंदर से यह हिन्दू मंदिरों के ही समान सादा बना हुआ है। कोणार्क की सर्वोत्कृष्ट कृतियां पशुओं की हैं जैसे शेर, घोड़ा इत्यादि। ये मूर्तियां बहुत ही सजीव जान पड़ती हैं।

संगीत– कला

साहित्य और संगीत का संबंध रोमांचक है। हिंदी साहित्य अपने शैशव से ही संगीत की गोद में पला है। विक्रम की नवीं शताब्दी के लगभग होने वाले सिद्ध तथा नाथ पंथी कवियों ने अपने पदों का गायन संगीत की राग-रागिनियों में किया है। जय देव तथा विद्यापति ने भी अपने पदों में राग-रागिनियों को आश्रय दिया है किंतु हिंदी साहित्य में, संगीत की राग-रागनियों में बद्ध पदों की गायन-प्रणाली की कड़ियाँ क्रमबद्ध नहीं मिलती है। यह नितांत सत्य है कि वीरगाथाकालीन मात्रा वृत्त काव्य गाये जाने के लिए ही लिखा गया था। मात्रिक छंदों को जन्म देने वाले प्राकृत और अपभ्रंश काल के शैल्यूष, मागध, चारण, भट्ट आदि जनता के गायक थे जिन्होंने मनोरंजनार्थ एक डफी पर गाये जा सकने वाले छंद रचे थे। मात्राओं का निदान होने के कारण ताल लगते ही छंदों में गेय गुण समाविष्ट हो जाता है। विद्वानों से छिपा नहीं है कि घत्ता और मदन-गृह इस प्रकार के छंद हैं जिनका प्रयोग नृत्य में भी होता है किंतु वीरगाथाकालीन काव्य में राग-रागनियों का विधान नहीं पाया जाता। सूफी–काव्य में भी संगीत का समावेश भाषा और दोहा-चौपाई शैली के कारण सहज रूप में तो अवश्य है किंतु इन कवियों ने भी अपने काव्यांशों की अवधारणा विशिष्ट राग-रागिनियों के अंतर्गत नहीं की है। रामकाव्य के अंतर्गत केवल तुलसी ने ही राग-रागनियों में अपने कुछ पदों की सृष्टि की। अतः सूफी तथा राम-भक्ति

काव्य की संगीत संबंधी विवेचना का अधिक प्रयास नहीं दिखाई देता । किंतु निर्गुण नामधारी संत काव्य में अवश्य राग-रागिनियों की व्यवस्था स्पष्ट दिखाई देती है ।

यद्यपि पद्यों की संगीतमय रचना अर्थात् पदों को राग विशेष में गाने का प्रचलन सिद्ध, नाथपंथी तथा संत कवियों में भी था किंतु इस प्रणाली का फलीभूत विकास कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में हुआ । सिद्ध, नाथपंथी तथा संत कवियों ने जनसाधारण को आकर्षित, अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रतिपादन और जनता में उन्हें प्रचलित करने के लिए अपने काव्य में संगीत का पुट दिया किंतु इन कवियों ने जितना प्रयास अपने धार्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया उतना प्रयास गेयत्व के लिए नहीं कर सके । विभिन्न पुजारियों और भक्तों का चरम उद्देश्य अपने आराध्य देव की लीलागान और छवि का गान करना था । आध्यात्मिक विरह-बाण से बिंधे, इनके व्यथित हृदय से गाये बिना भी रहा नहीं जाता था । अतः प्रिय-मिलन की आशा में ये जीवन पर्यन्त अपनी हृदय तंत्री के स्वर को बाह्य वाद्यों के स्वरों में घुला मिलाकर उसके माध्यम से उस अव्यक्त को रिझाने की चेष्टा में लीन रहे । अपने इष्ट की पूजा-अर्चना के लिए भक्ति की तन्मयता में गान के रूप में प्रकट होने वाले पद ही कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य की प्रायः अधिकांश निधि हैं । इस प्रकार अपने प्रेमाधिक्य से हृदयगत अनुभूति को 'संगीत और काव्यमय नवस्वर' में झंकृत करके, कृष्ण-भक्तिकालीन कवियों ने संगीत और साहित्य के समन्वय की धारा को परम वेगवती कर दिया । विश्व के साहित्य में काव्य और संगीत का इतना सुंदर मेल विरले दिखाई पड़ता हो । बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट (old testament) के सामगान (Psalms) अवश्य ही इस नैसर्गिक समन्वय के श्रेष्ठ निदर्शन हैं परंतु हिंदी के भक्तिकाल की प्रायः आद्योपरांत सामग्री, चिरंतन काल तक स्मरण की जाती रहेगी । हिंदी के तत्कालीन कृष्ण भक्त कवि ऊँचे कोटि के संगीत कला मर्मज्ञ और काव्यशास्त्र के पारखी थे । यही कारण है कि संगीत के

ठाठ में बँधा हुआ उनका काव्य आज भी हमें आत्म विभोर और आत्मविस्मृत कर, आत्मिक आनंद की अनुभूति कराने की पूरी क्षमता रखता है। इन कवियों ने अपने जीवन के आशा और निराशा के क्षणों को नैसर्गिक संगीत के रूप में प्रस्तुत किया है।

गायन और वादन का उल्लेख तो सभी भक्ति कालीन धाराओं के साहित्य के अंतर्गत मिलता है किंतु नृत्य का समावेश कृष्ण-काव्य की अपनी विशेषता है। सूफी कवि आलम ने अवश्य नृत्य-कला के उच्च कोटि का लालित्यपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया है किंतु उनके अतिरिक्त भक्तिकालीन अन्य सूफी, संत तथा रामभक्त कवियों के काव्य में प्रायःनृत्य-वर्णन का अभाव-सा ही है। इसके विपरीत कृष्ण भक्तिकालीन कवियों के आराध्य नटनागर नंदकिशोर नृत्य के भी आचार्य हैं। अतःनटवर वेशधारी कन्हैया की नृत्य–क्रीड़ाएं इन कवियों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बन गई और इन गायक, कवि, साधकों की गहरी अनुभूति के बीच साध्य की मनोहारिणी नृत्य मूर्ति साकार हो उठी। साथ ही क्रियात्मक नृत्य की अमर साधिका, कृष्ण भक्तिकालीन कवयित्री मीरा ने निरंतर नृत्य के माध्यम से कृष्ण को रिझाने का प्रयास किया जिसके कारण नृत्य मुद्राओं का सफल अंकन उनके काव्य में हुआ है। इस प्रकार भक्तिकालीन कृष्ण भक्त कवियों ने अपने काव्य में गायन, वादन एवं नृत्य; तीनों के सफल संयोग के द्वारा संगीत की परिभाषा सार्थक कर दी है।

चूंकि सांस्कृतिक रूप से यह दौर हिंदू– मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का काल माना जाता है इसलिए भक्ति-आंदोलन को सांस्कृतिक एवं जनवादी आंदोलन भी कहा जाता है। भक्ति काव्य में धार्मिक सहिष्णुता की अधिक अभिव्यक्ति भक्त कवियों के माध्यम से हुई। तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई की रचनाएं, असम में शंकरदेव, महाराष्ट्र में एकनाथ और पंजाब में सिख गुरुओं और बांग्ला के मुकंद राम कृत 'चंडीमंगल' में भक्तिआंदोलन की वेगवती धारा को सहज

ही देखा जा सकता है । भक्ति आंदोलन की घटना मात्र मुस्लिम शासकों का आना या राजा से निराश प्रजा का भक्ति की ओर उन्मुख होना मात्र नहीं है । भक्ति-आंदोलन ने साधारण एवं निर्धन लोगों के भीतर स्वतंत्र अभिव्यक्ति का स्वर विकसित किया और कला के माध्यम से लोगों के बीच समानता का संदेश पहुंचाया । इस दौर के मूल्यवान इतिहास ग्रंथ बाबर कृत 'बाबरनामा', अबुलफजल कृत 'अकबरनामा', बदायूंनी कृत 'मुंतखबुत– तवारीख' और नाभादासकृत 'भक्तमाल' हैं।

भक्तिकाल में संगीत कला एवं चित्रकला की अधिकाधिक उन्नति हुई । भक्तिकालीन कवियों ने साहित्य को संगीत के निकट लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । ये कवि अपनी रचनाओं को गा– गाकर लोगों तक पहुँचाते थे । इस समय के कुछ कवियों ने विभिन्न रागों में काव्य रचना की है जो कुल दिन– रात के आठों पहरों का,समय– समय पर ख्याल रखते हुए, प्रत्येक के लिए विशिष्ट राग के चिन्तन पर आधारित थी । काव्य और संगीत का सह-धर्म भक्तिकाल के सांस्कृतिक विकास का अनुपम उदाहरण है । प्राचीन भारत में सामवेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में संगीत का आदर्श विधान था । इधर मुगल शासकों ने संगीत कला का संरक्षण किया । मुसलमान जब ईरान होते हुए भारत आए तो अपने साथ एक उन्नत निज़ा मे मौसिक़ी यानी संगीत विधान लाए । भारतीय जनता ने भी उनका अनुकरण किया । 'इबूनेसीना, फ़राबी और अलकिंदी जैसे महापंडित भी मौसिक़ी के समर्थक थे और इन्होंने मौसिक़ी के विषय में शानदार ग्रंथों की रचना की । धीरे– धीरे दमिश्क, बगदाद तथा ग़रताना संगीतकला के प्रमुख केंद्र बन गए और अरबी मौसिक़ी ने योरोप को बहुत कुछ दिया । अतः कहा जा सकता है कि भारत आगमन से पूर्व ही मुगलों के पास समृद्ध संगीत– विधान मौजूद था । 'आलोच्यकालीन हिंदी– साहित्य में सूफी कवियों के अतिरिक्त सूर,तुलसी आदि कवियों ने अनेक ऐसे

अरबी,फारसी वाद्ययंत्रों आदि की चर्चा की है जो पौराणिक चरित्रों (राम एवं कृष्ण) की एवं सूफी– कवियों के संपर्क का स्पष्ट परिणाम है ।

सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग में संगीत कला संबंधी कुछ प्राविधिक शब्दों के विषय में अरबी तत्सम शब्द दिये गये हैं[37]–

'मगन नाद– रस सारंग बधत बधिक बि बान'।

'बचन रसाल सुरति और भूली सुनि बन मुरली नाद कुरंगी'

निदा(अरबी) = नाद = आवाज, नदब– नद (अ0) = नाद, आवाज, नादी (अ0) = नादी = नादी = पुकारने वाला, गिऩा (अरबी) = गान = गायन = गाना, ताल, (अरबी) = तार = ऊंचा, शामिल (अ0) = सम्मिल = सम्मिलित, ऊद (अ0) = आवृत = लौटना, इश्क (अ0) = आसक्ति = प्रेम करना, आशिक (अ0) = आसक्त = प्रेम करने वाला, रऺाब– रागि (अ0) = राग, राग़िब (अ0) = रागी = प्रेमी।

इन शब्दों से ही हिंदोस्तान और अरब के संगीत की प्राचीनता का अंदाजा होता है ।

सूर आदि गायक कवियों ने भी अपने लीला वर्णन एवं उत्सवों पर जहां प्राचीन भारतीय रागों का प्रयोग किया है वहाँ ऐमन (यमन) भूपाली, कान्हरा आदि इस्लामी संपर्क में आए । उपर्युक्त रागों का उल्लेख भी उनकी रचनाओं में मिलता है । जैसे– सुर सावंत 'भूपाली ईमन' करत कान्हरो गान आदि उदाहरण । जहां परमानंद दास, नंददास आदि अष्टछाप के गायक कवियों

[37]भारतीय संगीत और आचार्य वृहस्पति,डॉ जतिन्द्र सिंह,पृ सं-19

द्वारा वर्णित कृष्ण लीलाओं, पर्वोत्सवों तथा भजनों में अनेक प्राचीन भारतीय राग रागिनियों का उल्लेख मिलता है। वहां तत्कालीन इस्लामिक संस्कृति के संपर्क में आने पर राग– रागिनियों का निरूपण मिलता है, जो कि स्वाभाविक ही है । इनके अतिरिक्त अनेक हिंदी कवियों ने अपने पौराणिक देवी–देवताओं के वर्णन में, ऋतु– वर्णन में,मंदिरों के कीर्तनों तथा उत्सवों आदि पर जहां कहीं भी अवसर मिला है'; अरबी फ़ारसी और अन्य मुस्लिम साज़ों (वाद्ययंत्रों) का ऐसा ही सुरुचि पूर्ण प्रयोग किया है ;जैसे कि तत्कालीन मुस्लिम दरबारों की महफिलों– जुलूसों व तकरीबों पर ये कवि बाजी मार ले गए हों !

संगीत कला के अतिरिक्त मुगल शासकों ने चित्रकला को भी राजाश्रय प्रदान किया । इसी दौर में लघु चित्र विधा का जन्म हुआ । राजपूत लघुचित्र शैली, मुगल कलम, और पहाड़ी कलमों का खासतौर पर विकास हुआ । इस तरह भक्तिकाल में हिन्दू – मुस्लिम संस्कृति के सभी क्षेत्रों में कलात्मक मिश्रण हुआ और साथ ही पर्व– त्योहार, उत्सव, साहित्य एवं कलाओं में, समन्वय के माध्यम, से नई हिंदुस्तानी संस्कृति का विकास हुआ ।

इस प्रकार भक्ति आंदोलन के दौर की रंगमंचीय क्रिया – प्रक्रियाओं ने हिंदी साहित्य एवं कलाओं के इतिहास में अपना एक विशिष्ट एवं ऐतिहासिक स्थान बनाया । माना जाता है कि रंगमंच वह पंचम वेद है जो सामाजिक बाधाओं को तोड़ता है, जो सबके लिए है (चाहे वे किसी भी जाति या किसी भी विश्वास के हों) और सर्वसुलभ है । तत्कालीन समाज में जातिगत सीमाओं का उल्लंघन करने और एक कठोर सामाजिक– संरचना में संप्रेषण का माध्यम बनने की दिशा में कलाओं की विशेष भूमिका रही है जोकि इस समाज के शास्त्रीय तथ्यों पर प्रकाश डालता है । 12वीं शती में काशी के रंगजीवियों ने किसी– न– किसी रूप में नाटकों का प्रयोग

जनभाषा के रूप में शुरू कर दिया था किंतु इससे पहले कि सहज गति से विकसित होकर वह परंपरा कोई स्पष्ट रूप ग्रहण कर पाती, इस्लामी आक्रमणों से परिस्थितियां पूरी तरह बदल गयी । इस्लामी संस्कृति रंग प्रयोग के सर्वथा विरूद्ध थी लेकिन भारतीय रंगजीवियों के प्रभाव से रंगमंच के कुछ रूपों को स्वीकार्य ता प्राप्त हुई । इस्लामी आक्रमण और शासन के प्रारंभिक दौर में रंगकला सुप्तप्राय हो गई लेकिन इसने धीरे– धीरे परिस्थिति के अनुकूल अपने को ढ़ालकर, अपने अस्तित्व– अस्मिता की रक्षा का प्रयास शुरू कर दिया।

दक्षिण से उत्तर भारत हो या पूर्व से पश्चिमी भारत, पूरे देश में विभिन्न लोक कलाओं के माध्यम से भक्ति का प्रचार एवं प्रसार होता रहा है । यह भक्ति किसी विशिष्ट एवं अभिजात्य वर्ग तक सीमित नहीं थी । इस आंदोलन में भारत का प्रत्येक व्यक्ति शामिल था । साथ ही भक्ति के आधार भी विभिन्न प्रकार के थे । सगुण,निर्गुण, ज्ञान मार्गी एवं प्रेम मार्गी भक्ति लोगों के बीच बहुप्रचलित थीं । हिंदू संस्कृति के दो पूजनीय चरित्र-राम और कृष्ण-इस आंदोलन के मुख्य आधार बने । इन दोनों चरित्रों के माध्यम से अधिकतर भारतीय प्रदर्शनकारी कलाओं का मूल आधार हिंदू महाकाव्य महाभारत और रामायण का पाठ रहा । इन काव्य– कथाओं का प्रयोग नृत्य कला के साथ– साथ नाट्य कला में भी हुआ है । साथ ही, प्रस्तुत कथानक में शास्त्रीय कला-तुल्य लोकोन्मुख शैलियों का भी विस्तार हुआ। ऐतिहासिक रूप से केरल के मंदिरों में नाटक और रंगमंच की कला संरक्षित रही है। 'कुटियट्टम' संस्कृत नाटकों की एक समृद्ध परंपरा रही है । संस्कृत रंगमंच की अंतर्वस्तु और संरचना के कुछ मूल भूत तत्व जिन रूपों में सुरक्षित रह पाए हैं उनमें कुटियट्टम सबसे प्रमुख है। 10वीं शताब्दी से अर्थात् उस समय से जब संस्कृत काल से चली आ रही एकता छिन्न– भिन्न हो चुकी थी और क्षेत्रीय भाषाओं व साहित्य का विकास होने

लगा था ,तब से भारत के विभिन्न भागों में विकसित होती नाट्य परंपराओं का पूर्व सूचक और प्रवर्तक भी तो 'कुटियट्टम' ही है । केरल में द्वितीय चेरवंश के सम्राट कुलशेखर वर्मन ने 'धनंजयम' और 'तापतीसंवरणम' नामक दो नाटकों की रचना की । इन नाटकों को 'कुटियट्टम' के रूप में पंक्तिबद्ध किया गया । इन नाटकों के रचियता को 'कुटियट्टम' परंपरा का प्रणेता भी माना गया । केरल के राजनीतिक इतिहास ने सामाजिक और सांस्कृतिक कलात्मक परंपराओं को भी प्रभावित किया है । यहां नंबूदरियों, नायरों, ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच परस्पर सामाजिक संबंध थे । नंबूदारियों में बड़े पुत्र को छोड़कर अन्य पुत्रों का विवाह नायर स्त्रियों से किया जा सकता था । चाक्यर वंश के व्यक्ति इसी सामाजिक संरचना से संबंधित हैं । चाक्यर मंदिरों में रहने वाली जाति है जो ब्राह्मण और नायरों के बीच का वर्ग है । चाक्यर मंदिरों में सेवक के रूप में काम करने वाले अंबलवासी से उपजी विशेष उपजाति है । इस वंश की उत्पत्ति सामाजिक प्रथाओं से हुई है ।

नाट्य विधा के कालगत,देशगत उन्नति और विकास का मूल तत्व नाट्य प्रस्तुति है । कुटियट्टम कुट्टबंलम रंगशाला में प्रस्तुत किया जाता था । केरल में आज भी संस्कृत का परंपरागत नाट्य मंडप शेष है जिनमें परूर के तिरुमुझिकुलम में विष्णु मंदिर का नाट्य मंडप तथा त्रिचुर केवटक्कुनथन मंदिर की रंगशाला विशेष उल्लेखनीय हैं। कुटियट्टम के नाटकों का प्रदर्शन सर्वप्रथम परुर निर्मित रंगशाला में ही हुआ । परंपरा से ज्ञात होता है कि तिरुवंचिकुलम के निकट थिरुकुल शेखर पुरम में कृष्ण लीला का निर्माण भी परुर ने किया लेकिन परुर निर्मित कुट्टबंलम और नाट्य मंडप शेष रह गये हैं । इनका कुलशेखर के शासन काल के बहुत बाद में इनका निर्माण हुआ । इन मंडपों की निर्माण शैली बहुत हद तक केरल के मंदिरों की निर्माण शैली जैसी है । 1800से1000 ईस्वी तक की अवधि में बनाये गये मंदिरों की निर्माण योजना

सामान्यतः वर्गीकार, वृत्ताकार और अर्द्धचंद्रकार है। मुख्य मंदिर या श्री कोविल में अलग से एक नमस्कार मंडप होता है जिसका आकार वर्गाकार और छत स्तूपाकार होती है । भरत के 'नाट्यशास्त्र' के दूसरे अध्याय में विभिन्न प्रकार की रंगशालाओं का वर्णन किया गया है । 16वीं शताब्दी की दो पुस्तकों– शिल्परत्न और तंत्र समुच्चय में कुट्टबंलम या नाट्य मंडप के सटीक विवरण मिलते हैं । कुट्टंबलम मंदिर का ही एक अंग था जिसके मूल में एक सुविचारित योजना और आधार भूतविन्यास था । कुट्टबलम सामान्यतः आयताकार होता है परंतु कुछ स्थानों पर अंडाकार रूप में भी है । ये रंगशालाएं मंदिरों में देवी– देवताओं के दायीं ओर प्रतिष्ठापित होती हैं । इन रंगशालाओं की स्थापत्य कला नाट्यशास्त्र में वर्णित विकृष्ट रंगशाला के अधिक सन्निकट है । प्रेक्षागृह और रंगमंच के बीच सुनिश्चित विभाजन किया गया है । यह रंगमंच प्रायः वर्गाकार या लगभग वर्गाकार होता और ऊंचाई पर बनाया जाता है जिसमें अभिनेतागण का रुख देवी– देवताओं की ओर होता है । मंच के पीछे नेपथ्य की दीवार होती है जिसमें दो संकरे द्वार होते हैं जिनसे अभिनेतागण मंच पर प्रवेश करते या निकलते हैं । साथ ही दोनों द्वारों के बीच दो ढ़ोल (जो कि तांबे के होते हैं और जिन्हें मिझावु भी कहा जाता है) होते हैं । कुटियट्टम के आधार भूत वाद्य यंत्र ढ़ोल हैं । ये लकड़ी के एक पिंजड़े नुमा चौखटे में रखे जाते हैं जिसे पिंजर कहते हैं ।

कुटियट्टम की प्रस्तुति में पूर्वरंग की अहम भूमिका होती है । भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में पूर्व रंग संबंधी कार्यकलापों को दो अध्यायों में विस्तार से व्याख्यायित किया गया है । कुटियट्टम की प्रस्तुति क्रिया वर्तमान में भी इसी परंपरा का विस्तार है । परंपराओं के अनुसार कई दिनों तक चलने वाली इस नाट्य प्रस्तुति में पहले दिन अर्थात् समारंभ से पहले 'नाटक के मूल कथ्य से संबंधित 'समयविस्तार' की प्रस्तुति से पूर्व,पात्र अपना जीवन चरित प्रस्तुत करके अपना परिचय देता है । चूंकि अधिकांश पात्र और नायक सुपरिचित पौराणिक कथाओं के होते हैं अतः

अभिनेता को पात्र और इसके अंतर्गत जन्म से आरंभ करके यौवन तक की या यौवन से आरंभ करके जन्म तक की समस्त घटनाओं का एक-एक कर के वर्णन किया जाता है। पहले को अनुक्रम कहते हैं और दूसरे को संक्षेप। कुटियट्टम की परंपरा निर्वाहण के माध्यम से चरित्र चित्रण का पूरा अवसर प्रदान करती है। अभिनेता मंच पर पद्यों का मूकाभिनय से अनुगमन करता है। नान्यार यानी कि सूत्रधार या विदूषक के द्वारा पद्यों को सस्वर किया जाता है। इस दृष्टि से कुटियट्टम नाट्यशैली नाट्यशास्त्र में दी गई अभिनयविधियों का अनुसरण करती है । दक्षिण भारत की इस प्रस्तुति शैली ने सभी कलाओं के तत्व ग्रहण किये हैं। मुख्यतः महाकाव्यात्मक कथाएं, रंगशालाओं की बनावट, प्रदर्शन में प्रयुक्त होने वाले स्थापत्य तत्व, भित्ति चित्र और गीत– संगीत के रागात्मक तत्वों को सम्मिलित किये हैं। इस प्रकार यह कला संपूर्ण रंगमंचीय कला है जो शब्दगत एवं कलागत, सभी तत्वों को समाहित करती है। अभिनय कला की आंगिक, वाचिक,सात्विक एवं आहार्य आदि एक – दूसरे से संगुंफित तत्वों को एक साथ समेकित कर समग्रता में प्रस्तुत करती है।

भक्तिकालीन प्रदर्शनकारी परंपराओं में आगे की ओर बढ़ते हुए दक्षिण भारत में कर्नाटक की अन्य अनूठी रंगमंचीय कला 'यक्षगान' है। ये पारंपरिक कलाएं भक्ति के प्रचार– प्रसार के लिए महत्वपूर्ण रही हैं। महाभारत और भागवत जैसे महाकाव्यों के समूचे पाठों की मंचीय प्रस्तुति इन्हीं कलाओं के माध्यम से हुई परंतु यक्षगान ने कुटियट्टम की भांति संस्कृत रंगमंच के नाट्य तत्व अपने प्रदर्शन में शामिल नहीं किए। अर्थात् हस्ताभिनय एवं नेत्राभिनय की बहुत अधिक व्यापक अभिव्यक्ति प्रणाली इसमें देखने को नहीं मिलती है। यक्षगान को साहित्यिक नाट्य विधा कहा जाता है क्योंकि इसमें मुख्यतः कन्नड़ साहित्य एवं नाट्यकला के साथ– साथ संगीत, चित्रकला और स्थापत्य कला का विकास भी देखने को मिलता है। कन्नड़ साहित्य में 1150ई. से 1500 ई. तक के काल को मध्यकाल कहा गया है। भारत के अन्य भागों

की भांति ही इस क्षेत्र में भी साहित्य तथा कलाओं के विकास पर जैनवाद, वीर– शैववाद, ब्राह्मण वाद और विशेषकर वैष्णववाद तथा भक्ति जैसे धार्मिक आंदोलनों का गहरा प्रभाव पड़ा था।

कन्नड़ साहित्य में 1150ई. से1400ई. तक साहित्यिक सक्रियता तीव्र थी । मध्यकाल में वर्णनात्मक गद्य लिखे जा रहे थे और वीर शैवों के माध्यम से सुधारवादी आंदोलन का प्रभाव भी प्रदर्शनकारी कला 'यक्षगान' पर पड़ा । 15वीं - 16वीं शताब्दी में कुमार व्यास ने कन्नड़ में भारत और रामायण जैसी कृति की रचना की जिससे भक्त कवियों में नया उत्साह उत्पन्न हुआ । भक्त कवि दास की रचनाएं तेलुगु साहित्य की गतिविधियों से जुड़ी हुई थीं सो पहला यक्षगान तेलुगु भाषा में प्रस्तुत किया गया । इसके बाद 17वीं शताब्दी से यह विधा विकसित हुई और शीघ्र ही 'प्रबंधनाटक' से भी जुड़ गयी । ऐसा माना जाता है कि वज्र नाभासुर वध हेतु छल के रूप में रामायण की नाट्य प्रस्तुति का जो वर्णन 'हरिवंशपुराण' में किया गया,वह यक्षगान के संदर्भ में पहला संकेत है।

रंगमंचीय स्तर पर यक्षगान की प्रस्तुति खुले स्थान में हुआ करती थी । यक्षगान में पूर्वरंग को सभालक्षण कहते हैं जिसे तीन भागों में विभाजित किया जाता था । पहले भाग के नेपथ्य में गणेश या मुखांबिका का आह्वान किया जाता है । फिर भागवतर रंगमंच पर एक श्लोक का गायन करता है और विदूषक तथा परिजनों के बीच संवाद होता है । दूसरे भाग में हनुमनायक और भागवतर के बीच एक संवाद होता है । अंतिम अर्थात् तीसरे भाग में भागवतर फिर से एक श्लोक का गायन करता है । तब युवा नर्तक बाल– गोपाल तथा कृष्ण– बलराम प्रवेश करते हैं और एक शुद्ध नृत्य माला प्रस्तुत करते है । यक्षगान का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है उसकी रूपसज्जा,वेशभूषा और शिरो भूषण आदि जो अभिनेताओं को दैवीय चरित्रों में परिवर्तित कर

देते हैं। साथ ही,यक्षगान नाट्य शास्त्र की परंपरा के अनुसार अभिनय के चारों प्रकारों– आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य में सामंजस्य पूर्ण संतुलन बनाए रखती है। इस नाट्य शैली का उद्भव तो मध्यकाल में हो गया था परंतु यह परंपरा 17वीं से 18वीं शताब्दी तक आते– आते परिपक्व हुई। साथ ही नाट्य विधा के रूप में यक्षगानगत कुछ समय तक विद्वानों का ध्यान आकर्षित करती रही।

दक्षिण की प्रदर्शनकारी नाट्य परंपराओं में भागवत मेला का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भागवत मेला तमिलनाडु के मेलत्तुर में स्थित वरदराजास्वामी मंदिर में खेली जाने वाली नाट्य प्रस्तुति है। यह एक प्रकार का नृत्य नाट्य है। मंदिर के सामने फूस के छप्पर का प्रेक्षागृह तैयार किया जाता है। साथ ही फूस की झोपड़ी भी बनाई जाती है जो नेपथ्य का काम करती है। पंडाल 100 से 120 फुट लंबा हो सकता है। मंच अंदर की ओर 18 से 20 फुट तक लंबा होता है। मंदिर के अग्र-कक्ष में देवता की मूर्ति प्रतिष्ठापित की जाती है क्योंकि यह नाट्य प्रस्तुति देवता को समर्पित होती है। कुटियट्टम,कथकलि और यक्षगान की तरह ही भागवत मेला की प्रस्तुति रात्रि साढ़े नौ बजे से अगले दिन प्रातःतक चलती है।

भागवतमेला में संगीत तत्व समृद्ध होते हैं। अभिनेताओं द्वारा गाये जाने वाले गीतों को 'दारु' कहते हैं और ये कर्नाटक संगीत की कृति की सामान्य संरचना का अनुसरण करते हैं। वेंकटरामन शास्त्री और उनके पिता गोपाल शास्त्री ने विभिन्न चरित्रों के लिए कई रागों का उपयोग किया है। हिरण्यकशिपु के प्रवेश पर दारु राग और देवगांधारी राग साथ में मिलकर गाया जाता है। इसके विपरीत प्रह्लाद के प्रवेश का दारु राग भैरवी में गाया जाता है। भागवत मेला की वेशभूषा कर्नाटक के यक्षगान से बहुत भिन्न है। भागवतमेला नाट्यकला में पुरूष पात्रों की भव्य वेशभूषा, सलमे– सितारे वजरी के काम से बने वस्त्रों की होती है। नरसिंहावतार,

हिरण्यकशिपु आदि पौराणिक पात्रों को छोड़कर अन्य पात्रों की वेशभूषा सामान्य ही होती थी। पौराणिक पात्रों के लिए मुखौटे और रूपसज्जा का विधान है। कर्नाटक के यक्षगान और भागवत मेला में साहित्य गत समानताएं दिखाई पड़ती हैं परंतु दोनों कलाओं में शैलीगत विभिन्नता भी परिलक्षित होती है। भागवत मेला नाट्य– विधा के रूप में विकसित न होकर, नाट्य के श्रृंगार रस प्रधान गीति– नाट्य रूप में विकसित हुआ है। इसके मुख्य कारण हैं– संगीत तत्व,नृत्य शैली में विभिन्न शैलियों का जन्म एवं इन पर क्षेत्रीयता और स्थानीयता की गहरी छाप का प्रभावशाली होना। भागवत मेला के प्रयोग में लाई जाने वाली पोशाकों के सूत्र मुख्यतःमराठा दरबार में प्रचलित शैलियों में ढूंढ़े जा सकते हैं।

वैष्णव धर्म के माध्यम से धार्मिक अनुष्ठान और कर्मकांड के विस्तृत नियम-संहिताएं विकसित हुए और इन्हीं से मंदिरों के प्रांगणों में नाटक का विकास हुआ। इन नियम संहिताओं में देवी – देवताओं को प्रसन्न करने के लिए गायन एवं नृत्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वैष्णव धर्म की पारंपरिक विधियों का जो विवरण दिया गया है उसी का पालन समूचे देश के वैष्णव मंदिरों में होता है। इन अनुष्ठानों में भोग और राग का उल्लेख है। भोग से तात्पर्य है मूर्ति की सेवा अर्थात् देवता को (प्रातः) जगाना, उन्हें स्नान कराना,भोग लगाना, दोपहर का विश्राम, सांध्य आरती और अंत में देवता (की मूर्ति) को सुलाना आदि। इन संहिताओं में राग की आवश्यकता भी बताई गई है जिसका अर्थ है –देवताओं के कृत्यों पर आधारित गायन और नृत्यों द्वारा देवताओं का मनोरंजन करना।

वैष्णव धर्म के पावन ग्रंथ भागवतपुराण में इस विषय के सभी आचार – विचार और नियम दिए गए हैं। भागवत और कुछ पहले के पुराणों में विष्णु के अवतारों का विस्तार से वर्णन किया गया है। वैष्णवों की महत्वपूर्ण धार्मिक पुस्तक 'पांचरात्रसंहिता' में कहा गया है कि भक्तों की कामना होती है कि वे अवतारों की लीला का गान तथा उसका अभिनय करें। इसी से

रामलीला और रासलीला के प्रदर्शनों को धार्मिक भाव प्रवणता और विस्तृत लोकप्रियता प्राप्त हुई। पांचरात्र संहिता में कहा गया है कि – विष्णु के भक्तों का विश्वास है कि लीला करने और देखने से दैवीय आनंद प्राप्त होता है और पापों से मुक्ति मिलती है। वैष्णव संप्रदाय की दो प्रमुख कार्य विधियां हैं – कीर्तन और देवताओं की कथाओं का श्रवण। एतद् फलस्वरूप कवियों ने उत्कृष्ट काव्य गुणों से संपन्न भक्ति पूर्ण गीतों की रचना की।

भक्तिकाल तक मंदिर जन– समुदाय के धार्मिक जीवन और वैष्णव संस्कृति के विशिष्ट केन्द्र बन गए थे। विशाल मंदिरों में विद्वान धार्मिक आचार्य अनेक प्रकार के विस्तृत अनुष्ठानों के प्रणेता थे। कुछ आचार्य धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करके भक्तों को संपूर्ण वैष्णव विषयों का उपदेश देते थे। भक्तों में तीर्थ यात्री भी सम्मिलित थे जो एक तीर्थस्थल से दूसरे तीर्थस्थल की यात्रा करते रहते थे। तत्कालीन मंदिर सामुदायिक जीवन का इस प्रकार केन्द्र बन गए कि ऐसे कथात्मक मूर्ति फलकों में समाज के उत्सव,समारोह, संगीत और नृत्य प्रस्तुतियां मौजूद रही हैं। इस प्रकार की संरचनात्मक निर्मितियों पर आधारित प्रस्तुतियों में विशिष्ट रूढ़ियां विकसित हुईं। मंदिर ने नाट्य–प्रदर्शन को प्रभावशाली विषय वस्तु की पृष्ठभूमि, भाव प्रवण संगीत समेत अभिनेताओं व दर्शकों के बीच एक गहरी निष्ठा प्रदान करने में भूमिका निभाई।

16वीं शताब्दी में अधिकांश मंदिर-नाट्य रूप संपूर्ण रूप से विकसित हो गए थे। धर्म-संहिताओं के लागू रहने से मंदिर के धार्मिक अनुष्ठानों एवं मंदिर से जुड़ी देवदासियों की प्रथा के बाबत नृत्य धार्मिक,सांस्कृतिक प्रदर्शनों एवं देशभर के मंदिर और नाटकों की सभी शैलियों के महत्वपूर्ण अंग बने। इन शैलियों को नृत्य नाटक कहा गया लेकिन वास्तव में वे काव्य, संगीत, नृत्य, अभिनय कर्मकांड एवं नाटक का संकलित रूप प्रस्तुत करते हैं। मंदिरों में दैनिक अनुष्ठानपरक विशिष्ट तिथियों पर उत्सवों के अंगस्वरूप अनेक प्रकार की प्रस्तुतियां की जाती हैं

। तत्कालीन बड़े मंदिरों में रंग प्रस्तुति के लिए अनेक स्थल होते थे – मंदिर की संरचना से जुड़े हुए या फिर देवता के आमुख निर्मित अलग प्रस्तुति मंच। इन मंदिरों में प्रदर्शनों, परिसर के बड़े गलियारों, प्रांगणों, चारों ओर भक्त यात्रियों तथा वार्ताओं के समानांतर प्रस्तुति के लिए भी स्थान होते हैं।

रामायण एवं रामलीला

रामकथा और रामलीला भक्तिकालीन प्रदर्शनकारी कलाओं में प्रस्तुत कथानक के महत्वपूर्ण अंग हैं। तत्कालीन नाट्य रचनाओं में राम की कथा सार्वभौमिक मानी जाती थी। भारतीय परंपरा में नाट्यशास्त्र को पंचमवेद और नाटक को देवताओं के लिए उपहार माना जाता है। ऐसे में यह स्वाभाविक है कि नाटक एवं रंगमंच को देवताओं के आवास यानी मंदिरों में ही नाटक को प्रचार– प्रसार मिले। सुरेश अवस्थी का मानना है कि अवतारों की संकल्पना अपने समस्त धार्मिक और दार्शनिक अर्थों में मंदिर नाटकों की संपूर्ण परंपरा का आधार बनी। अर्थात् भागवतपुराण से लेकर अन्य प्राचीन एवं पौराणिक ग्रंथों में हरि अथवा विष्णु के अवतारों के संबंध में अनेक रूप उल्लिखित हैं। माना जाता है कि विष्णु पाप के विनाश, सत्य की रक्षा और धर्म के संस्थापन के लिए अवतार लेते हैं। विष्णु के दस अवतार माने जाते हैं– मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम,राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। इन अवतारों को दशावतार भी कहा जाता है। भक्तिकाल में राम और कृष्ण दोनों चरित्र लोकप्रिय राजा एवं ईष्टदेव के रूप में प्रचलित हुए। तत्कालीन भक्तों एवं सुधारकों ने इन चरित्रों के माध्यम से प्रजा में भक्ति के प्रवाह को मजबूत किया। धार्मिक अनुष्ठान के रास्ते वैष्णव भक्ति लोगों के बीचप्र चलित हुई जिसे वैष्णव संत कवियों ने उपदेशों के माध्यम से फैलाया। प्रादेशिक स्तर पर नाट्यों के रूपों में भिन्नता दिखाई पड़ती है जो कि स्वाभाविक भी है। दरअसल गुलामी के इन दिनों में सांत्वना

दिलाने के लिए और आजादी की आशा जगाये रखने के लिए आस्तिकता और भक्ति साहित्य आवश्यकताएं बन चली थी । लोक जीवन में जीने वाले रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी लोकनाट्य, रामलीला और रासलीला साहित्य से भी अधिक प्रभावशाली माध्यम साबित हुए । हर व्यक्ति सूर, तुलसी और कबीर के काव्य पदों या दोहों को आत्मसात करता है । उस समय जब नाटकों की पैठ जीवन में और गहरी होती चली गयी थी, तब जनता को वह जगह मिली जहाँ वे अपने–आपको कथित विश्व की सर्वश्रेष्ठसत्ता 'ईश्वर' के नजदीक व सुरक्षित महसूस करने लगते हैं। '15वीं शताब्दी तक वैष्णव भक्ति अथवा भागवत धर्म ने पूरे देश में फैले हुए एक धार्मिक व सांस्कृतिक आंदोलन का रूप ले लिया । अपने व्यापक रूप में इस आंदोलन ने सामुदायिक जीवन के सभी पक्षों और सभी कलाओं को समृद्ध किया । महान उपदेशक और संत कवियों के गीतों में विष्णु के अवतारों (विशेषकर राम और कृष्ण) का गुणगान होने लगा था । मंदिर नाटक की समूची परंपरा के प्रेरणा, उसके विचारात्मक आधार और रूपात्मक तत्व इसी संप्रदाय द्वारा प्रचारित भक्ति और पूजा की संकल्पना से ही निर्मित हुए।'[38]

उत्तरी भारत के कथित गऊ पट्टी में, नाट्य विधा के इतिहास को पूर्वी भारत; (विशेषतया - असम, बंगाल, बिहार) और पश्चिमी ।(विशेषतः - गुजराती, राजस्थानी जैसी) भारतीय भाषाओं की साहित्यिक गतिविधियों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए । वास्तव में असमिया, बांग्ला, मैथिली, गुजराती आदि में जो नाटक लिखे गए थे वही उत्तर भारत की रंगमंचीय पद्धति का सामान्य आधार रहे । ये मुख्य रूप से ब्रजभाषा, अवधी और हिन्दी से संबद्ध हैं । रामकथा के संग प्रस्तुत होने वाली कलाओं की परंपरा एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करती

[38]रामलीला परंपरा और शैलियाँ,इन्दुजा अवस्थी,राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,दिल्ली,2000 पृ.सं-47

हैं जो कि न केवल भारत की बल्कि एशिया के कई भागों की विशेषता है। रामकथा को लेकर लिखे व खेले जाने वाले नाटक अपने– आपमें कोई अलग– अलग कलात्मक क्रिया– कल्पना मात्र नहीं हैं बल्कि भारतीय जनता की आस्था एवं श्रद्धा के विषय हैं। लोग स्वयं को इन कथाओं के पात्रों से जोड़ पाते थे। इसकी बहुआयामी विशेषता और अभिव्यक्ति की विविधता भारतीय समाज के सभी स्तरों पर देखी जा सकती है चाहे वह ग्रामीण पृष्ठभूमि हो, कस्बाई हो, नगरी हो, धार्मिक हो या अधार्मिक। यह कथा चिर– नवीन कथा है जिसे हमेशा समकालीन अर्थवत्ता प्रदान की जा सकती है। यह अनुभव क्षणिक कलात्मक एहसास और सर्वकालिक नाटकीय अनुभवों के बीच राम सेतु– सा कार्य– व्यापार के रूप में देखा जाता है।

जब कभी रामायण नाटक की बात होती है तो उससे अभिप्राय होता है कि गंगा या हिमालय की तरह राम और कृष्ण ने न केवल भारत के लोगों बल्कि दक्षिण– पूर्वी एशियाई लोगों के भी जीवन और कला को आकार तथा रूप प्रदान किया है। इस पर कपिला वात्स्यायन ने कहा है कि - 'भारत, दक्षिण– पूर्वी एशिया, केन्द्रीय एशिया, मंगोलिया, ईरान, चीन, जापान और श्रीलंका के विभिन्न भागों में वाल्मीकि से लेकर रामकथा के वर्तमान अर्थ विवेचन का इतिहास कई खंडो में लिखा गया है। रचनात्मक कृतियां और ग्रंथालोचन तो इस मोहक कथा की व्यापकता का एक आयाम मात्र हैं। इस कथा के प्रति कलाकारों, शिल्पियों, काष्ठ उत्कीर्ण कों, चित्रकारों, संगीतकारों और नर्तकों में भी समान रूप से अद्‌भुत लगाव रहा है। लगभग चौथी शताब्दी से लेकर आधुनिक युग तक भारत, इंडोनेशिया, कंबोडिया, थाईलैंड और बर्मा के मंदिरों की दीवारों पर रामकथा का प्रचुर चित्रण किया गया है। इनमें से अधिकतर का संबंध 9वीं शताब्दी से लेकर13वीं शताब्दी के समय तक है। भित्ति चित्रों, मर गोलों (स्क्रोल) आदि के

चित्रकारों और यहां तक कि बुनकरों और कपड़ों की छपाई करने वालें के लिए भी रामकथा लगाव का विषय रही है।

रामकथा का क्षेत्र व्यापक है। कलात्मक अर्थों में रामलीला या रामकथा अनेक रूपों में पूरे भारत भर में दिखाई देती है। सबसे सरलतम एवं लोक प्रिय राम की कथा को गाने वाला या कथा को सुनाने वाला है। जो व्यक्ति कथापाठ करता है और गाता है उसे हरि – कथाकार भी कहा जाता है। इस कथाकार वर्ग से भारत के सभी भागों में रहने वाले लोग परिचित हैं जो कभी उसे मात्र कथाकार और कभी राम– कथाकार के रूप में जानते हैं। यह व्यावसायिक गायक एक कलाकार होता है जो वाचक, गायक, संगीतकार, अभिनेता, वाद्यकार– सब कुछ होता है। कुछ ग्रामीण क्षेत्रों के ग्राम– समूहों में रामायण गान की परंपरा होने से नैतिक शिक्षण और कलात्मक संचार; दोनों का संयुक्त उद्देश्य सिद्ध होता है। ऐसा माना जाता है कि इस कथा के सबसे पहले गायक– वाचक लव और कुश थे। यह बात रामायण महाकाव्य में नाटकीय दृश्यांकन को प्रस्तुत करता है। रामायण के अंतिम सत्र में कुश और लव के वाचन का विवरण इस प्रकार किया गया है–

'ऋषि वाल्मीकि अपने साथ कुश और लव नामक, अपने दो शिष्यों को अयोध्या में अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर, अपने महाकाव्य रामायण का वाचन करने के लिए लाए थे। दूसरे दिन प्रातः काल में वेदों के विशेषज्ञ, व्याकरणविद्, संगीतकारों, छंदकारों नृत्य व गीत में पारंगत विद्वानों के सम्मुख पाठ का आयोजन किया गया। कुश और लव ने वीणा के स्वर ताल पर रामायण का गायन प्रारंभ किया।'[39] लव और कुश के इस रामायण गायन के विवरण पर कई तरह की

[39]वही,पृ.सं- 27

कहानियां उपलब्ध हैं लेकिन इस गायन परंपरा में अनेक समानताएं भी मिलती हैं। एक रोचक बात यह है कि रामायण महाकाव्य के अनेक व्यावसायिक वाचकों में से एक को 'कुशीलव' भी कहते हैं। अधिकांश भारतीय भाषाओं में विरचित रामायण का मुख्य उद्देश्य वाचन एवं गायन ही था। गुजराती रामायण 'आख्यान शैली' में लिखी गई है। इसके रचयिता 'गिरिधरदास' हैं। यह रामायण कडवस, ध्रुवपद आदि रागों में अनुबद्ध है। इसकी रचना कथाकारों द्वारा गायन के लिए ही की गई थी। यह परंपरा वर्तमान में भी सजीव एवं सक्रिय है। इसी तरह बंगाली कवि 'कृतिवास' द्वारा रचित बंगाली रामायण व्यावसायिक वाचकों– कथकों द्वारा वाचन की लोकप्रिय परंपरा में शुमार है। माधव कंदली की असमिया रामायण, बलराम दास रचित ओड़िया रामायण, रंगनाथ की तेलुगु रामायण एवं तुलसीदास की लिखी हुई अवधी रामायण 'रामचरितमानस'; साहित्यिक एवं मौखिक दोनों ही परंपराओं के अंग हैं। रामायण के इन अनेक रूपों का योगदान निश्चित रूप से प्रदर्शन परंपरा को बनाए रखते हुए समृद्ध एवं संपन्न परंपरा बनाए रखने के लिए रहा।

रामायण पाठ की परंपरा का भक्ति आंदोलन के उद्भव और विकास को रेखांकित करने में महत्वपूर्ण योग रहा है। धार्मिक सम्मेलनों, पूजा की प्रविधियों, अनुष्ठानों, धार्मिक विधियों, जुलूसों और झांकियों आदि सब में जन – समुदाय का भाग लेना अनेक प्रकार की प्रदर्शन परंपराओं के विकास की पृष्ठभूमि बना गया। मानस को प्रदर्शनात्मक बनाने के लिए रामकथा की लीला का आलेख तैयार किया जाता रहा है। चूंकि भक्ति आंदोलन जनवादी आंदोलन रहा है इसलिए रामचरितमानस की भाषा का अनेक लोकशैलियों में नाट्य– रूपांतरण भी किया जाता रहा है। संवादात्मक शैली में रामलीला का प्रस्तुतिकरण होता रहा है।

आजकल एकल गायक को एकल अभिनेता या सांस्कृतिक नाट्य प्रस्तुति संचालक के बराबर इसीलिए भी माना जाता है । इसीलिए भी क्योंकि उसे इस बात की पूरी स्वतंत्रता रहती है कि वह मूल पाठ में बदलाव कर सकता है, उसका भावानुवाद कर सकता है या वह ऐसी समसामयिक प्रासंगिकता प्रदान कर सकता है जो उपयुक्त हो । इस संबंध में एकल गायक या कथाकार की भूमिका संस्कृत नाटकों के सूत्रधार, कुटियट्टम और अन्य नृत्य– नाटक रूपों के विदूषक की भूमिका के अधिक सन्निकट है । कभी– कभी कथाकार कथा सुनाता है तो कभी उसे नाटकीय रूप से प्रस्तुत करता है । कभी गाता है तो कभी वाद्य बजाता है । वह उन्मुक्त रूप से समसामयिक स्थितियों पर टिप्पणी करता है । जैसे केरल में कुटियट्टम का 'तोलन' । तोलन की टिप्पणी का स्तर उसकी पृष्ठभूमि, प्रशिक्षण और उन श्रोताओं; तीनों पर निर्भर करता है-जिन्हें वह संबोधित करता है । उत्तरी भारत का लोकप्रिय कथानक तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' था । स्वयं तुलसीदास भी रामलीला और रासलीला से परिचित थे । इस बात की पुष्टि रामचरितमानस के उत्तरकांड में काग भुशुंडि के कथन द्वारा स्पष्ट होती है–

चरमदेह द्विज के मैं पाई । सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई।

खेलों त ही बालकन्ह मीला । करौं सकल रघुनायक लीला ।।

इस उद्धरण से हम रामलीला के प्रयोजन और पद्धति की ओर प्रेषकों को इंगित कर सकते हैं । कागभुशुंडि भगवान के परम भक्त हैं । एक ओर वे अपनी भक्ति की तुष्टि के लिए राम के भजन गाते हैं - 'जहँ तहँ राम भजन अनुसरऊँ .....' वहीं दूसरी ओर, बालकों के संग मिलकर रामलीला में भूमिका भी निभाते हैं । भक्ति और रामलीला की पारंपरिक-परंपरा-पद्धति के तहत द्विज बालकों को तैयार करके लीला कराना; रामलीला के ये दोनों ही प्रयोजन इस उद्धरण

से स्पष्ट होते हैं। इसी प्रकार से काशी के विभिन्न क्षेत्रों में रामलीला खेली जाती रही है। साथ ही आसपास की प्रत्येक जाति–जनजाति के लोग इन लीलाओं में बढ़ – चढ़कर प्रतिभागी बनते हैं। विभिन्न उदाहरणों से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि भक्तिकाल में राम भक्तों की विशिष्ट श्रेणी थी। इन भक्तों ने अपने काव्य रचना से राम के चरित्र को लोकप्रिय बनाया। रामायण और रामचरितमानस के कथानक में राम के राज्याभिषेक की तैयारी में जो अनेक उत्सव वर्णित हैं उनमें नटों और नर्तकों के प्रदर्शनों की चर्चा भी दिखाई देती है। जनश्रुतियों में माना जाता है कि आजकल हिंदी – भाषी प्रांतों में रामलीला जिस रूप में प्रचलित है उसके प्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदास हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'मानस की भूमिका' में डॉ. श्याम सुन्दरदास का कथन है कि - "यद्यपि श्री कृष्ण चन्द्र की रासलीला पहले प्रचलित हो चुकी थी और भजन गाकर रामलीला करने की बात भी प्रसिद्ध है परंतु जिस चाल पर अब रामलीला होती है उसका मूल तुलसीकृत रामायण ही है।[40]" भक्तियुगीन कालजयी रचनाकार गोस्वामी तुलसीदास ने तत्कालीन सभी काव्य शैलियों में रचनाएं की पर नाट्य-रचना नहीं कीं। फिर भी रामचरितमानस में नाट्य-रूपों के सभी लक्षण एवं तत्व विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने नाटक की रचना न करके रामचरितमानस की योजना कुछ इस प्रकार से की है कि उसके कथानक का उपयोग नाटकीय प्रदर्शन में भी किया जा सके। इसी उद्देश्य ने रामचरितमानस के स्वरूप को नाट्कीय वैशिष्ट्य प्रदान किया है।

रामचरितमानस के संवादों में कथा वर्णन की रोचक शैली दिखती है। यहां उपदेशात्मक प्रसंग और विविध घटना-प्रसंगों के बीच संवादों का संतुलित विनियोजन किया गया है जिसे नाटकीय दृष्टि में बेहद सफल प्रयोग के रूप में पाया गया। उपदेशात्मक संवाद का प्रमुख उदाहरण अरण्यकांड के पंचवटी स्थान पर राम– लक्ष्मण के संवाद के रूप में परिलक्षित है

---

[40]काशी का रंगपरिवेश,कुंवर जी अग्रवाल,विश्वविद्याल प्रकाशन,वाराणसी,1986,पृ.सं-122

। यहां पंचवटी के मनोरम वातावरण के दृश्यबंध में दो भाइयों के बीच चल रही गंभीर दार्शनिक चर्चा को अनौपचारिक बातचीत की भाँति प्रस्तुत किए जाने के कारण कथा के प्रवाह में सहजता, सरलता,सुलभता,स्वाभाविकता और सुगमता की समाविष्टि हो जाती है। गोया–

गिरबन नदी ताल छवि छाए। दिन– दिन प्रति अति हों हि सुहाये।।

खग मृग वृंद अनंदित रह हीं। मधुप मधुर गुंज तछ विलह हीं।।

सो बन बरनि नस क अहि राजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा।।

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छल हीना।।

राम सदृश कृष्ण को आराध्य माना गया है। मथुरा जाने से पहले गोकुल में जिए कृष्ण के जीवन को ही रासलीला का आधार बनाया गया। ये दो विभिन्न और प्रत्यक्षतः असंबद्ध प्रकरण रहे हैं जो कि भारतीय विचारधारा, साहित्य और कला में दृष्टिगोचर होते हैं । पहला प्रकरण 'महाभारत' और 'भगवद्गीता' के कृष्ण का है जो सूक्ष्म ऐतिहासिक तथ्य व पौराणिकता पर आधारित है और दूसरा वृंदावन व मथुरा का बालक कृष्ण है जिसका जीवनवृत्त महाभारत के परिशिष्ट हरिवंश पुराण में दिया गया है। द्रष्टव्य है कि राम के प्रकरण को भारतीय इतिहास के विभिन्न काल,भाषा,नाटक,चित्रकला व संगीत में अनेक प्रकार से, अनेक रूपों में व्यक्तकिया गया है। यह भी देखने में आया कि कुटियट्टम, भागवत मेला और यक्षगान के विषय वस्तु रामायण के विभिन्न भाषांतरों और महाकाल की कथाओं पर आधारित थे। भागवतमेला में कृष्ण जीवनवृत्त का गायन एवं मंचन किया जाता था । इसके अतिरिक्त वृंदावन और मथुरा के कृष्ण पर आधारित साहित्यिक कलात्मक परंपराएं हमारी अमूल्य धरोहर हैं। ये पहले के ग्रंथों और उनकी परंपराओं की तरह सुदृढ़ तथा लोकप्रिय हैं । कृष्ण लीला का विकास पिछली बीस

शताब्दियों,पुराणों, संस्कृत साहित्य के नाटकों,काव्यों और 12वीं - 19वीं शताब्दी की अवधि के दौरान विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के काव्यों तथा नाट्यकृतियों में देखे जा सकते हैं।

भारत में नाटक, नृत्य और संगीत की परंपरा को संपूर्णता में समझने के लिए इन समानांतर धाराओं के सह– अस्तित्व को समझना आवश्यक है । काल्पनिक विचारों, मनोवैज्ञानिक अर्थ – निर्णय और प्रतीकात्मक अर्थ के आधार पर विषय के विभिन्न अर्थ – निर्णय को समझना अनिवार्य है । पहले प्रकार का महाकाव्य वर्णनात्मक विषय वस्तुगत आचरण का आधार प्रस्तुत करता था तथा सद् और असद् शक्तियों का मुकाबला करने की प्रेरणा देता था । यह मुकाबला सत्ता के लोभ के कारण नहीं किया जाता था बल्कि इसके पीछे कर्तव्य की भावना निहित रहती थी । दूसरे प्रकार के महाकाव्य में अमूर्त और निराकार परमात्मा से मानव के मिलन की आंतरिक इच्छा प्रकट होती है । यदि पहले कार्य,आचरण का क्षेत्र और स्वरूप परिलक्षित होता है तो उसका आयाम व्यापक कार्य कलाप है। वहीं दूसरे में उसी प्रकार के क्षेत्र और भाव का आभास मिलता है पर इसका उत्तरोत्तर विकास होता है। एक सशक्त नाटक एक ऐसी तार्किक कलात्मक विधा है जिसमें हर किस्म का महाकाव्य अपनी अद्भुत रचनात्मक विषय-वस्तु को सहेज सकता है जबकि काव्यात्मक पुनरावृत्ति में चक्र,जिसमें अनेकानेक रूप निराकार ब्रह्म से मिलने के लिए आतुर रहते हैं; दूसरे प्रकार के काव्य का स्वाभाविक परिणाम हैं ।

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति आंदोलन पर श्रीमद्भागवत का व्यापक प्रभाव पड़ा है । समस्त पौराणिक ग्रंथों में श्रीमद्भागवत को अधिक लोकप्रिय एवं विख्यात भक्ति-ग्रंथ कहा जा सकता है जिससे मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति– आंदोलन को व्यापक क्षेत्र में प्रसारित होने का अवसर मिला । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - 'भक्ति के नवीन आंदोलन ने अनेक

लौकिक जन– आंदोलनों को शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवतपुराण का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा।'[41] हिंदी साहित्य के इतिहास के स्वर्णिम युग में कृष्ण भक्तिधारा का प्रेरणास्रोत श्रीमद्भागवत है। भागवत में वर्णित कृष्ण की बाल– लीलाओं और गोपी– प्रेम आदि क्रीड़ाओं ने कृष्ण– भक्त– कवियों को बहुत ही आकृष्ट किया था। अतःश्रीमद्भागवत का दशमस्कन्ध ही मध्ययुगीन कृष्ण– भक्त कवियों का प्रधान उपजीव्य रहा है। कृष्णलीलाओं को आम जन तक पहुंचाने में मथुरा और वृंदावन की रासलीला का महत्वपूर्ण स्थान है। भागवत में रास– लीला की भी आध्यात्मिक व्याख्या हुई है। ब्रजलीला की पराकाष्ठा रासलीला है। आत्माराम श्रीकृष्ण की आत्मा राधिका है। उनकी वंशी प्रेम रूपिणी है जिस प्रकार बालक अपने प्रतिबिम्ब के साथ क्रीड़ा करता है उसी प्रकार कृष्ण ने बहुधा विविध आत्मा– रूपिणी ब्रज गोपिकाओं के साथ रासलीला करने के लिए,यमुना-पुलिन पर सुखमयी रजनी में सुंदर प्रेमवंशी शब्दों से संकेत ध्वनि की। 'रास' शब्द का मूल 'रस' है और 'रस' स्वयं भगवान कृष्ण ही हैं। जिस दिव्य क्रीड़ा में अनेक रस-एकरस होकर अनंत रसों का आस्वादन करे, एकरसता ही रस समूहों-सा प्रकट होकर स्वयं आस्वाद्य, आस्वादक, लीला, धाम, विभिन्न आलंबन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीड़ा करे; उसे'रास' कहते हैं। यह ठीक था कि 10वीं शताब्दी की रचना यानी श्रीमद्भागवत में वर्णित रासलीला काफी पहले से एक जीवंत नाट्य परंपरा के रूप में प्रचलित हो चुकी थी परंतु तत्कालीन उत्तर भारत की अस्थिर सामाजिक– राजनीतिक स्थिति के कारण उसे इस क्षेत्र में कोई विशेष राजनीतिक आश्रय नहीं मिल पाया था। बाद में वैष्णवों के नये सामाजिक– सांस्कृतिक आंदोलनों से हासिल प्रेरणा के फलस्वरूप वृंदावन में इसकी जड़ें मजबूती से जम गयीं

[41]प्राचीन भाषा नाटक,दशरथ ओझा और जगदीश चन्द्र माथुर,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,1975 पृ.सं-44

और तब इस प्रकार उत्तर भारत में मथुरा और वृंदावन तथा पूर्वी भारत में पुरी और नबद्वीप इसके मुख्य केन्द्र बन गये। रासलीला पर आधारित लघुचित्रों से यह प्रमाणित होता है कि यह पारंपरिक शैली निरंतर प्रचलन में रही है। मध्ययुगीन मूर्तिकला में रासलीला से संबंधित नृत्य का चित्रण व्यापक रूप में देखने को मिलता है। वृंदावन में खेली जाने वाली रासलीला के दो रूप हैं– रास और लीला। इसके माध्यम से कृष्ण लीला को चित्रित किया गया है। साहित्य और चित्रकला की यह स्थिति वस्तुतः उस युग की नाट्य स्थिति को परिलक्षित करती है जिसे कवियों और चित्रकारों ने रासलीला कहकर अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इस नाट्य कला के पौराणिक तत्व में समय– समय पर जो परिवर्तन देखने में आया है,उसका कारण नाटक के क्षेत्र में प्राप्त अनुभव,स्थानीय परंपराओं से प्राप्त उपाख्यान और अभिनय पद्धति पर आधारित नव-प्रवर्तन की संभावनाओं में ढूंढा जा सकता है।

उपर्युक्त वैष्णव नाटक एवं लीलानाटकों के संदर्भ में लोकनाट्य शैलियों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। लोकधर्मी नाट्यशैलियों के माध्यम से ही भक्तिकाल में नाटक की अस्मिता कायम रही। वर्तमान काल में भक्ति युगीन नाटकों की चर्चा करने पर लोकनाट्य की विशिष्टता पर गौर करना एक अनिवार्य विषय है। विभिन्न कलाओं के सम्मिश्रण से तैयार लोकनाट्य का अध्ययन करना इस शोध के लिए महत्वपूर्ण बिंदु है।

लोक नाट्य

नाट्य शब्द की उत्पत्ति नट शब्द से हुई है। अंग संचालन से किसी विशेष परिस्थितियां व्यक्ति के क्रिया-कलापों को अभिव्यक्त करना ही नट का प्रमुख कार्य था। यही नट कला प्रारम्भिक क्रिया-कलापों से विकसित होकर गीतबद्ध हुई और विशिष्ट पर्व, समारोह तथा देवी-देवताओं के पूजन के समय उसका प्रदर्शन होने लगा। धीरे–धीरे इसी नट कला ने रूपक का स्वरूप धारण किया।

इसमें ये नट लोग किसी व्यक्ति, घटना तथा स्थिति-विशेष का अनुकृतिमूलक रूप प्रस्तुत करते थे । इस स्तर तक भी नाट्य के विविध अंग पूर्णतःप्रस्फुटित नहीं हुए थे जिनमें एक संपूर्ण घटना चक्र की समस्त परिस्थितियाँ,अभिनय,संभाषण, कथानक आदि के साथ मानवीय पात्रों द्वारा क्रम बद्ध प्रस्तुति की गई हो । वेश विन्यास, हावभाव, वाचन, संभाषण तथा अंगसंचालन द्वारा युग पुरूषों की युग-प्रवर्तक घटनाओं को प्रस्तुत करने वाला नाट्य का मानवीय रूप हमारी संस्कृति का बहुत ही बाद का स्वरूप है । दैवीय शक्तियों, प्राकृतिक प्रकोपों तथा मृतजन की आत्माओं से घिरा हुआ मानव उन्हीं की अनुकृति बनकर,उनके आचार, व्यवहार तथा आकार-प्रकार की नकल करें यह कल्पनातीत बात थी।

नाट्य के प्रारंभिक रूप

भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र तथा धनंजय द्वारा लिखित दशरूपक में जो नाट्य सिद्धांत निरूपित किये गये हैं उनका आधार इन शास्त्रोंके प्रणयन के सैकड़ों वर्ष पूर्व लिखे और खेले गये । वे असंख्यनाटक हैं जो विकास की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे । ये नाटक ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व, अपने चतुर्मुखी स्वरूप के साथ भारत की गौरव-गरिमा बढ़ा रहे थे । उन्हीं लोकपरक नाटकों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

कोई भी विगत घटना या व्यक्तित्व हमारी कल्पना में उभर सके उसके लिये अभिनय कला, अंग संचालन, भावाभिव्यंजन, आंगिकी, वाचन, संभाषण, कथोपकथन, कथाप्रसंग आदि के सुगठित चयन की आवश्यकता होती है । नाटक के लिए सभी तत्व एक साथ विकसित नहीं हुए बल्कि इनमें से कुछ ने समय और स्थिति के अनुसार विशेष विकास पाया । वे सहस्त्रों वर्षों तक परंपरा के रूप में मानव–मनोरंजन के लिए कायम रहे । नाट्य के इन विविध अंगों का पृथक तथा समन्वित विकास पूर्णांगी मानवीय नाट्य के लिए शक्तिशाली पृष्ठभूमि के

रूप में सिद्ध हुआ । ऋग्वेद तथा सामवेद के संभाषण प्रधान तथा भावोद्रेकमयी ऋचाओं में नाट्य वाचन के पूर्ण विकसित अंकुर विद्यमान थे । सामवेद के पुरूरवा और उर्वशी तथा ऋग्वेद के यम-यमी के भाव प्रधान संवादों में नाट्य के स्पष्ट अंकुर परिलक्षित होते हैं । अनेक जैन और बौद्ध सूत्रों में, प्रेरणादायक और भावपूर्ण संवाद दृष्टिगत होते हैं ।

नाट्य की चित्रपट प्रणाली चित्रकला

उपर्युक्त वैदिक ऋचाओं के ये संवाद अनुकृतिमूलक एवं रूप प्रधान नहीं थे और न ही कोई दर्शनीय दृश्य ही उपस्थित करते थे । केवल श्रवण योग्य थे, दृष्टि योग्य नहीं । किसी भी नाट्य प्रसंग का दृष्टि योग्य होना बहुत ही आवश्यक है परंतु मनुष्य उस समय इस स्थिति में नहीं था कि वह अपने परम पूज्य युग पुरुषों की युग प्रवर्तक घटनाओं को नाट्य रूप दे सकने की धृष्टता करे इसीलिये इन घटनाओं को सर्वप्रथम वृक्ष की सशक्त छालों, पशुओं के चमड़ों, दीवारों तथा कपड़ों पर विविध रंगों से चित्रित करने की परंपरा हमारे देश में आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व कायम हुई । अपने पूर्व जों तथा युग पुरूषों की स्मृति में उनके जीवन संबंधी चित्र टांगने की प्रथा आज भी विद्यमान है । ये चित्र संगठित और सामूहिक रूप से एक ही विशद चित्र में समन्वित होकर,जनता के समक्ष किन्हीं विशिष्ट व्यवसायिकों द्वारा प्रस्तुत किये जाने लगे । इनसे प्रदर्शित महापुरूषों की जीवन-घटनाएं जनमानस को आह्लादित करने के साथ-साथ उनकी स्मृतियों को भी ताजा रखने लगीं । किसी बाँस या लकड़ी पर लिपटे हुए,ये पट परिचालकों के कंधों पर चढ़कर, धीरे-धीरे एक गाँव से दूसरे गाँव तक पहुँचने लगे । जहाँ भी गाँव या नगर में चौराहा मिलता, ये पट फैला कर खींच दिये जाते और नृत्य मुद्राओं के साथ उनमें चित्रित गाथाओं के विविध पक्षों को दर्शकों के समक्ष सुस्पष्ट किया जाता था । आज भी भारत के विविध प्रदेशों में पूर्वजों की जीवन गाथाओं को प्रस्तुत करने के लिए ऐसे चित्रपट परंपरा के रूप में विद्यमान हैं ।

राजस्थान की पाबूजी तथा देवनारायण की जड़ें आज भी असंख्यजन के हृदय में, इन महान पुरूषों की जीवन गाथाओं को अत्यंत सुरूचिपूर्ण ढ़ंग से अंकित करती हैं। वीर राठौड़ पाबूजी जिन्होंने गोरक्षा के लिए अपना जीवनदान दे दिया था आज भी असंख्यजन के श्रद्धा और आराधना के पात्र बने हुए हैं। उनके नाम पर राजस्थान में अनेक मेले लगते हैं। उनके विशिष्ट पुजारी पाबूजी के भोपे इन चित्रपटों के समक्ष पाबूजी के पवाड़े गाते हैं और उनकी स्त्रियाँ चित्रों को दीपक दिखाती हुई उनका गुणगान करती हैं। पवाड़े भीलवाड़ा और शाहपुरा के विशिष्ट जोशी छीपों द्वारा बनाई जाती हैं जो आज विशिष्ट चित्रशैली के रूप में अपना विशेष स्थान रखती हैं। इस शैली को अपनाने वाले देवनारायण भी मेवाड़ के विशिष्ट देवता–तुल्य व्यक्ति हो गये हैं जिनकी जीवन गाथाएँ भी चित्रित की जाती हैं। देवनारायण के गूजर भोपे उनकी पड़ों का प्रदर्शन करते हैं।

चित्रपटों द्वारा युग पुरुषों के जीवन का अंकन करने की प्रथा बंगाल और बिहार आदि प्रदेशों में यम पट्टा के रूप में आज भी विद्यमान है। इस यम पट्टे में पाप कर्म करने वालों को यम द्वारा दी गई सजाओं का अंकन किया जाता है। चित्रांकन द्वारा नाट्य प्रस्तुत करने वालों के दल इन यम पट्टों को एक गाँव से दूसरे गाँव में ले जाते हैं और गायन द्वारा उनका अर्थ स्पष्ट कराते हैं। अनेक जैन तथा बौद्ध ग्रंथों में भी इन चित्र पटों का उल्लेख मिलता है जो धर्म प्रचार के लिए प्रयुक्त होते थे। पतंजलि के महाभाष्य में भी शोभनिका नाम से चित्रांकन करने वाले नाट्यकारों का उल्लेख है। नाट्य-अभिनेता इन चित्रों को इतने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते थे कि चित्र के पात्र संजीव होकर, दर्शकों की आँखों में उतर आते थे। जैन तथा बौद्ध ग्रंथों में इन चित्रपटों का 'मनखा' नाम से उल्लेख मिलता है। ये पट्टे विविध प्रसंगों में विभाजित होते थे। प्रत्येक प्रसंग के पट्टे का काम समाप्त होने पर परिचालक उसको लपेटता जाता था और आगे के प्रसंग-संबंधी गीत का वाचन करता हुआ उन चित्रों को सबके सामने रखता था। इस प्रकार के पट्टे

आज भी बिहार व बंगाल में, पूर्वजों की गाथाओं को नाट्य रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। जैन साधुओं के पास आज भी ऐसे चित्र विद्यमान हैं जिन पर नरक संबंधी अनेक दृश्य अंकित हैं। इसमें कुकर्मियों के कठोर दंड का बहुत ही वास्तविक अंकन किया गया है। ये साधु स्वयं इन चित्रों को अपने भक्तजनों को दिखाकर पापों से उनका मन मोड़ने की कोशिश करते हैं ।

चमड़े की आकृतियों द्वारा नाट्य प्रदर्शन

चित्र पटों के रूप में यह नाट्य रूप यद्यपि काफी लोकप्रिय हो चुका था और हजारों वर्षों तक जनता का मनोरंजन करता रहा परंतु उनमें अंकित चित्र स्वयं गतिमान होकर पात्र के रूप में अभिनय करने में असमर्थ थे। परिचालक इस अभाव की पूर्ति स्वयं नाच गाकर करता था। दर्शक गण उन चित्र पात्रों के व्यक्तित्व का आरोपण उसमें नहीं कर सकते थे। चित्र प्रदर्शन के समय परिचालक अपनी परम प्रभावशाली वाचन कला के माध्यम से दर्शकों को भावोद्रेक की स्थिति में ले आते थे। वे अपने आराध्य देव को उन चित्रों में मूर्तिमान अवश्य देख सकते थे परन्तु गतिमान नहीं। चित्रों पर दीपक द्वारा सामने से दिखाई हुई रौशनी उन रंगीन आकृतियों को प्रकाशमान और देदीप्यमान भी करती थी। आज भी पाबूजी और देवनारायण के पड़ों के समक्ष भोपनियां दीपक दिखा कर गाती हैं तथा भोपा रावण हत्थे पर उनकी जीवन गाथाओं का अत्यंत प्रभावशाली विवेचन करता है। ये सभी पट रात्रि को ही दिखाये जाते हैं।

इन चित्रांकित महापुरुषों को गतिमान करने के लिए सर्वप्रथम हमारे देश में चमड़े पर रंगीन चित्र बनाकर उन्हें काटने की परंपरा शुरू हुई। इन रंग बिरंगे चित्रों के विविध अंग प्रत्यंगों पर बांस की खपच्चियां बाँधकर उन्हें गतिमान किया जाने लगा। इस तरह महापुरुषों के विविध जीवन-प्रसंगों के अनेक चित्र चमड़े में काटे जाने लगे और इन्हें किन्हीं नाट्य रूपो में बाँधने की कोशिशें प्रारंभ हुईं। सर्वप्रथम उन पर चित्रपट की तरह ही सामने से रौशनी फेंकी जाती थी

और ये चर्म पात्र बारी–बारी से जनता के समक्ष आकर नाना प्रकार से गतिमान होते थे । परिचालक गण छड़ी पकड़कर उन्हें नीचे से संचालित करते थे और गायन, वाचन आदि से उनका प्रयोजन स्पष्ट करते थे । चित्रांकन की यह प्रणाली निश्चित ही चित्रपट प्रणाली से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई । परिचालकों के प्रत्येक दल में कम से कम तीन व्यक्ति रहते थे । एक चित्रों को चलानेवाला, दूसरा उन पर दीपक की रौशनी दिखाने वाला तथा तीसरा वाद्य बजाने वाला । चित्रांकन के इस प्रदर्शन में नाट्यगुण अवश्य थे परंतु परिचालक स्वयं दर्शकों को दिखलाई पड़ते थे और उनका ध्यान बँटाते थे । यद्यपि चित्र पट प्रणाली में भी परिचालक गण गाते, नाचते तथा दीपक दिखाते हुए नज़र आते थे, परंतु चूंकि उनके चित्र गतिमान नहीं थे और वे स्थिर रूप से दर्शकों की आँखों से गुजरते थे इसीलिये परिचालक से किसी भी प्रकार उनका संबंध नहीं जुड़ता था । चित्रों की कटी हुई आकृतियों में स्वयं चित्र भी गतिमान होते थे और उनके साथ-साथ उनके परिचालक भी । अतः रूपक–सिद्धि में निश्चित ही व्यवधान आता था । प्रारम्भ में इन चित्रों का आकार-प्रकार परिचालक से छोटा होता था । अतःजब परिचालक उनकी छड़ियाँ पकड़कर उन्हें नीचे से संचालित करता था तो पूरे साढ़े पाँच फीट का परिचालक डेढ़ फीट के कटे चित्र की गतिशीलता से कहीं अधिक गतिशील होकर दर्शकों की आँखों से गुजरता था । इस तरह से छिपकर इन्हें परिचालित करने की परंपरा हमारे देश में कायम हुई और उसी के परिणामस्वरूप छायापुतलियों का प्रादुर्भाव हुआ।

कटी हुई पुतलियों की नाट्य प्रणाली को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कई मर्मज्ञों ने अनेक प्रयोग किये । उनमें छायापुतलियों का प्रयोग सर्वाधिक कारगर सिद्ध हुआ । चमड़े को पारदर्शी बनाकर उसकी आदमकद आकृतियां काटी गईं । उसके आर पार प्रकाश किरणें डालकर उसे चमत्कारी बनाया गया । इस प्रयोग में हमारे कलाकारों को अभूतपूर्व सफलता मिली । लगभग 10 फुट ऊँचा और 15 फुट चौड़ा एक सफेद पर्दा बाँसों या लकड़ी के चौखट में तानकर सामने रख दिया जाता था । उसके पीछे इस आदम कद रंगीन चर्म पुतलियों की छड़ियों को पर्दे के

सामने सार्थक रूप से हिलाया जाता था और पीछे से डाली हुई रौशनी से ये छाया पुतलियाँ प्रकाशित होकर सफेद परदे पर नाना प्रकार से गतिमान होती थीं। पुतलियों के प्रत्यक्ष रूप से कहीं अधिक उनका छाया रूप दर्शकों के मन को मोहित करता था। प्रत्येक रूपक का यही नियम है कि चरित्र के सामने प्रकट होकर गतिमान होने की बजाय उसका अनुकृतिमूलय रूप अधिक प्रभावशाली और मनोरंजनकारी होता है। ये छायापुतलियाँ भी साक्षात् सामने नहीं पाती थी। उनकी छाया सामने आती थी इसीलिये ये छायाएं नाना रंगों में पर्दे पर अंकित होती थीं। उनके अंग-प्रत्यंगों को नाना प्रकार से गतिमान होते देखकर दर्शकगण आनंदविभोर हो जाते थे। इन पुतलियों में परिचालकों द्वारा गाथा या प्रसंग-वर्णन न होकर स्वयं पात्रों पर ही उनके संभाषण आरोपित किये जाते थे इससे ये छाया पात्र स्वयं उस छाया रूपक के सार्थक पात्र बन पाते और बिना किसी माध्यम के ही दर्शकों के मन पर आरोपित होने लगे। इस छाया नाट्य को अधिकाधिक प्रभावशाली और सफल बनाने के लिए जो गीत-संवादों की अत्यन्त मनमोहक योजना बनाई गई उसमें योग्य कथोपकथन, योग्य कथाप्रसंग, रसविवेचन,आंगिकी,चरित्रचित्रण, नाट्य के आरम्भ, मध्य और चरमविकास की सीढ़ियां अपना प्रारंभिक स्वरूप पकड़ती गईं। इस नाट्य शैली को और अधिक गहराई से समझने के लिए इसकी विशेषताएँ निम्न हैं।

लोक नाट्यों की विशेषताएं

अन्य लोक कलाओं की तरह ही किसी भी लोक नाट्य का कोई विशिष्ट रचयिता नहीं होता। वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक तथा अनेक प्रतिभाओं के सम्मिलित चमत्कार का एक साकार स्वरूप होता है। उसमें जन-जीवन की भावनाओं तथा उपलब्धियों को प्रतिच्छाया होती है तथा नाटकीय सफलता–असफलता के भागीदार समस्त समाजिक जन होता हैं।

आज हमारे देश में जो विविध क्षेत्रीय नाट्य उपलब्ध होते हैं उनमें से अधिकांश तो ऐसे हैं जो विशिष्ट लेखकों की देन हैं। उन्हें लोकनाट्यों की संज्ञा अवश्य दी जाती है परंतु वास्तव में वे उस श्रेणी में नहीं आते हैं। लोकगीतों की तरह लोकनाट्यों के स्वाभाविक सृजन की प्रक्रिया इतनी सहज और सरल नहीं है। लोकगीत एक व्यक्ति की प्रतिभा की उपज नहीं हो सकता। उसका प्रारंभ ही सामाजिक प्रतिभा की उपज है। गीत की तरह उसकी उत्पत्ति व्यक्ति से नहीं होकर समष्टि से होती है।

समष्टिगत सृजन एक अत्यंत जटिल और उलझी हुई प्रक्रिया है। समाज जिस धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक भावनाओं से आक्रांत रहता है उसकी गहरी छाप सामाजिक मानस पर अंकित हो जाती है और मनुष्य के जीवन का प्रत्येक पक्ष उनसे ओत-प्रोत रहता है। यदि वह सामाजिक भावना प्रबल धार्मिक चेतना के रूप में प्रकट होती है और उसका लगाव किसी महान धार्मिक व्यक्तित्व से है जोकि समाज का धार्मिक नेतृत्व ग्रहण कर लेता है; तो समस्त समाज उस व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होता है। उसके अवसान के बाद भी उस का यह लौकिक व्यक्तित्व आध्यात्मिक व्यक्तित्व बन जाता है। जनता उसे अपनी अटूट श्रद्धा और भक्ति का पात्र बना लेती है। उसकी गुण-गाथाएं गाने लगती है तथा उसकी स्मृति में पर्व व समारोह मनाती है। उसके व्यक्तित्व के संबंध में गीत रचती है, स्मारक बनाती है व पूजा अर्चना भी करती है। अर्चना व स्मरण के ये ही विविध साधन अनुकृतिमूलक बनकर विशाल जन-समूह के बीच नर्तन, गायन तथा कथा-प्रवचन के ले लेते हैं। शनैः-शनैः ये गीत, प्रवचन, भजन, कथोपकथन आदि उस व्यक्ति विशेष के जीवन संबंधी प्रसंगों की झांकियों का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। गेय बोल को गायक स्वर देता है। स्वांगों तथा अनुकृतिमूलक झांकियों को भाषाकार संवाद प्रदान करता है। विविध क्रिया मूल कर प्रसंगों को नर्तक पदचापों में बाँधकर क्रियाशील बनाता है तथा झांकी कार की कल्पना तो सामाजिक मस्तिष्क रंगमंच पर प्रस्तुत करता है।

ऐसे भीमकाय, राष्ट्रीय तथा वृहत् सामाजिक महत्व के नाटक किसी भी समाज या राष्ट्र के जीवन में युगों से चले आ रहे हैं। प्रत्येक संवेदनशील तथा आक्रांत क्षणों में इन वृहत् नाटकों का कलेवर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। उनमें प्रयुक्त गीतों में ताकत आती है। उनके कथोपकथन तथा नृत्य परिपक्व होते रहते हैं। कालांतर में किसी आध्यात्मिक तथा सामाजिक महत्व के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द एक अत्यन्त समर्थ नाटक गुंथता जाता है जो आये दिन विशिष्ट प्रसंगों पर अभिनीत होकर उस युग प्रवर्तक नेता की स्मृति और शिक्षा को कायम रखता है। ऐसे नाट्यों में यह पता नहीं लग सकता कि उनके गीत किसने लिखे हैं, कथा प्रसंग का चयन किसने किया है तथा कथोपकथन किस व्यवस्था से नाटक को सार्थक और जोरदार बनाता है। ऐसे नाटक बहुक्षेत्रीय, दीर्घ जीवी तथा बहुसंख्यक जनता को प्रभावित करने वाले होते हैं।

ऐसे स्थायी मूल्य वाले दीर्घ जीवी नाटक अधिकांश धार्मिक व्यक्तित्व के साथ ही गुंथे हुए होते हैं। उनका प्रचार और प्रसार क्षेत्र भी बड़ा होता है। सामाजिक व्यक्तित्व पर आधारित नाटक संख्या में न्यून और प्रभाव में सशक्त नहीं होते। ऐसे व्यक्तित्व बहुधा विवादास्पद होते हैं। समाज के किसी एक वर्ग को उनके सिद्धांत ग्राह्य होते हैं तो दूसरे के लिए वे ही निरर्थक और घातक सिद्ध हो सकते हैं। समाज का प्रगतिशील पक्ष ऐसे व्यक्तित्व का पुजारी होता है और अप्रगतिशील लोग उसके घोर विरोधी होते हैं। यही कारण है कि वास्तविक लोकनाट्यों की सूची में सामाजिक नाटकों की संख्या बहुत कम है क्योंकि समाज को आदेश-निर्देश देने का कार्य सर्वदा ही धर्माचार्यों के जिम्मे रहा। भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परंपरा में समाज – सुधार और धर्माचरण में पहले कोई विशेष अन्तर नहीं था। धर्म के आचरण तथा परंपरागत धर्म परिपाटी के अनुशीलन पर आधारित समाज-सुधार ही समाज-सुधार समझा जाता था। निरे समाज-सुधार की बातें कहने वाले तथा तद्विषयक आचरण करने वाले का प्रभाव समाज पर विशेष गहरा नहीं होता था। इसी तरह अनेक ऐतिहासिक प्रसंग जिन में धर्म तथा राष्ट्र के लिए

त्याग, तपस्या व बलिदान के कृत्य जनता के हृदय पर अमिट छाप छोड़ते हों कभी-कभी जन-रूचि को पा जाते हैं और वे भी झांकियों, समारोहों तथा स्मृति –दिवसों का रूप धारण कर लेते हैं । उनका एक अत्यन्त स्थूल रूप पहले खेल-तमाशों के रूप में जनता के समक्ष आता है, तत्संबंधी गीतों की प्रारंभिक धुन में अनेक धुनें मिल जाती हैं, नृत्य की पदचापों में अनेक चापें आत्मसात् होती हैं और एक चरित्र के अभिनय के लिए अनेक पात्र रंगस्थली में उतर आते हैं । इस प्रकार के प्रारंभिक रूपक की रूप-रेखा निर्धारित करने के लिए समस्त जन मानस तैयार रहता है ।

मौलिक लोक नाट्यों का विकास उक्त कथन के अनुसार होता रहता है । जनमानस की रुचित था अन्य मनोरंजनात्मक तत्वों तथा साधनों के अनुसार उनमें परिवर्तन होता रहता है । उदाहरण के रूप में उत्तर-प्रदेश की पुरातन रामलीला को ही ले लीजिए । वह मूल रूप में कुछ और ही थी परंतु कालांतर में पारसी नाटक तथा अन्य नाट्य-प्रकारों के प्रभाव से उसमें दृश्यावलियों के पर्दों का उपयोग होने लगा । बहुस्थलीय वास्तविक स्थितियों पर प्रदर्शन होने की अपेक्षा उसका प्रदर्शन एक ही रंगमंच पर पारसी नाटकों की तरह होने लगा । कलेवर की दृष्टि से भी इन रामलीलाओं ने तुलसी कृत रामायण से अपना कथोपकथन प्राप्त किया । सर्वाधिक परिवर्तन तो यह हुआ कि उनका सामाजिक प्रदर्शनकारी रूप, व्यवसायिक रामलीलाओं में परिवर्तित हो गया ।

मथुरा-वृन्दावन की रासलीलाओं ने भी अपनी मौलिक नृत्यशैली को कत्थक नृत्य शैली में परिवर्तित कर दिया । उनके लोक धर्मी स्वरूप को शास्त्रीय संगीत की ध्रुपद शैली ने अत्यधिक प्रभावित किया । वृन्दावनी रासलीला का आधुनिक स्वरूप वास्तव में उसके उस मौलिक लोक धर्मी स्वरूप में नहीं है जो आज भी गुजरात के 'रासड़ो, गरबारास' और राजस्थान

की 'रासधारी' तथा 'रासक' में विद्यमान है । वह धीरे-धीरे आचार्यों और पंडितों के संसर्ग से प्रायः शास्त्रीय स्वरूप बन गया । इसी तरह बंगाल की जात्रा का भी पूरा रूपांतर हो गया । एक समय में ये जात्राएँ, खेलकूद, स्वाँग, कीर्तन, संवाद व गीतों की विविध झाँकियों को अपने यात्रा काल में प्रदर्शित करते चलते थे । चैतन्य महाप्रभु के समय तक भक्त जन कृष्ण भक्ति को प्रधानता देने लगे और ये सभी यात्राएँ कृष्ण-जीवन से संबंधित हो गईं । धीरे-धीरे इन यात्राओं ने भी अन्य लोकनाट्यों की तरह ही समकालीन नाट्य शैलियों से प्रभाव ग्रहण करना शुरू किया । ये यात्राएं व्यावसायिक मंडलियों की धरोहर बन गई व रईसों और धनिकों के मनोरंजन का माध्यम बन जाने के कारण उनमें अनेक आधुनिक विषय समाविष्ट हो गये । मेवाड़ प्रदेश की रासधारी, जो किसी समय में राम व कृष्ण के जीवन संबंधी प्रसंगों की एक अत्यन्त लोकरंजनकारी सामुदायिक नाट्य शैली थी, आज राजा केसरी सिंह व अमर सिंह राठौड़ आदि ऐतिहासिक पुरुषों के कथा-प्रसंगों को अपनाने में लगी है ।

इस तरह सैकड़ों वर्षों के निरंतर प्रयोग-उपयोग से धार्मिक तथा आनुष्ठानिक नाटक विशेष स्वरूप धारण करने लगते हैं और उनके अंग- प्रत्यंग विकसित होने लगते हैं । इनकी शैलीगत नींवें गहरी होने लगती हैं । उनके प्रचार-प्रसार से क्षेत्र की अभिवृद्धि के साथ-ही साथ वे जीवन के संग अनुष्ठान की तरह जुड़ जाते हैं । उनका अभिनय, रचना विधि, प्रस्तुतीकरण, गायन, नर्तन तथा रंगमंचीय प्रकटीकरण की शैली भी रूढ़ होने लगती है । उनकी धुनें निर्धारित हो जाती हैं तथा भावाभिव्यंजनकारी नृत्य-मुद्राएं भी निश्चित हो जाती हैं । कवित्त तथा गीत-रचना के विविध छन्द-प्रकार भी एक विशिष्ट परंपरा में पड़ जाते हैं । वाद्य-वादन आदि के निश्चित बोल व परन आदि नियमों में बँध जाते हैं । ऐसी एक प्रगाढ़ सारगर्भित और अनुभवगत परंपरा का यम होने के बाद अनेक ऐसे रचयिता भी प्रकट हो जाते हैं जो स्वयं उक्त मर्यादाओं में रहकर नाट्य रचना करने लगते हैं । उनके गीत, कवित्त आदि परंपरागत धुनों

तथा पारंपरिक छंदो में ही रचे जाते हैं। उनकी नाट्य प्रस्तुतीकरण की शैली भी वही होती है। केवल विषय का चुनाव रचियता अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं। ऐसे स्व – रचित नाट्य भी आजकल लोकनाट्यों में ही शुमार होते हैं। यद्यपि उनकी रचना विधि सामाजिक कसौटी पर नहीं कसी है फिर भी उनमें पारंपरिक तथा शैलीगत साम्य होने के नाते उन्हें भी विद्वानों ने लोकनाट्य ही माना है।

पिछले 100 वर्षों में लिखे हुए राजस्थान के लगभग सभी लोकनाट्य (ख्याल) ऐसे हैं जिनके साथ विशिष्ट लेखक जुड़े हुए हैं और जिनके नामों से ही उनके ख्याल चलते हैं। ये सभी ख्याल उत्तर प्रदेश की रामलीला, रासलीला, बंगाल की जात्रा, दक्षिण भारत के यक्ष नाट्य तथा यक्षगान की तरह आनुष्ठानिक नाट्य नहीं हैं फिर भी शैलीगत परंपरा का उनमें निभाव होने के कारण वे लोकनाट्य में ही शुमार हैं। इन स्व-रचित लोकनाट्यों में कुछ ऐसे भी हैं, जो प्रदर्शित होने पर लोकरुचि को पकड़ लेते हैं और जनता उनके कलेवर को बढ़ाती जाती है। अंकुर रूप में लिखा हुआ या पनपा हुआ ऐसा नाटक कालांतर में कल्पवृक्ष के रूप में विकसित होता है और वैयक्तिक प्रतिभा के बदले वह सामाजिक प्रतिभा का प्रतीक बनता है। ऐसी स्थिति में ऐसे नाटकों का लेखक प्रकट रूप में अवश्य रहता है परंतु वास्तव में वह समाज ही का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे लेखक जो अपने मूल नाटक में समाजीकरण का स्वागत करते हैं और अपना व्यक्तित्व उनमें तिरोहित कर देते हैं, वे समाज द्वारा पूजे भी जाते हैं। उनकी कृति अत्यधिक फलती-फूलती है। समाज द्वारा प्राप्त हुई इस ख्याति को भी वे समाज ही को दे देते हैं दूसरी ओर ऐसे लेखक जो अपनी कृति में सामाजिक प्रतिभा का स्वागत नहीं करते, उसमें किसी प्रकार का संशोधन-परिवर्तन स्वीकार नहीं करते उनकी कृति उनके जन्म के साथ ही मर भी जाती है।

मध्य प्रदेश के माच और तुर्रा कलंगी के अनेक खेल ऐसे हैं जिनपर विशिष्ट लेखकों के नाम अंकित हैं। महाराष्ट्र में भी कई तमाशे विशिष्ट लेखकों द्वारा लिखे गये हैं। उनमें से कुछ तो

विकास की इस चरम सीमा तक पहुँच चुके हैं कि वे थियेटरों में आधुनिक नाटकों की तरह ही खेले जाते है। बंगाल और आसाम की कई जात्राएं भी आधुनिक साज-सज्जाओं के साथ थियटरों में खेली जाने लगी हैं। लोकनाट्यों का यह आधुनिकीकरण उनके लिये विकृतिमूलक न होकर, निश्चित ही विकासमूलक है । उन्हें समाज के बौद्धिक तत्त्वों का आश्रय मिल जाने से वे विकासोन्मुखी हैं । हीर-रांझा, सोहनी-महिवाल, मूमल-महेन्द्र, ढोला मारु, मीरामंगल जैसे पंजाबी और राजस्थानी लोकनाट्य भी शिक्षित समाज का ध्यान आकर्षित करने लगे हैं। उन्हें नया जीवन मिला है। इसी तरह आंध्र, कन्नड़ तथा केरल प्रदेश के यक्षगान, यक्ष नाट्य, कथकली तथा का मन कोट्टू नाट्य जो कि उत्तर भारतीय लोकनाट्यों से कहीं अधिक संस्कृत नाटकों से प्रभावित हैं, आधुनिक रंगमंच की अनेक परंपराओं को अपने में समाविष्ट करके, अधिक प्राणवान बन गये हैं । गुजरात के प्रमुख नृत्यकार श्री युत्जय शंकर सुन्दरी ने तो भवाई नाटक को आधुनिकीकरण के रंग में इस तरह रंग कि उसमें पुनः जीवन का संचार हुआ है।

विशुद्ध लोकनाट्य की कृतियां वे हैं जिन पर किसी लेखक विशेष का नाम जुड़ा नहीं रहता और जिनके प्रसंग विस्तृत जनमानस पर युगों से अंकित रहते हैं । ऐसे नाटक बहुधा अलिखित होते हैं। उनके कथानक सर्वविदित धार्मिक,आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक प्रसंग लिए होते हैं। ये नाटक बहुधा विश्रृंखल और पथ-विचलित जनता के समक्ष मानवीय आदर्श उपस्थित करने के लिए अवतरित होते हैं। इन नाटकों की परंपरा बहुत पुरानी होती है। वे राष्ट्रीय और सामुदायिक महत्व के नाटक होते हैं जो बहुधा किन्हीं विशिष्ट प्रसंगों तथा आनुष्ठानिक पर्वों पर खेले जाते हैं । इन नाटकों के कथानक, उनके द्वारा निरूपित आदर्श और उनकी परंपरागत मान्यताएं इतनी प्रबल होती हैं कि उनके अभिनय में विशिष्ट रंगमंचीय उपकरणों तथा प्रदर्शनात्मक दक्षता द्वारा जनता को प्रभावित करने की आवश्यकता नहीं होती। वे बहुधा ऐसे

महापुरुषों की जीवन-घटनाओं से संबंधित रहते हैं जिन्हें समाज युगों से प्रगाढ़ स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से देखता है।

लोकनाट्यों में धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श उपस्थित करने वाले नाटकों के अलावा ऐसे नाटक भी बहुत प्रचलित हैं जिनमें कभी-कभी सामाजिक आदर्शों की पूरी-पूरी अवहेलना रहती है। इन नाटकों में श्रृंगारिक पक्ष की प्रधानता रहती है, जीवनादर्शों से कहीं अधिक पारिवारिक आनंद तथा हल्के-फुल्के मनोरंजन की ओर इनका सबसे अधिक ध्यान रहता है। कभी-कभी समाज का मनचला वर्ग ऐसे नाटकों के इन असामाजिक तत्त्वों पर अनायास ही आकर्षित हो जाता है। उनके साथ अपनी कुप्रवृत्तियों व कुचेष्टाओं को आत्मसात कर लेता है। ऐसे प्रसंगों में अनेक असामाजिक तत्त्वों को प्रश्रय मिलता है। नाट्य में प्रकट होने वाली कुलटा नारी सती स्त्री पात्र से कहीं अधिक लोकप्रिय बन जाती है। लुटेरा पात्र ईमानदार से अधिक पसन्द किया जाता है। इश्क मिजाजी नौजवान पात्र चरित्रवान युवक पात्र से बाज़ी मार ले जाता है। विवाहित स्त्री-पात्र से कहीं अधिक छिप-छिपकर प्रेम करने वाली मनचली स्त्री-पात्र दर्शकों के मन की साम्राज्ञी बन जाती है। राजस्थान के इश्कबाज़ पनवाड़ी, छैला दिल जान, छोटा बालम नामक ख्याल और मध्यप्रदेश के माचों में छबीली भटियारिन, नौटंकियों में आँख का जादू, जवानी का नशा, सियाह पोश आदि लोकनाट्य भी इसी कोटि के हैं। रात-रात भर जागते हुए असंख्य जनता इन नाटकों के प्रदर्शनों का लाभ लेती है, उनकी स्वर लहरियों और नृत्यभंगिमाओं से आत्मविभोर हो जाती है। ये नाटक कला की दृष्टि से अत्यधिक कुशल नाटक होते हैं और दर्शक उनकी अदायगी की कलात्मक कारीगरी में इतने उलझ जाते हैं कि उनके हीन चरित्र नायकों का उन पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। ये अतिशय मनोरंजनकारी नाट्य दर्शकों को नाच, गान हँसी व मजाक में इतना उलझा देते हैं कि असामाजिक चरित्र उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते। पतिव्रता दर्शक स्त्रियां भ्रष्ट नाट्य-पात्र को घृणा से नहीं देखतीं, ईमानदार दर्शक बेईमान नाट्य

पात्र का तिरस्कार नहीं करता आदि । वह खूब जानता है कि समस्त नाटक में इन सब पात्रों की सृष्टि केवल मनोरंजन के लिए हुई है और वे सब असल नहीं, नकल हैं । दर्शक यह भी खूब जानता है कि ये नाटक जो समाज का कुत्सित चित्र प्रस्तुत करते हैं, वे मनुष्य की आँखें खोलने के लिए हैं और पथ भ्रष्ट को उनसे सतर्क रहने का सबक सिखाते हैं ।

इन नाटकों के अत्यधिक श्रृंगारिक तथा असामाजिक कुप्रभावों का प्रतिशोध करने के लिये उनका अतिशय कलात्मक और प्रभावशाली होना जरूरी होता है । भक्तिकालीन परिस्थितियों को प्रस्तुत करने में लोकनाट्य शैलियों का विशिष्ट योगदान रहा है। इन नाट्यों के अभिनेता अतिशय कला प्रवीण, नाट्य मर्मज्ञा एवं कुशल प्रदर्शक होते हैं । ये नाट्य बहुधा व्यावसायिक मंडलियों द्वारा ही प्रदर्शित होते हैं । इन नाटकों में भी वे ही नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय होते हैं जिनमें अधिकाधिक लोगों का हाथ हो तथा जिनका प्रत्यक्ष लेखक केवल निमित्त मात्र हो । ऐसा नाटक निम्न आदर्शों का होते हुए भी जनता के कण्ठों के हार की तरह होता है और उसका कुचरित्र तथा कुत्सित पात्र भी जनता की रुचि को पकड़ लेता है ।

समाज के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास के साथ ही इन नाटकों की अभिवृद्धि होती रहती है और समाज के कलात्मक स्तर के अनुसार ही लोकनाटकों का कलात्मक स्तर बढ़ता रहता है । वे चाहे कितने ही उन्नत हो जाएं और कितनी ही कला मर्मज्ञ व्यावासायी मंडलियां उनका उपयोग करें परंतु वे अपना लोकधर्मी गुण नहीं छोड़ते । बंगाल की अनेक जात्राएं, महाराष्ट्र के कई तमाशे,आंध्र तथा कन्नड़ के यक्ष नाट्य सैंकड़ों वर्षों की सामाजिक तथा लोकधर्मी परंपराओं के साथ ही 18 वीं शताब्दी के शास्त्रीय तत्त्वों को ग्रहण करने में संलग्न हैं । इसका परिणाम यह हुआ कि इनके प्रदर्शनों में अत्यधिक कला प्रवीणता और मर्मज्ञता की आवश्यकता होने लगी । अनेक शास्त्रीय-जन उन्हें शास्त्रीय नाट्यों में भी शुमार करने लगे हैं परंतु इनकी समस्त शास्त्रीय विशेषताएं और नाट्य विधाएं आज भी जन सुलभ रूचि के अनुसार

ही प्रगति पर पहुँची हैं जिस कारणवश वे इतनी उन्नत अवस्था में भी लोकनाट्यों में ही शुमार हैं । दक्षिण भारतीय जनता में बौद्धिक और कलात्मक रूचि बहुत अधिक है इसलिये उनकी समस्त लोक कलाएं धीरे-धीरे शास्त्रीय कलाओं के समकक्ष पहुँचने की कोशिश में है । वृन्दावन की रासलीलाएं भी बड़े-बड़े पंडितों और ब्राह्मणों द्वारा परिपोषित होने के कारण शास्त्रीय तत्वों से भरी भारी–भरकम हो गई हैं फिर भी उनके प्रस्तुतीकरण का ढ़ंग और दर्शकों की अभिरुचि को देखते हुए वे अभी भी लोकनाट्य की श्रेणी में ही आती है । उड़ीसा की उड़ीसी नृत्य नाट्य–शैली, जिसका विकास अनेक उड़ीसी यात्राओं तथा कुचिपुड़ी शैली के नाट्यों के रूप में पिछले वर्षों में हुआ है; पुरी के मंदिरों में आचार्यों के संसर्ग से शास्त्रीय तत्वों को अपनाने लगी है । इसके लोक-तत्त्व काफी तेजी से लुप्त हो रहे हैं । आज तो ये नृत्य नाट्य न तो लोकशैली ही में शुमार हैं और न ही शास्त्रीय शैली में ही ।

इस अध्याय के अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भक्तिकालीन प्रदर्शनकारी कलाओं और लोकनाट्य का मुख्य उद्देश्य राम और कृष्ण का जीवन पाठ था । विभिन्न कलाओं के माध्यम से इन दो प्रमुख पात्रों का चित्रण किया गया है । विशेषतः ये इस युग के लोकप्रिय चरित्र हैं जो जनमानस के ज़ेहन और मस्तिष्क में रचे–बसे हैं । राजनीतिक उथल– पुथल के कारण होने वाले परिवर्तन का प्रभाव जनता की जीवन– शैली पर भी दिखाई देता है । हिन्दू और इस्लामी संस्कृति के समन्वय का असर भारतीय स्थापत्य कला, मूर्तिकला व संगीतकला पर भी दिखाई देता है । मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन में रंगमंचीय कलाओं का विशिष्ट स्थान है जिसके माध्यम से शास्त्रीय कलाएं भी आमजनों के बीच अधिक प्रचलित हुईं और लोककलाएं शास्त्रीय जनों के बीच अत्यधिक प्रचलित हुईं ।

तृतीय अध्याय -

भक्तिकालीन हिंदी रंगमंच

सभी कलाएं मानव के भीतर के मनोभावों को बाह्य आवरण से जोड़ने का माध्यम है। कलाओं के माध्यम से मनुष्य अपने आंतरिक भावों को प्रस्तुत कर पाता है। भक्ति साहित्य में मानवीय संवेदना उकेरने के लिए कवि एवं नाटककारों ने ललित कलाओं के माध्यम से अपने स्वर को अभिव्यक्ति प्रदान है। मध्यकालीन युग में मुगल आगमन हो चुका था जिसका पूरा प्रभाव कला एवं साहित्य में दिखाई देता है । साहित्यिक दृष्टि से तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों पर इस्लाम धर्म का प्रभाव पड़ा। भारतीय संस्कृति में नाटक और रंगमंच प्राचीन ऐतिहासिक सत्य हैं जिसके प्रमाण भी मौजूद हैं। भक्तिकालीन रंगमंच में सबसे अधिक योगदान मंदिरों और धार्मिक गतिविधियों का रहा है क्योंकि भारतीय संस्कृति और धर्म–साधना में भक्ति–मार्ग का अपना विशिष्ट धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व रहा है। यही वह मार्ग है जिसने सर्वप्रथम व्यापक रूप से समाज के सभी अंग को प्रभावित किया और एक बहुत ही लंबी अवधि तक उसका पथ– प्रदर्शन करते हुए उसे स्थायी मोड़ दिया। इसे साहित्यकारों, कलाकारों और धर्माधिकारियों का समान रूप से सहयोग प्राप्त होता रहा है।

भारतीय संस्कृति को सर्वाधिक भक्ति– मार्ग ने प्रभावित किया है । उतना कोई अन्य स्त्रोत कर नहीं सका । 'भक्ति' शब्द 'भज' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'सेवा' परंतु वास्तव, में ईश्वर के चरणों में पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण कर देने एवं ईश्वर का । पूर्णरूप से अनुरक्त हो जाना ही 'भक्ति' कहलाता है । जैसा कि वेदों में कहा गया है–

मित्र स्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।।

'भक्ति' की व्याख्या 'श्रीमद्भागवत' में इस प्रकार की गयी है– उस 'वृत्ति' को भक्ति कहते हैं जिसमें सांसारिक विषयों का ज्ञान प्रदान करने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम भाव से भगवान में लग जाय ।

भारतीय इतिहासकारों तथा विद्वानों ने इस बात का पता लगाने का प्रयत्न किया है कि भक्ति का उद्भव कब हुआ । पद्म पुराण में उल्लिखित अनुश्रुति के अनुसार भक्ति ने नारद को अपने जन्म की कथा सुनायी कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में बड़ी हुई,महाराष्ट्र में कुछ काल तक स्थित रही और फिर गुजरात में जाकर वृद्धा हुई हूँ -

'उत्पन्नाद्राविड़ेचाहं, कर्णाटके वृद्धिङ्गता।

क्वँचित्क्वाचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतांगता।।

भक्ति के उत्थान का तृतीय काल 1400ई. से माना जाता है । इस काल में हिंदी में जिस साहित्य की रचना हुई वह प्रमुख रूप से भक्ति - रस से ओत– प्रोत थी इसलिए हिंदी– साहित्य के इतिहास में भी यह काल 'भक्तिकाल' कहलाता है । भक्तियुग में वैष्णव– भक्ति के विकास की दो

धाराएं थीं– कृष्ण भक्ति तथा रामभक्ति । रामभक्ति के प्रवर्तक रामानन्द थे । वैष्णव भक्ति के प्रसार हेतु सामाजिक समानता बनाते हुए रामानंद ने जाति– पाति के भेद को मिटाने का प्रयास किया । उन्होंने घोषणा की कि जाति - पाति व्यर्थ है और जो भगवान का भजन करता है उसे मुक्ति मिलती है चाहे वह किसी भी जाति का हो । उनके अनुसार सभी व्यक्ति, यदि वे वैष्णव– धर्म को मानते हों ; तो भोजन साथ बैठकर भी कर सकते हैं । इस प्रकार उन्होंने अपने धर्म का द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिए खोल दिये जिससे जनता भक्ति की ओर तेजी से आकर्षित हुई । हिंदी साहित्य में भक्ति आंदोलन के तत्वों को अधिक रेखांकित किया गया है लेकिन नाट्य स्वरूप को अनदेखा किया गया है । भक्तियुग की नाट्य– परंपरा ऐतिहासिक आलोचकों के अध्ययन क्षेत्र से बाहर थी । इस युग में भक्ति का प्रसार अनुष्ठान परक धार्मिक– कांडों के अतिरिक्त नाट्य पारंपरिक शैलियां द्वारा विकसित हुईं । भक्तिकाल के स्तंभकारी कवियों और काव्य ग्रंथों में परंपराशील नाट्य शैलियों के गुण प्रतिस्थापित थे जिससे साहित्य और कला रूपों में प्रदर्शनकारी कलाओं का वर्चस्व छा गया । राम और कृष्ण जैसे नायकत्वों के साथ रंगकर्मियों ने नये प्रयोग किए और भक्तिकाल को भक्ति– आंदोलन का स्वरूप प्रदान किया । इन प्रयोगों से कलाकारों ने आश्रयवादी लेखन को त्यागकर स्वतंत्र लेखन और आज़ाद अभिव्यक्ति को अपनाया । अकसर कहा जाता है या माना जाता है कि भक्तिकाल में रंगमंच का अस्तित्व नहीं था । यह उन लोगों तथा विद्वानों द्वारा कहा गया है जो भक्तिकाल के क्रांतिकारी कवियों को केवल भक्त के रूप में परिलक्षित करते हैं । साथ ही भक्तिकाल के विशिष्ट रचनाओं में मौजूद मंचीय तत्वों पर गौर नहीं किया गया । तत्कालीन परिस्थितियों में शास्त्रीय रंगमंचीय प्रदर्शन नहीं होते थे परंतु लोकधर्मी नाट्यशैलियाँ रंगमंचीय प्रदर्शन के माध्यम से लोगों तक पहुंची । भक्त कवियों के काव्य ग्रंथों में नाट्य रचना के पुट समाहित थे जिससे प्रदर्शनकारी शैलियां विकसित हुई और भक्त कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से जनमानस के भीतर नये प्रश्नों को उद्घाटित किया ।

रंगमंचीय परंपरा को जानने के लिए सर्वप्रथम भारतीय नाट्यशास्त्र की स्वस्थ परंपरा को जानना अति आवश्यक है क्योंकि रंगमंचीय परिकल्पना नाट्य– गृहों की कल्पना से जुड़ी हुई है। भरत के नाट्यशास्त्र में जिस स्तर पर नाट्य कला की प्रतिष्ठा हुई है उसी के अनुरूप नाट्य– गृह का भी विवेचन किया गया है। इसके आधार पर यह बताना कठिन है कि लोक में प्रचलित परंपरा में नाट्य– गृहों की वास्तविक स्थिति किस रूप में थी लेकिन नाट्यशास्त्र में जिस लोक धर्मी परंपरा का उल्लेख किया गया है उस आधार पर कहा जा सकता है कि भारत में साधारण लोक– समाज के लिए खुली नाट्यशालाओं का प्रबंध रहा है जिसमें मंदिरों की नाट्य शालाएँ, मुक्ता काशी रंगमंच,नौटंकी, स्वांग, जात्रा आदि विद्यमान हैं। पूर्ववर्ती रंगशालाओं के अवशेषों के माध्यम से, शास्त्रीय संस्कृत– नाटकों के ह्रास के बाद भी रंगमंच की परंपरा समृद्ध रही। भक्ति कालीन विशिष्ट चरित्र राम तथा कृष्ण के -जीवनपरक कथानक पर आधारित रामलीला और रासलीला का मंचन मानस पटल पर आज भी मुद्रित है।

भारत के प्राचीन साहित्य में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि संस्कृत युग में रंगमंच बहुत विकसित था। अनेक पुस्तकों में रंगशाला के निर्माण की विधि बताई गई है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि रंगभूमि और नाट्यशाला का अर्थ सुनियोजित,सुनिर्मित, सुसज्जित तथा सुंदर नाट्य– भवन होता था; केवल किसी प्रकार खड़ा किया हुआ आकार ही नहीं। संस्कृत– स्त्रोतों के परीक्षण से प्राचीन भारत में नाट्यशाला के निर्माण का विस्तृत विवरण मिल जाता है। यह भी पता चलता है कि नाट्यशाला कितने प्रकार की होती थी और कैसे बनाई जाती थी।

रंगमंचीय विधि– विधान की ओर आगे बढ़ने से पहले भरत के नाट्यशास्त्र की ओर रूख करना आवश्यक है जिससे यह तय किया जा सके कि भारतीय रंगमंचीय परंपरा का मूलस्वरूप क्या था । भरत मुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र के संपूर्ण द्वितीय अध्याय में रंगमंच के विधान एवं निर्माण का वर्णन किया गया है । द्वितीय अध्याय की कुछ कारिकाएं अस्पष्ट हैं परंतु आचार्य अभिनव गुप्त की टीका की सहायता से उन्हें समझने में बहुत सहायता मिलती है । भरतमुनि ने रंगमंच– निर्माण की पृष्ठ भूमि में एक महत्वपूर्ण कथा का उल्लेख किया है । दानवों पर इन्द्र के विजय के उपलक्ष्य में भरत ने 'महेन्द्र विजयोत्सव' नामक नाटक में प्रदर्शन किया जिसमें असुरों की निंदा थी । इस पर दानवों ने अत्यंत क्रुद्ध होकर उसका भयंकर विध्वंस किया । तब ब्रह्मा ने दानवों को शांत करने के निमित्त नाट्य के महत्व का उपदेश दिया । उन्होंने कहा कि नाट्य में सभी लोकों के सुख व दुःखात्मक भावों का प्रदर्शन होगा जिसे देखने से दुःखी व्यक्तियों का विनोद वो होगा ही; साथ ही जीवन में हित का धर्म, यश और बुद्धि का अभ्युदय भी होगा ।

'दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।

विश्रान्ति जननं काले नाट्य में तद्भविष्याति।।

धर्म्यं यशस्य मायुष्यं हितं बुद्धि विवर्द्धनम्।

लोकोपदेश जननं नाट्य मेतद्भविष्यति।।'[42]

इतना ही नहीं नाट्य में विश्व की समस्त विधा, कला तथा शिल्प का एकसाथ समन्वय होगा–

'न तज्ज्ञानंन तच्छिल्पंन सा विद्यान सा कला।

---

[42]भरतमुनि,नाट्यशास्त्र,अध्याय 1,कारिका,,चौखम्बा संस्कृत संस्थान,वाराणसी,द्वितीय संस्करण संवत् 2040 विक्रम,पृ.सं - 114-115

ना सौ योगोनतत्कर्म नाट्येऽस्मिन यत्र दृश्यते।।'[43]

मुनियों ने भरत से नाट्यवेश्म के विषय में पूछा क्योंकि नाट्य में सर्वप्रथम इसी की आवश्यकता होती है। भरत ने बताया कि ब्रह्मा की आज्ञा से विश्व कर्मा ने नाट्यवेश्म का निर्माण किया है। भरत ने उसी नाट्य वेश्म या नाट्य– मण्डप के निर्माण का वर्णन नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में किया है। विश्वकर्मा ने तीन प्रकार के नाट्यवेश्म का निर्माण किया–

विकृष्ट (आयत), चतुरस्र (वर्ग), त्रयरस्र (त्रिकोण)।

विकृष्ट देवताओं के लिए, चतुरस्र भू लोक के लिए तथा त्रयरस्र निम्न कोटि के दर्शकों के लिए है। देवताओं के लिए बड़े रंगमंच के विषय में भरत ने कहा है कि हमें देवताओं से प्रतिस्पर्द्धा नहीं करनी चाहिए क्योंकि जहां हमें परिश्रम करके क्या बनाना होगा वहाँ देवता अपनी इच्छा–मात्र से बना सकते हैं। विकृष्ट नाट्यगृह 108 हाथ लंबा होता है। अत्यधिक लंबाई होने से मनुष्यों के लिए अनुपयोगी है। अतःभरत ने चतुरस्र मध्यम रंगमंच या नाट्यमण्डप को ही मनुष्यों के लिए उत्तम माना है –

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम्।

तत्र पाठ्यं च गेयं च सुख श्रीव्यतरं भवेत्।।

और इससे बड़ा रंगमंच बनाने का निषेध किया है–

अत ऊर्ध्वन कर्तव्यं कर्त्तृभिः नाट्यमण्डपः।

---

[43]वही,पृ.सं-113

स वेश्मनःप्रकृष्टत्वा त्व्रजेद व्यक्ततां परम्[44]।।

इस विषय पर अभिनवगुप्त का कथन है कि भरत ने सबसे बड़ा रंगमंच देवताओं को दिया है इसका अर्थ यह है कि यदि डिम आदि रूपकों का अभिनय करना हो जिसमें देवताओं और असुरों का संग्राम दिखाया जाता है तो सबसे बड़े रंगमंच का उपयोग करना चाहिए ताकि संग्राम आदि के लिए पर्याप्त स्थान मिल सके। यदि राजाओं के प्रणय– व्यापार आदि का प्रदर्शन करना हो तो मध्यम कोटि का रंगमंच हमारे उद्देश्य के लिए पर्याप्त काफी होगा। यदि साधारण लौकिक जीवन की विकृतियों को प्रदर्शित करने वाले प्रहसन और भाण जैसे छोटे रूपकों का अभिनय करना हो (जिसमें सामान्य नर– नारी पात्र होते हैं) तो छोटे रंगमंच का उपयोग कर सकते हैं।

भारतीय साहित्य में संस्कृत के बाद शास्त्रीय रंगमंचीय कला पर अवसान अवश्य छा गया किंतु यह परंपरा पूर्ण-रूप से समाप्त नहीं हुई। भरत ने नाट्यशास्त्र में लोकधर्मी नाट्य की बात कही है जोकि शास्त्रीय नाट्य परंपरा के समानांतर है। इस लोकधर्मी नाट्य का मंचन सदैव होता रहा। मध्यकालीन रंगमंचीय परंपरा में हम इस का विशिष्ट रूप से अध्ययन करते हैं। भक्ति को आधार बनाते हुए ये नाट्य शैलियां लोगों के बीच हमेशा जीवित रहीं। अपना अस्तित्व बनाए रखा। 'भारतीय नाट्य इतिहास में मध्ययुगीन 'बहुरंगी नाट्य' का विविधतापरक स्वरूप से अधिक आकर्षक कोई भी अन्य पक्ष नहीं है। शास्त्रीय परंपरा के विच्छिन्न होने के पश्चात्, आधुनिक भाषाओं के जन्म, जन पद संस्कृति के उदय और प्रसार के साथ– साथ लोक परंपरा के नाट्य का भी उदय और विकास हुआ। हमारा लोकनाट्य इसी मध्ययुगीन बहुरंगी नाट्य–परंपरा से जुड़ा है। मध्ययुगीन नाट्य– परंपरा अकस्मात् एवं पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो गई। वह हमारी लोकनाट्य– परंपरा में जीवित है। भक्तिकाल के

[4444]वही,अध्याय 2,कारिका,पृ,सं-116

रंगमंचीय धारणा में बदलाव आया। नाटक और रंगमंच शास्त्रीय पद्धति न रहकर जन मानस के बीच लोक पारंपरिक शैलियों के रूप में प्रतिष्ठित हुए। भारतीय रंगमंच की वैभवशाली परंपरा के बाद भक्तियुग में लीलानाटकों के माध्यम से जन– जन तक पहुंची। तत्कालीन विभिन्न काव्य ग्रंथों में नट–नटी, नाच, तमाशा और जात्रा जैसे शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि सामाजिक परिवेश में रंगमंचीय गतिविधियों का समावेश था और लोगों का जुड़ाव भी। मध्ययुग में राजनीतिक तख्ता बदल जाने पर भी भारतीय संस्कृति में नाटक एवं रंगमंच के तत्व समाज में उपस्थित थे। माना जाता है कि नाटक एवं रंगमंच का स्वरूप संस्कृत के शास्त्रीय नाटकों जैसा नहीं था परंतु जिन नाट्यशैलियों के रंग-प्रदर्शन प्राप्त हुए, उनमें भरत के नाट्य शास्त्रीय गुणों का समावेश अधिक है।

राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार मध्यकाल में भारत का शासन– सूत्र मुसलमानों के हाथ में आ गया था। उन्होंने नाट्य और रंगमंचीय गतिविधियों को प्रोत्साहन नहीं दिया क्योंकि वे किसी का रूप बनाना इस्लाम धर्म के विरुद्ध मानते थे। दूसरी ओर उधर राजाओं का आश्रय समाप्त हो जाने से शास्त्रीय रंगमंच की सुव्यवस्था जाती रही और इधर जनता अपने मनोरंजन के लिए खुले मैदानों में नौटंकी और स्वांग आदि के रूप में नाटक खेलने लगी। मंदिरों की नाट्य–शालाओं मे भी प्रदर्शनकारी कलाओं का प्रदर्शन होने लगा। भक्ति रस में लीन भक्त राम और कृष्ण के साक्षात् रूप को देखने दर्शक एवं प्रेक्षक के रूप में मंदिरों में आया करते थे। साथ ही लीलानाटकों के रूप में, मुक्ताकाशी रंगमंच के माध्यम से, अपने ईश्वर के प्रति भक्ति– भावना लिए, रामलीला और रासलीला का आनंद उठाया करते थे। इससे जनता इन प्रदर्शनकारी कलाओं में प्रतिभागी भी बनती थी और धार्मिक वृत्तियों को भी जागृत करती।

भक्तिकालीन रंगमंच की प्रमुख विधा रामलीला तथा रासलीला; दोनों का इतिहास अति प्राचीन है। भक्ति– काव्य का जब ऊषाकाल था उसी समय हिंदी नाट्य– रचना और रंगमंच का भी सुनहला प्रभात आया था। दोनों को उसी विराट वैष्णव आंदोलन से प्रेरणा मिली जो 13वीं शताब्दी में भक्ति जागृत करने के लिए भगवान की लीलाओं के नाटकीय प्रदर्शन अत्यंत सफल तथा आकर्षक साधन सिद्ध हुए। स्पष्टतः इस प्रकार एक आकर्षक और लोकप्रिय रंगमंच के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत हो गई। वैष्णव आंदोलन के द्वारा धर्म के जिस रूप का विकास हुआ उसमें जन भाषा परिलक्षित हुई। फलतःक्लिष्ट सिद्धांत होने की वजह से नवीन रंगमंच के लिए, जनभाषाओं में नाटकों की मांग हुई। अनेक देशी भाषाओं में भक्त वत्सल भगवान की लीलाओं का प्रदर्शन आरंभ हुआ। उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग में इस रंगमंच के दो क्षेत्र थे– मंदिर और राजभवन। वैष्णव रंगमंच की पश्चिमी शाखा का विकास मंदिरों या अन्य धार्मिक स्थानों पर हुआ परंतु पूर्वी शाखा का विकास प्रायःराजभवनों और दरबारों में हुआ।

ऐसा माना जाता है कि रासलीला का प्रथम आयोजन वल्लभाचार्य ने किया और रामलीला का श्री गणेश स्वयं गोस्वामी तुलसी दास ने किया। यह दिखाया जा सकता है कि सूरसागर के अनेक पद संवाद रूप में हैं जिनका प्रयोग रासलीला में किया जाता था। रामचरितमानस के भी अनेक स्थल संवाद– रूप में हैं। उसके अनेक संवाद एक प्रकार से छोटे– छोटे एकांकी ही हैं जो अभिनय और प्रदर्शन की दृष्टि से मंचित की जा सकती थीं। अयोध्या काण्ड में घटनाओं का गुंफन, चरित्र– विकास, आंतरिक-बाह्य द्वन्द्व और करुण रस का पर्यवसान जैसी घटनाएं उसे नाटकीय यूनानी त्रासदियों की श्रेणी में ला देते हैं। रामलीला का रंगमंच यथार्थवादी रंगमंच पर मंचित किया जाता रहा है और परंपराशील नाट्य शैलियों से भी

रामलीला के मंचन के लिए अनेक सामग्रियां प्राप्त हुई । विशेषतःपरिहास के प्रसंग और पात्र । रामचरित मानस नाटकीय अभिनय– प्रसंगों का सदा ही प्राण रहा और इसी कारण रामलीला में रंगमंच का साहित्यिक रूप सुरक्षित रहा।

कहा जाता है कि वैष्णव रंगमंच की यह पश्चिमी शाखा नाटक के मौलिक रूप तथा विशेषताओं को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ रही । समय बीतने पर ब्रजमण्डल के गीत, व नाट्य आदि भक्त-गवैयों के गीत काव्य बनकर रह गये । रंगमंच से उनका संबंध क्रमशःटूटता ही गया । इस प्रकार एक महान नाट्य–रचना– शैली की सभी संभावनाएं विलुप्त हो गईं । इसका कारण स्पष्ट ही है– राज्य संरक्षण का अभाव । सुव्यवस्थित रंगमंच संरक्षण के ही सहारे संवर्द्धित होता है । यही बात साहित्यिक नाट्य– लेखन के साथ भी लागू होती है । रंगमंचीय कलाएं संरक्षण का अभाव होने से सुविकसित न हो सकीं।

सौभाग्य से वैष्णव रंगमंच की पूर्वी शाखा को यह संरक्षण प्राप्त था । 15वीं - 17वीं शती के बाद तक मिथिला, नेपाल और असम में, हिंदी की समृद्ध उपभाषा मैथिली में 35 से ऊपर उच्चकोटि के नाटककारों और कवियों ने 106 से अधिक नाटकों की रचना की । ये सभी नाटक उस रमणीक तथा सुरम्य रंगमंच पर अभिनीत हुए । इन नाटकों को कीर्त्तनियां नाटक की संज्ञा दी गई है । मिथिला के इन कीर्त्तनियां नाटकों से मिलते– जुलते किंतु उनसे बहुत पहले आसाम में मैथिली– भाषा के अंकिया नाट कहे जाने वाले वैष्णव नाटकों की रचना हुई ।

कीर्त्तनियां नाटक के रंगमंच की आवश्यकताएं भी बदल गईं । सूत्रधार एवं नटी प्रस्तावना समाप्त हो जाने के बाद भी अभिनेता पूरे अभिनय– भर रंगमंच पर विद्यमान रहने लगे । दृश्य– परिवर्तन के लिए पर्दे आदि की सुविधा नहीं थी इसीलिए सूत्रधार और नटी गीतों

के बीच में कथा का सूत्र कायम रखते थे। उनका आशय दर्शकों को समझाते चलते थे और बीच–बीच में यथा स्थान टिप्पणियां भी करते जाते थे। पीछे चलकर मैथिली में सूत्रधार के स्थान पर तटस्थ कहलाने वाले पात्रों का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार साहित्यिक तथा साधन– संपन्न रंगमंच का रूप लोक– रंगमंच के स्वरूप में बदलता गया। संगीत इन रंगमंच तथा नाटकों के लिए प्राण था। ऑर्केस्ट्रा इसका अत्यन्त आवश्यक अंग था और लेखक, सूत्रधार व अभिनेता; सभी के लिए संगीत लिए का पूरा मर्मज्ञ होना आवश्यक था। वास्तव में कीर्त्तनियां नाटक और पाश्चात्य देशों के ओपेरा में अधिक अंतर दिखाई नहीं देता।

उत्तर और पूर्वी भारत की मध्यकालीन साहित्यिक तथा नाट्यगत परंपराओं में असम का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। असम की नाट्य कलाओं का इतिहास – विशेष कर सत्र (मठ) की संस्था से संबद्ध वैष्णव रंगमंच का इतिहास एक समानांतर विकास की घटना है जो देश और काल दोनों स्तरों पर काम करने वाली ऐसी ही सांस्कृतिक प्रक्रिया का सूचक है। यद्यपि समकालीन असमिया संगीत, नृत्य, नृत्य नाटक और रंगमंच की परंपरा का मुख्य स्रोत शंकर देव के अद्‌भुत व्यक्तित्व में ढूंढा जा सकता है। उनके पूर्व की कई शताब्दियों के साहित्यिक और कलात्मक विकास से इस परंपरा का सजीव संबंध रहा है। साथ ही जहां अंकिया– नाट या भाओना असम का विशिष्ट नाट्य रूप है, पड़ोसी क्षेत्रों के नाट्य रूपों में समानताएं दिखाई देती हैं। साथ ही वृंदावन,मथुरा और आंध्र जैसे दूरस्थ क्षेत्रों की नाट्य विधा भी अंकिया नाट की तरह हैं।

असम राज्य में वैष्णव रंगमंच की जानकारी के लिए असम की समृद्ध और रंगबिरंगी संस्कृति के इतिहास, असमिया भाषा के विकास और भारत के अन्य भागों के सदृश

गतिविधियों और आंदोलनों से असम के संबंधों को ध्यान में रखना अनिवार्य है । असम का इतिहास जटिल और रोचक है । कई वर्षों तक विभिन्न क्षेत्रों से आए सांस्कृतिक प्रभावों की जाने कितनी परतें उस पर चढ़ गयी हैं । इन्हीं कारणों से असमिया संस्कृति में नयी गतिविधियों का जन्म हुआ है । पड़ोसी क्षेत्र मणिपुर की भांति ही असम की जनसंख्या में भी जनजातीय समुदाय और नगरवासी सम्मिलित हैं । घाटी में रहने वाले से पर्वतीय जनजातियों का पार्थक्य ऊपर से दिखाई देता है । उसके बावजूद सभी समुदाय एक– दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं । साथ ही, पूर्व वैष्णव संस्कृति और वैष्णव संस्कृति के बीच स्पष्ट अंतर होते हुए भी दोनों में समान तत्व रहे हैं । विच्छिन्नता की बजाय अविच्छिन्नता की रेखाएं ही दिखाई देती हैं । प्राचीन काल से ही असम पर अनेक जातियों, भाषायी वर्गों और संस्कृतियों का प्रभाव लगातार रहा है । असमिया, बांग्ला, ओड़िया, मराठी और राजस्थानी भाषाओं में अनेक विशेषताएं समान रूप से मिलती हैं । वैष्णव आंदोलन के परिणामस्वरूप भी इन घटनाओं का एक अखिल भारतीय स्वरूप उभरा । ब्रज बोली कही जाने वाली काव्य भाषा वैष्णव वाद की अभिव्यक्ति का माध्यम थी । असम, बंगाल, मिथिला तथा ब्रज– इन सब क्षेत्रों के वैष्णव कवियों ने इस भाषा में लिखा है । यद्यपि असम का अंकिया– नाट बहुत बाद के काल की घटना है तथापि वह उन रचनाओं की श्रेणी में ही आता है जिनका इसी प्रकार का क्षेत्रातीत आयाम था । यह बात चाहे कितनी भी आश्चर्यजनक क्यों न लगे किंतु आधुनिक अनुसंधान के अनुसार अंकिआ– नाट और असम की अन्य नाट्य विधाओं से ही हिंदी की शुरुआत हुई है ।

भक्तिकाल के सन् 1100 से 1600 ई. के मध्य रचित मैथिली भाषा नाटक और रंगमंच को तीन श्रेणियों में विभक्त करके देखा जा सकता है । इस कालखंड में तीन प्रकार के नाटक लिखे गए–प्रथम प्रहसन, द्वितीय कीर्तनियां और तृतीय चरित्रात्मक नाटक । इन नाटकों

की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये सम–सामयिक,सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना को प्रस्तुत करते हैं। इन तीनों श्रेणियों की आधारशिलाएं एक होते हुए भी उनका विकास प्रादेशिक लोक परंपराओं के अनुसार हुआ और इसलिये उनकी अलग–अलग विशेषताएं भी हैं। तत्कालीन नाट्य साहित्य पर सामाजिक और धार्मिक स्थिति का विशेष प्रभाव दिखाई देता है। भक्ति युग में माना जाता है कि मिथिला के ब्राह्मण प्राचीन काल से ही रूढ़िवादी और कट्टर पंथी रहे हैं। अतः बौद्ध धर्म के प्रभाव से समाज में फैले हुए रक्त की अशुद्धता के निवारण के लिए इस प्रदेश के कर्णाट वंशी राजा ने प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप कुलीनता की प्रथा प्रचलित तो हुई किंतु रक्त-मिश्रण के परिहार के जिस उद्देश्य से इस कुलीनता की कल्पना की गयी उसकी पूर्ति नहीं होने पायी। इसके विपरीत इस तथा कथित संस्था के कारण समाज में अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार का समावेश हुआ। सामाजिक विशृंखलता के कारण जनसामान्य के जीवन में विलासिता, आडंबर, भ्रष्टाचार, कपट, धूर्तता और मिथ्या भक्ति का समावेश हुआ। दासता,दरिद्रता एवं वेश्या वृत्ति तत्कालीन समाज के आवश्यक अंग–से बन गये थे[45]। सो लेखक ज्योतिरीश्वर ने सामाजिक व्याधियों पर निर्मम प्रहार करने के लिए 'प्रहसन' का आश्रय लिया।

भक्तिकाल में, इस प्रदेश में ज्ञान, धर्म एवं भक्ति के समन्वय के आधार पर बहुदेव वाद की उपासना प्रचलित थी। इसके साथ ही 'भागवत्' धर्म की लोकप्रियता एवं प्रधानता भी प्रतिष्ठित हो रही थी जिसके प्रचार में जयदेव के गीत–गोविन्द का विशेष सहयोग रहा। इस धर्म का संबंध रागात्मिका वृत्ति से होने के कारण जन-हृदय अत्यधिक प्रभावित होकर,सर्व–शक्तिमान के समक्ष विभोर की स्थिति में, आत्म–निवेदन प्रस्तुत करता था। रागात्मिका वृत्ति की स्वाभाविकता और सरलता के कारण वैष्णव धर्म–विशेष कर कृष्ण भक्ति–ने भी जन–जीवन

[45]मैथिली नाटक का उद्भव और विकास,प्रतापनारायण झा,महाराजा सयाजीराव,विश्वविद्यालय,बडौदा,1973 पृ सं-75

को अत्यधिक प्रभावित किया । यही कारण है कि उमापति और विद्यापति ने राधा कृष्ण विषयक अनेक उत्कृष्ट पदों की रचना करके लोकप्रियता प्राप्त की।

प्रहसनभक्ति युग में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण शास्त्रीय नाट्य परंपरा का पतन हुआ परंतु नाटक के अन्य रूपों ने शास्त्रीय नाट्य का स्थान ग्रहण करके मनोरंजन करना प्रारंभ किया । इस विषम परिस्थिति में प्रहसन अथवा अन्य अपेक्षा कृत कम संस्कृत रूपों के अपनाये जाने के मुख्यतः तीन कारण दिखायी पड़ते हैं । प्रथम तो यह है कि ये रूप अत्यंत प्राचीन हैं जिनकी विशेषताओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इनके अंतर्गत श्रृंगार, हास्य एवं लोकरंजन का समावेश आदिम अवस्था का प्रतीक है । इन रूपों को अपनाये जाने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह था कि उस समय में आधुनिक युग की भाँति समस्या नाटकों का प्रचलन नहीं था । समाज में फैली कुरीतियों, रूढ़ियों तथा अन्य व्याधियों को दूर करने के लिए लेखकों का हृदय सदैव उद्वेलित रहता था । अतएव लेखकों ने प्रहसन के माध्यम से ही उन खोखले पनों का पर्दाफाश करना प्रारंभ किया क्योंकि ये ही उनके अस्त्र थे । इसके साथ ही तीसरा प्रमुख कारण यह है कि प्रहसन के द्वारा हास्य प्रदर्शित करके बालकों और स्त्रियों में नाट्य-विषयक अभिरूचि उत्पन्न की जाती है । इससे नाटक के विषय में रूचि हो जाने पर, शेष रूपक के भेदों के द्वारा उनको धर्म, अर्थ और काम की शिक्षा प्रदान की जाती थी । साथ ही आचार ही नव पाखण्डी आदि का शुद्धवृत्त तथा धूर्त आदि से व्याप्त बन्ध की आदि का संकीर्ण चरित त्याज्य रूप से दिखलाया जाता है।

ज्योतिरीश्वर द्वारा संस्कृत और मैथिली; दोनों ही भाषाओं में 'धूर्तसमागम' प्रहसन की रचना की गई । इस प्रहसन की कथावस्तु कुछ इस प्रकार है–परंपरा के अनुसार नान्दी के पश्चात् सूत्रधार प्रवेश कर के नाट्यकार एवं उसके आश्रयदाता की प्रशंसा करता है । नटी को बुलाकर उसे वसंत ऋतु के अनुकूल तथा प्रहसन के प्रधान रस श्रृंगार के गीत गाने के लिए आग्रह करता है । इतने में

नेपथ्य से ऐसे व्यक्ति के प्रवेश के गीत सुनाई पड़ते हैं जिसके हाथ में दंड और कमंडल है, मस्तक पर तिलक , शरीर पर सुंदर कषाय वस्त्र शोभा पा रहा है और धूर्त के समान इधर-उधर वह देखता हुआ चलता है। सूत्रधार इसका परिचय देता हुआ कहता है कि यह आचार और धर्म से रहित, गणिका-विलासी, उग्र, दंभी, त्रिपुंड लगाये हुए और हाथ में दंड-कमंडल लेकर पाखंड से लोगों को धोखा देने वाला विश्वनगर नाम का संन्यासी है । यह संन्यासी अपने एक शिष्य स्नातक के साथ प्रवेश करता है। वसन्त–सौंदर्य की सुषमा से उद्दीप्त होकर स्नातक का शरीर काम से रोमांचित हो जाता है। गुरु के पूछने पर वह ससंकोच कहता है कि आज प्रातःकाल जब से उसने अप्सराओं के सौंदर्य को लज्जित करने वाली राजनर्तकी अनंगसेना को देखा तभी से उसका शरीर कुसुमायुध–वैधित हो गया है । विश्वनगर ने भी हँसते हुए कहा कि जबसे उसने सुरत प्रिया नाम की गणिका को देखा है तभी से वह काम-शर- पीड़ित और विहल हो गया है। इसी प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों मृतांगार नामक धनी व्यक्ति के घर भिक्षाटन के लिए जाते हैं । इस प्रकार के मृतांगार यह कहते हुए प्रवेश करता है कि अधिक व्ययशील होने से कुबेर को भी दरिद्र होना पड़ता है अतः धनियों को चाहिए कि प्राण तक को होम कर दें किन्तु याचकों को कभी कुछ नहीं देना चाहिए। इस प्रकार के कथोपकथन में स्नातक भी भिक्षा की याचना करता है और तरह-तरह के तर्क–वितर्क करता है। इसी में मृतांगर बड़े ही शांत भाव से कहता है कि यहां से थोड़ी दूर पर सूरत प्रिया नाम की एक महिला रहती है। उसी के यहाँ आप लोग भिक्षा की याचना करें। यह पात्र भी एक धूर्ता ही थी जो लोगों को धोखा देकर अपना जीवन निर्वाह करती थी। इस तरह प्रहसन में अनंगसेना, मिश्र महाशय, मूलनाशक, बंधु बंचक आदि पात्रों की धूर्तता का परिचय प्रहसन में होता है जिसके माध्यम से नाटककार ने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों पर गहरा व्यंग्य किया है । उस समय समाज में ब्रह्मचारी और संन्यासी के वेष को

धारण करने वाले व्यक्तियों से भ्रष्टाचार, विकृत-वासना,ढ़ोंग आदि को प्रश्रय मिल रहा था जिसे नाटककार ने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है।

'धूर्तसमागम' और 'हास्यार्णव' प्रहसन की कथा काफी हद तक एक–दूसरे से मिलती है जबकि हास्यार्णव प्रहसन के रचयिता जगदीश्वर भट्टाचार्य का समय ज्योतिरीश्वर से बहुत बाद का है। अतः कहा जा सकता है कि 'हास्यार्णव' की कथा 'धूर्तसमागम' से प्रभावित है। इस प्रहसन में भी प्रारंभ के शिव-स्तुति के पश्चात् ताजा अभय सिंधु की राज्य व्यवस्था का हास्य पूर्ण वर्णन किया गया है। 'धूर्तसमागम' प्रहसन में मैथिली के कुल बारह गीत हैं जिसमें से कुछ केवल संस्कृत के पद्यानुवाद मात्र हैं। इसके साथ ही जयदेव के गीत-गोविंद से भी प्रभावित गीत परिलक्षित हैं। इनमें प्रवेश गीत, राजवर्णना, ऋतुवर्णना आदि गीत कीर्तनियाँ नाटक के गीतों के समान है। अतएव ये गीत प्रहसन की कथा में सहायक सिद्ध होते हैं। साथ ही प्रवेश गीतों से पात्रों के व्यवहार एवं स्वभाव का परिचय भी मिल जाता है। उदाहरणार्थ उस प्रसंग को लिया जा सकता है जिसमें विश्वनगर और स्नातक अनंग सेना को लेकर असज्जाति मिश्र के पास न्याय के लिए जाते हैं। असज्जाति मिश्र अनंग सेना के रूप से मोहित होकर किस भांति कपट का जाल फैलाता है इसका अत्यन्त रोचक चित्र निम्नलिखित गीत द्वारा प्रस्तुत किया गया है -

देशाषरागे ।। एक ताली ताले।।

तो हरि ओ नहि के सनातक भगव,

तो हरि नहि नारी।।

हमरि एह मरा लग अछ बैसलि,

परत षहलि अविचारी ।।ध्रुव।।

परुकाँ सपने हमें अवलोकलि,

हमरि भव सनात के दुहु जने,

हार लभग वसना त के दुहुजने,

तन्हि असजातिक थाने।।

क विशेष रजोति कए हुगावे,

रा एहर सिंह बुझ भावै[46]।।

उपर्युक्त गीत के माध्यम से ही विश्वनगर और स्नातक के चले जाने की बात बताकर कथावस्तु में स्वाभाविक विकास लाने की चेष्टा की गयी है ।

प्रवेश गीत के द्वारा पात्र स्वयं अपना परिचय प्रस्तुत करता है जिससे उसके व्यवहार एवं स्वभाव की जानकारी मिल जाती है और जैसाकि कहा जा चुका है -उसमें हास्य भी उत्पन्न होता है यह निम्नलिखित गीत से प्रकट है–

अइलि हेमम वासी।

पर धना बन्धिखा थि निवासी।।ध्रुवं।।

कुश कमण्डल पूड़ा साखँ।

काकन बाह गरारू दराख।।

चाँदन बेन्दा लाइ सुललाट।

[46]मैथिली धूर्त समागम,ज्योतिरीश्वर,पृ.सं -23

पथिक ठक थि बैस लिबाट।।

आरब आहर धरम मोख।

मुरख समर्थ सबहि सोख।।

सनि असुरत प्रिया रीति।

हस इसिरी गणेसर मन्ति[47]।।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन कृतियों के द्वारा समकालीन जन-जीवन के साथ तात्कालिक विविध स्थितियां प्रकाश में आती हैं। ज्योतिरीश्वर ने अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से न केवल परवर्ती काल के हिन्दी-मैथिली के नाटककारों को प्रभावित किया बल्कि संस्कृत के नाटककारों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। आज तक ये 'वर्णरत्नाकर' के माध्यम से केवल गद्य लेखक के रूप में ही हिन्दी जगत से परिचित रहे हैं पर इनका यह प्रहसन कवि रूप को भी प्रकाशित करता है। साथ ही गद्य-पद्य के माध्यम से साहित्यिक विधा प्रस्तुत करने वाले ये प्रथम साहित्य–मनीषी हैं। इस दृष्टि से ज्योतिरीश्वर और उनके प्रहसन का निजी व ऐतिहासिक महत्व स्वयं-सिद्ध है।

'धूर्तसमागम' प्रहसन के महत्व एवं उसकी विशेषताओं का हम पूर्ववर्ती विवेचन में लक्ष्य कर चुके हैं। इसकी सबसे बड़ी महत्ता इसमें है कि सर्वप्रथम इसी प्रहसन में संस्कृत-प्राकृत के साथ-साथ 'देसिलबयना' के महत्व और उसके लालित्य को स्वीकारकर समयोचित समावेश हुआ। वह भी गीतों के रूप में। खड़ी बोली के लिए बहुत दिनों तक यह समस्या रही कि उसमें काव्य –भाषा लायक है अथवा नहीं किंतु संस्कृत-अपभ्रंश के शासन काल में भी ज्योतिरीश्वर ने महत्वपूर्ण कदम उठाकर न केवल उस भाषा की प्रौढ़ता सिद्ध की अपितु उन्होंने यह उदाहरण भी प्रस्तुत

[47] प्राचीन भाषा नाटक,डॉ दशरथ ओझा और जगदीशचन्द्र माथुर,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली 1975,पृ,सं -3

किया कि प्रत्येक भाषा में काव्य-व्यवहृत होने की शक्ति विद्यमान रहती है। केवल प्रयोगकर्ता की क्षमता एवं सहृदयता की आवश्यकता रहती है।

कीर्तनियां शैली का प्रथम नाटक–पारिजातहरण

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह माना जाता है कि उमापति उपाध्याय का स्थितिकाल विद्यापति से पूर्व है[48]। अतःइन्ही विद्वानों के मंतव्य के आधार पर 'पारिजातहरण' का विवेचन 'गोरक्षविजय' से पूर्व ही प्रस्तुत किया जा रहा है। द्वितीयतः यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि सर्वप्रथम ग्रियर्सन महोदय ने इस नाटक का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया। फिर चन्दा झा और चेतनाथ झा ने भी इसका संपादन किया। अभी कुछ दिन पूर्व ही श्री बजरंग वर्मा ने भी विद्वता पूर्ण भूमिका के साथ 'नव परिजात मंगल' के नाम से उदयाचल आर्यकुमार पथ, पटना से अपने संपादकत्व में इसे प्रकाशित किया है। इसमें वर्मा जी ने उपर्युक्त तीनों संस्करणों के पाठ भेदों को उपस्थित किया है[49]। उमापति और विद्यापति की रचनाओं के भाव-साम्य के आधार पर भी 'पारिजातहरण' का रचनाकाल 14वीं शताब्दी माना जाता है। विद्यापति का समय प्रायः सन् 1380 से सन् 1460 ई. तक स्वीकार किया जाता है। विद्यापति के बहुत – से पदों पर उमापति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कई स्थलों पर तो दोनों कवियों की भणिता शैली में इतना अधिक साम्य है कि आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। उपमानों के प्रयोग का भी यही हाल है। उमापति द्वारा रचित पद तो करीब-करीब विद्यापति के नाम से मिलता है। वह पद है–

अरुन पुरुष दिसि बहलि सगरि निसि गगन मगन भैल चन्दा।

मुनि गेलि कुमुदिनी तइ अओ तोहर धनि मूनल मुख अरबिन्दा।।22।।

---

[48]हिन्दी नाटकः उद्भव और विकास,डॉ दशरथ ओझा,पृ. सं - 365-66

[49]मैथिली नाटक का उद्भव और विकास,प्रतापनारायण झा,पृ सं - 87

कमल बदन कुबलय दुहुच न अधर मधुरि निर माने।

सगर सरीर कुसुम तुझ सिरि जल किए तुझ हृदय परवाने।।24।।

असकति कर कंकन न हिप हिरसि हृदय हार भेल भारे।

गिरि सम गरुअ मानन हिं मुंचसि तुझबे बहारे।।26।।

मानिनि, अब गुन परि हरिहर खिहे रुधनि मानक अबधि बिहाने।

हिमगिरि कू मरीचर न हृदय धरि सुमति उमापति भाने[50]।।28।।

पारिजातहरण की कथा कुछ परिवर्तन के साथ विभिन्न पुराणों में वर्णित है। उमापति ने अपनी रचना का आधार हरिवंश पुराण की कथा को बनाया है किंतु उन्होंने अपनी प्रतिभा के आधार पर कुछ इस प्रकार के परिवर्तन भी किये हैं जिसके कारण नाटक की घटना में स्वाभाविकता, सरलता और नाटकीयता का समावेश अनायास ही हो गया है। 'पारिजातहरण' की संक्षिप्त कथावस्तु इस प्रकार है–एक दिन जब कृष्ण अपनी प्रियतमा रूक्मिणी के साथ रैव तोपवन में वसंत की शोभा का निरीक्षण करते हुए विहार कर रहे होते हैं। उसी समय नारद का आगमन होता है। कुशल–समाचार के पश्चात कृष्ण नारद के हाथ में रखे हुए सौरभ युक्त पारिजात पुष्प की महत्ता पूछते हैं। नारद उन्हें उसकी महत्ता बताते हुए उस पुष्प को उन्हें उपहार में दे देते हैं। कृष्ण उसे रुक्मिणी की ओर बढ़ा देते हैं जिसे प्राप्त करके वह फूली नहीं समातीं। इधर कृष्ण से मिलने के लिए आती हुई सत्यभामा लता की ओट से इस सारी घटना को देख लेती है। वह इसे अपना अपमान समझकर, सिर में पीड़ा के व्याज से अपने मान का संकेत देती हुई अपने निवास स्थान पर चली जाती है।

---

[50]वही,पृ.सं- 33

नारद के भोजन आदि की समुचित व्यवस्था के पश्चात कृष्ण सत्यभामा के शयन कक्ष के समीप आते हैं और अपमान के कारण सत्यभामा की व्याकुलता देखकर कृष्ण उनके चरण-तल को सहलाने लगते हैं। सत्यभामा पूर्वोक्त घटना का स्मरण दिलाती हुए मान में विपरीत मुख होकर बैठ जाती है। कृष्ण के सांत्वना देने पर वह बताती है कि इस अपमान का समाधान एकमात्र पारिजात तरु है जिसके बिना उनका जीवित रहना असंभव है। कृष्ण तत्क्षण ही नारद को बुलाकर तथा पारिजात तरु की योजना का संदेशा देकर अमरावती जाने का अनुरोध करते हैं। वे जानते हैं कि युद्ध के बिना इस वृक्ष को प्राप्त करना असंभव है अतः वे अर्जुन को युद्ध-सज्जा से सज्जित होकर बुला भेजते हैं और सुभद्रा को भी सत्यभामा के सांत्वनार्थ आने का संदेश भेजते हैं। इन्द्र का उत्तर पाकर वे क्रोधा वेश में गरुड़ का स्मरण करते हैं और अर्जुन के साथ पारिजात वृक्ष के हरण के लिए प्रस्थान करते हैं। एकाएक सत्यभामा का वामांग फड़कता है और उधर नारद विजय का समाचार लिए समुपस्थित होते हैं। सत्यभामा के आग्रह करने पर वे युद्ध और पारिजात-हरण की घटना का वर्णन करते हैं। इनका वर्णन समाप्त होते ही कृष्ण व अर्जुन तरु लिए उपस्थित होते हैं। सत्यभामा उसे प्राप्त करके विधिवत् उसकी पूजा और महिमा का गान करने लगती हैं। नारद के यह कहने पर कि इस तरु के नीचे प्रिय-वस्तु के दान से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है, सत्यभामा और सुभद्रा अपने प्रियतमों का दान कर देती हैं। नारद प्रसन्न होते हैं कि अब कृष्णार्जुन उनके दास हैं ; अतः वे उन्हें अपने चरणों को दबाने का आदेश देते हैं। अब नारद को इस बात की चिन्ता होती है कि अखिल विश्व के पालनकर्ता एवं वृकोदर के अनुज अर्जुन को वे किस प्रकार खिला सकेंगे। वे एक-एक गाय का पुनः उन दोनों को सत्यभामा और सुभद्रा के हाथ बेच देते हैं। इस प्रकार नारद के आशीर्वाद से सत्यभामा का सम्मान संपूर्णता में पूर्ण हो जाता है।

उपर्युक्त चर्चाओं में हमने देखा है कि बंगाल में प्रचलित कीर्तन का प्रभाव मिथिला के नाट्य-साहित्य पर पड़ा है अतः संभावना यही है कि उसी से प्रभावित होकर उमापति ने भी

सर्वप्रथम उसे नाट्य रूप दिया हो । कालांतर में कीर्तन गाने वाले अभिनेताओं की मंडली ने कीर्तन-प्रणाली पर आधारित नाटक के इस नये रूप का अभिनय प्रस्तुत किया जिसके परिणामस्वरूप इस शैली की रचना को कीर्तनियां नाटक के नाम से अभिहित किया गया है । इस बारे में स्पष्ट रूप से प्रो. कामेश्वर शर्मा ने लिखा है कि कीर्तनियां शैली के नाटक के पुरष्कर्ता उमापति भगवान कृष्ण की मूर्ति के समक्ष, कीर्तन के रूप में प्रस्तुत नाटक के गीतों को गाते और तद्नुरूप अभिनय किया करते थे । अतः अपनी धार्मिकता, गीतात्मकता एवं कीर्तन-शैली के कारण इसे कीर्तनियां नाटक कहा गया और इस शैली पर लिखे गये परवर्ती काल के नाटकों को भी उक्त नाम से ही अभिहित किया गया[51]।

भक्तिकाल में भागवत धर्म अथवा वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था । संभवतः जन-नाट्य प्राप्त करने के लिए वज्रयान के परकीया-भाव को ग्रहण किया गया जिसके प्रसार में जयदेव के गीत-गोविन्द की कोमल कान्त पदावली ने भी पर्याप्त मात्रा में योगदान दिया । इनके कोमल एवं सरस भावों से गुंफित पद जन-हृदय,विशेषतःभावुक-हृदय के सुप्त मधुर भावों को जागृत करने में सशक्त और सफल सिद्ध हुए । अतः उमापति ने कृष्ण चरित को अपनाकर तथा उसे नाटक का रूप देकर भक्ति के प्रसार में योगदान दिया । प्रस्तुत नाटक के विभिन्न गीतों पर जयदेव की शैली का प्रभाव होने से उक्त मत की पुष्टि हो जाती है । इस संक्रांति-काल में शास्त्रीय एवं जन-नाट्य शैलियों में तात्विक मिश्रण हो रहा था । साथ ही उमापति के प्रस्तुत नाटक में दोनों का समाहार होने से किसी एक शैली की आलोचना नहीं हो सकती । शास्त्रीय शैली के अनुसार नान्दी, प्रस्तावना,पात्रों का प्रवेश आदि कम तथा भरतवाक्य का विधान किया गया है । पताका, प्रकरी शेष तीन अर्थ की प्रकृतियों एवं पंच कार्यावस्थाओं का पालन भी दृष्टिगत होता है । जन नाट्य शैली के अनुकरण पर सूत्रधार का स्वरूप, नाटक का

---

[51]वही,पृ.सं-147

रचना-विधान,गीतों की बहुलता आदि का भक्तिकालीन नाटक में समावेश हुआ है । कीर्तनियां नाटक मुख्यतया सर्वसाधारण के लिए लिखे जाते थे । साथ ही विद्वानों के मनोरंजन का भी ध्यान रखा जाता था । कथा को उलझन से दूर रखना आवश्यक था । संस्कृत-प्राकृत के साथ मैथिली गीतों का प्रयोग वांछनीय था । उमापति ने जन-सामान्य को दृष्टि में रखकर ही इस नाटक की रचना की जिसमें इन्हें पूर्ण सफलता भी मिली।

चरित्रात्मक नाटकः गोरक्षविजय

चरित्रात्मक नाटक गोरक्षविजय के बारे में कहा जाता है कि 'इस नाटक की मूल प्रति नेपाल की राजधानी काठमाण्डू के वीर पुस्तकालय में सुरक्षित है और तालपत्र12x2 पृष्ठों में लिखा गया है । पुस्तकालय से चित्र प्राप्त करके डॉ. उमेश मिश्र तथा डॉ जय कान्त ने इसका संपादन भी किया । इसे तीर भुक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद -2 से प्रकाशित भी किया है किंतु फोटो से संपादन तक के सफर में ,लेखक ने कुछ बदलाव के साथ नाटक को प्रकाशित किया है । उदाहरणतः बिना किसी पाद-टिप्पणी के, मूलपाठ के स्थान पर आधुनिक मैथिली का रूप दे दिया है । गोया 'सुछन्द' के स्थान पर 'स्वछन्द','काहु' के बदले 'कतहु' आदि । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस भाषा के आधुनिकीकरण पर अधिक बल दिया गया है । अतः ऐसी परिस्थिति में लेखक ने दोनों के तुलनात्मक अनुशीलन के साथ-साथ, अपने निजी अनुशीलन से प्राप्त सामग्री को ही प्रस्तुत अध्ययन का आधार बनाया है[52]।'वैसे अभी तक हम सभी हिंदी साहित्य के इतिहास में विद्यापति को मैथिल कोकिल के रूप में ही जानते हैं किंतु यह नाटक उन्हें एक कुशल नाटककार के व्यक्तित्व से मंडित करता है । यह नाटक संक्रांति काल में शास्त्रीय और लोकनाट्य शैलियों के

[52]वही,पृ सं - 92

परस्पर संपर्क के कारण दोनों में एक दूसरे के तत्त्व ग्रहित हुए इस नाटक समेत । सम्मिश्रण के कारण भक्तिकालीन नाटकों के तंत्र अलग तरह के प्रतीत होते हैं । लोकनाटकों की कथावस्तु में पहले के बाद दूसरी कथा अव्यवस्थित तरीके से जोड़ दी जाती थी । विविध पुराण इतिहास तथा लोक प्रचलित दन्त कथाओं में कल्पना का पुट मिलाकर लोकनाट्य तैयार कर लिया जाता है । साथ ही ऐसे नाट्य रूपों में शास्त्रीय क्रम की अपेक्षा संगीत के महत्व की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है । हिन्दी नाट्य- साहित्य के विद्वान डॉ दशरथ ओझा के अनुसार 'इन नाट्य शैलियों की कलात्मकता का परीक्षण करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि उनमें संगीत और नृत्य की रमणीयता के साथ-साथ नाटकत्व किस मात्रा में विद्यमान है । नाटकत्व के लिए कथोपकथन में जितनी सुसंबद्धता होगी, आरोह-अवरोह रहेगा और घटनाएं कौतूहल वर्द्धक होंगीं;नाटक उतना ही प्रभावशाली होगा ।[53]' 'गोरक्षविजय' नाटक में जन-नाट्य शैलियों के पास कुछ शास्त्रीय गुण भी दिखाई देते हैं । अतःइस नाटक में अति-मानवीय तत्वों का समावेश,संगीत तत्त्वों की प्रधानता, समसामयिक जन-रुचि, गीतों के माध्यम से पात्रों का परिचय आदि तत्वों का समावेश यदि जन-नाट्य शैली पर हुआ है तो प्रख्यात इतिवृत्त, आठ पदों में आशीर्वचन युक्त शिव-स्तुति, नाटककार, आश्रयदाता, अभिनय के उपयुक्त समय का उल्लेख, भरत वाक्य का रूप आदि शास्त्रीय तत्व का समावेश भी होता है। इस नाटक में पंचकार्यावस्थाओं का निर्वाह भी न्यूनाधिक मात्रा में हुआ है। प्रथम अवस्था प्रारंभ है जिसके अंतर्गत नेता में किसी वस्तु-प्राप्ति की इच्छा होती है। यह दूसरी बात है कि उसका प्रकाशन कोई दूसरा ही पात्र करे। इस नाटक में नेपथ्य से गीत द्वारा उसका प्रकाशन इस प्रकार हुआ है–

अच्छ अच्छ राजा मछेन्द्रनाथ।

---

[53]वही पृ.सं- 74

योगतेजिरे युवति शत साथ[54]।।

यहां प्रारंभ नामक की कार्यावस्था और बीज नाम की अर्थ-प्रकृति प्रारंभ होती हैं। दूसरी अवस्था प्रयत्न है। जब नायक उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है।जब गोरक्षविजय नाटक में गोरखनाथ अपने शिष्य के साथ प्रस्थान करते हैं और नर्तकी का वेष धारण करते है । ये दोनों ही अवस्थाएं बिंदु नामक अर्थ प्रकृति के अंतर्गत चलती हैं। तृतीय अवस्था प्राप्याशा है जिस प्रक्रिया में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं। नायक आशा और निराशा के बीच डगमगाता रहता है। उसे कभी तो सफलता की आशा हो जाती है और कभी वह असफलता से निरुत्साहित हो जाता है। इस नाटक में राजकुमार की मृत्यु की घटना से लेकर रानियों के अनुनय-विनय और चमत्कारिक दृश्यों के कारण मत्स्येन्द्रनाथ के हृदय में चल रहे द्वन्द्वों तक; इस अवस्था की स्थिति मानी जाएगी। इसमें नायक सारे विघ्नों पर विजय प्राप्त कर लेता है और उसे अपनी सफलता का पूर्ण विश्वास हो जाता है। इस प्रकार सफलता नियत हो जाती है। गीतों के माध्यम से कथावस्तु में स्वाभाविकता लाने का प्रयास किया गया है जिससे यह नाटक गीत नाटक का प्रमुख लक्षण बन गया है। प्रस्तुत नाटक में, कदली नगर में, राजा मीननाथ की महत्ता तथा उस नगर में गोरखनाथ का प्रवेश एक गीत के माध्यम से सूचित किया गया है -

कदलि पुर पाटन नगर एहु आथि।

लाषे घोल सहसे पूताँ हाथि।।

मीननाथ राजा परताप।

आज्ञा लंघिअ कमनक बाप।।

कथा जाइ बोला कथा जाह बोला।

---

[54]वही,पृ.सं-220

कदलि नरेश नटन प्रवेश[55]।।

इस नाटक के अंगरूप में श्रृंगार,रौद्र तथा अद्‌भुत रस को तथा अंगी रस के रूप में शांत रस को स्वीकार किया गया है क्योंकि नाटक का अंत शांत रस में होता है। परिस्थितियों की विविधता के कारण इस काल में नाटक की धारा तीन भागों में विभक्त हो जाती है। वज्रयानियों एवं विधर्मी शासन से समाज में अनेक कुरूढ़ियां और भ्रष्टाचार छा गयीं जिससे समाज जर्जरित हो उठा। उन व्याधियों के निरोध के लिए प्रहसन उपयुक्त आयुध सिद्ध हुआ। बंगाल के कीर्तन एवं भागवत धर्म के प्रसार के कारण कृष्ण की लीलाओं की प्रधानता बढ़ने लगी। इन लीलाओं को जिन्हें कालांतर में कीर्तनियां के नाम से अभिहित की गयी। नाथ संप्रदाय में शिव एवं शाक्त मतों के अन्तर्मुक्त हो जाने से लीलाओं को वेद विहत मान लिया गया। योग–साधना के समावेश से इसमें अनेक चमत्कारिक प्रसंगों की कल्पना कर ली गयी जिससे जनता विस्मय में आकर अत्यधिक प्रभावित होती थी। इस संप्रदाय के संबंध में अनेक कथाएं भी प्रचलित हो गयीं जिसे अपना कर विद्यापति ने गोरक्षविजय नामक चरित्रात्मक नाटक की रचना प्रस्तुत की[56]।'

भारतीय इतिहास में तेरहवीं से सोलहंवी शताब्दी के बीच राजनीतिक उथल–पुथल का समय रहा है। निरंतर आक्रमण और युद्ध हो रहे थे जिस वजह से कई राज्यों का पतन हो गया था और सभी राज्य छोटे– छोटे रियासतों में बंट गये थे। इन्हीं राजनीतिक घटनाओं और इनके कारण हुए विनाश के कारण ही असमिया साहित्य का उद्भव हुआ या कहें कि असमिया साहित्य की शुरुआत हुई। दुर्लभ नारायण के दरबार के हरिवर विप्र ने असमिया में 'अश्वमेध पर्व' शीर्षक से महाभारत की पुनर्रचना की। इसके पश्चात उसने 'वभ्रु वाहन युद्ध' और 'लव कुशेरयुद्ध' की रचना की। इन रचनाओं के विषय मात्र संस्कृत के आधार थे किंतु कवि

---

[55]प्राचीन भाषा नाटक,दशरथ ओझा और जगदीशचन्द्र माथुर,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,1975,पृ सं- 5

[56]मैथिली नाटक का उद्भव और विकास,प्रतापनारायण झा,महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय,बडौदा,1973 पृ,सं -99

अत्यधिक नाटकीय शैली में कई नवीनताएं उत्पन्न करता था । नये तत्वों का समावेश करता था । 13वीं शताब्दी के और हरिवर विप्र के समकालीन हेम सरस्वती ने 'वामन पुराण' से प्रेरणा और सामग्री लेकर 'प्रह्लाद चरित' की रचना की थी । हेम सरस्वती ने पुराण के अलावा स्थानीय जनश्रुतियों और लोक साहित्य से भी बहुत सी सामग्री ली थी । साथ ही उनकी अगली कृति 'हर गौरी संवाद' में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है । असमिया साहित्य में अन्य कवि भी हुए जिनके साहित्य का प्रेरणा स्रोत महाभारत था।कछारी महाराजा महामाणिक्य ने पूर्व वैष्णव काल के अनेक कवियों को प्रोत्साहन दिया । इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय माधवकंदिलि थे जिन्होंने असमिया में रामायण का अनुवाद किया था । यद्यपि उसने भी कथित भाषा के अनेक शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग किया था;तथापि पूर्ववर्ती लेखकों की अपेक्षा उसकी रचना विषय की दृष्टि से मूल रामायण के अधिक निकट थी । यह बात ध्यान देने योग्य है कि 14वीं शताब्दी में किया गया रामायण का यह अनुवाद हिंदी, बांग्ला और ओड़िया में किये गये रामायण के अनुवादों से भी कोई लगभग 150 वर्ष पूर्व किया गया था ।

इन कृतियों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश लेखक संस्कृत महाकाव्यों से बहुत अधिक प्रभावित थे । साथ ही यह भी पता चलता है कि एक विशिष्ट क्षेत्रीय शैली विकसित हो रही थी जिस पर स्थानीयता की गहरी छाप थी । माधवकंदलि संभवतः 'देवजि' का भी लेखक था जो कि कृष्ण और विष्णु के अन्य अवतारों पर लिखी गयी एक काव्य रचना है । जब बहुत आगे चलकर साहित्य के क्षितिज पर शंकरदेव का उदय हुआ तो माधव कंदलि के लेखन से वे बहुत प्रभावित हुए और उनके नाटकों में माधवकंदलि की कृतियों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है । 15वीं और 16वीं शताब्दी में अन्यकवि,लेखक और नाटककार हुए जिन्होंने रामायण का विषय ग्रहण करने के साथ– साथ क्षेत्रीय संस्कृति में रंगी हुए सशक्त सामग्री का भी

उपयोग किया । इस तरह का एक काबिले गौर विषय मनसा देवी से संबद्ध था जिसके परिणामस्वरूप आख्यान काव्य की एक विशेष विधा का जन्म हुआ । रामायण से जो लेखक प्रेरणा ग्रहण करते रहे, उनमें एक दुर्गा वर था जिसने गीति रामायण की रचना की । गीति रामायण से ही पद्य गायन की परिपाटी का प्रारंभ हुआ । उसी समय भारत के अन्य भागों में भी पद्य गायन की परंपरा की नींव पड़ी।

16वीं शताब्दी में शंकरदेव के अद्‌भुत उदय बतौर समाज सुधारक, कवि, संगीतकार, नाटककार तथा नाटक-निर्देशक के रूप में उनके महत्वपूर्ण योगदान को ध्यान में रखना आवश्यक है । उनका आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब छोटी– छोटी रियासतों ने मिलकर स्वयं को दो राज्यों - कछ और अहो मरा ज्यों में पुनः संगठित कर लिया था । विश्वसिंह कछार का महान शासक था । उस का यशस्वी पुत्र नरनारायण,जो उसके बाद राज सिंहासन पर बैठा, अकबर का समकालीन था । अहोमों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन होते दिखाई दे रहे थे जैसे अहोम शासक सुहुम्मुंग ने हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया था और अपना नाम बदलकर स्वर्ग नारायण रख लिया था ।

एक भुइया परिवार में जन्मे शंकरदेव को असमिया समाज को अनेक प्रकार से बदलने का श्रेय जाता है । उन्होंने संसार को त्यागकर दूर देशों की यात्रा की, अन्य प्रदेश के धर्मों और संस्कृतियों की जानकारी ग्रहण की और स्वदेश लौटकर वैष्णव धर्म का नया संदेश दिया । इससे तांत्रिक-पद्धति और शक्ति-पूजा के अनेक रूपों से बंधे दलों और संप्रदायों की शक्ति स्वभावतः क्षीण होने लगी । उनका संदेश निस्संदेह हठ धर्मी, अंधविश्वास और कर्मकांडीय कुरीतियों के विरुद्ध स्पष्ट प्रतिवाद था । ये अंधविश्वास और कुरीतियां कामाख्या मंदिर में और उसके चारों और परिव्याप्त थीं ।।

अपने समय के जीवन और समाज से पूरा सरोकार रखने के कारण शंकरदेव असम में सांस्कृतिक पुनर्जागरण लाने में सफल हुए। संस्था के रूप में सत्र उनके आंदोलन का माध्यम था। धार्मिक, सामाजिक और कलात्मक कार्यकलापों के लिए यहां एक उपयुक्त केंद्र और वातावरण उपलब्ध हो जाता था। 'सत्र' में नामघर, मणिकूट और हाति होते थे। नामघर सामूहिक प्रार्थना कक्ष है और मणिकूट 'सत्र' का सिंहासन है जो कि नामघर के अंतिम छोर पर होता है। हाति मठवासियों के रहने के लिए घर होते हैं।

नामघर में नाट्य प्रस्तुति की जाती थी और अभी भी की जाती है। इसे बहुधा भाओना घर कहा जाता है। यद्यपि नामघर, मणिकूट और हाति में असम की अपनी वास्तुकलागत विशेषताएं मिलती हैं तथापि उनका भवन निर्माण योजना केरल में कुटियट्टम के कुट्टबंलम की भांति ही सुनिश्चित और कठोर है। मंच छतदार बना दिया जाता है। कोई दीवार नहीं होती। इसे 'रभा' कहते हैं। यद्यपि पूरे विश्वास से नहीं कहा जा सकता कि सत्र की वास्तुकलागत योजना शंकरदेव की दी हुई थी फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि इस संस्था का निर्माण उन्होंने ही किया था। उनके नाटक इस विशेष संरचना को ध्यान में रखकर लिये गये जो दो उद्देश्यों की पूर्ति करती थी। उसका प्रयोग सामूहिक प्रार्थना कक्ष के रूप में होता था और साथ ही रंगमंच व दर्शक कक्ष के रूप में भी।

संभव है कि शंकरदेव के नाटकों की विशिष्ट नाट्य संरचना में इन साहित्यिक स्रोतों और नाट्य रूपों का योगदान रहा हो किंतु भाव और कथ्य की दृष्टि से उनके नाटकों का मुख्य प्रेरणा–स्रोत मथुरा की रासलीला की भांति भागवत पुराण ही था। उन्होंने इस महापुराण के अनेक स्कंधों विशेषतः प्रथम, द्वितीय,तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम्,अष्टम्,नवम्, दशम् एकादशम् और द्वादशम् खंडों का अनुवाद ही नहीं किया है अपितु अपने शिष्यों से अन्य खंडों का अनुवाद

भी करवाया है । केवल एक नाटक 'श्रीरामविजय नाट' को छोड़कर उनके सभी नाटकों के विषय-वस्तु 'भागवतपुराण' से ही लिए गए हैं। रुक्मिणीहरण, परिजातहरण, और कालियदमन जैसे नाटकों के विषय उस समय समस्त भारत में लोकप्रिय थे। भागवतमेला, यक्षगान और कुछ अन्य रूपों में नाट्य प्रस्तुति के लिए इन कथाओं का उपयोग किया गया । दूसरी ओर कालिगोपाल और विप्र– पत्नी प्रसाद विषय-वस्तु की दृष्टि से रासलीला में वर्णित लोकप्रिय प्रसंगों के अधिक निकट हैं। वस्तुतः पुराणों और उनके विषयवस्तुओं ने सभी कलाओं, विशेषतः प्रदर्शनकारी कलाओं की गतिविधियों के लिए समान आधार सुलभ करा दिया था।

शंकरदेव की सभी रचनाओं में नाट्य– प्रस्तुति की सामग्री मिलती है चाहे वह अंकिया– नाट जैसी विशुद्ध नाट्य रचना हो या कीर्तन संग्रह जैसी गीतात्मक रचना अथवा बड़ा गीत जैसी काव्य रचना। अंकिआ– नाट ब्रज बोली में लिखी गयी रचना है। ब्रज बोली में अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण था जिसका प्रयोग थोड़े क्षेत्र गत भाषा वैभिन्य के साथ बंगाल, ओड़िसा और बिहार में भी किया जाता था। यह भाषा वृंदावन के साथ एक संपर्क सूत्र का काम देती थी और इस प्रकार यह ब्रज भूमि की भाषा से जुड़ी हुई थी। शंकरदेव के नाटक भी संस्कृत और क्षेत्रीय परंपराओं के ऐसे ही सम्मिश्रण के उदाहरण हैं। इनमें जहां सूत्रधार, नांदी, पूर्वरंग आदि रूढ़ियों का पूर्णतया निर्वाह किया गया है वहीं नाट्य संरचना की दृष्टि से अनेक नवीन और प्रयोगात्मक तत्वों का समावेश भी हुआ है। परिणामतः एक ऐसी विधा विकसित हुई जो नयी होने के साथ– साथ भागवतमेल, यक्षगान आदि की नाट्य– रचनाओं के बहुत निकट भी है। उत्तरवर्ती संस्कृत नाटक के संगीतक और उपरूपक स्पष्टतः इन क्षेत्रीय रूपों के पहले से ही प्रचलित थे। गीतात्मक अंशों और गद्यांशों का मिला-जुला प्रयोग होता था। 5वीं से 8वीं

शताब्दी तक के संस्कृत नाटकों की अपेक्षा इनमें गान, संगीत, नृत्य तथा मूकाभिनय को बहुत अधिक महत्व दिया जाता था। फिर भी संगीत के अधिक से अधिक लेकिन संपूर्ण प्रयोग के बीज संस्कृत नाटकों के आरंभ में ही निहित थे जिसकी पुष्टि इस बात से होती है कि ईसा की 5वीं शताब्दी के चतुर्भाणि ने अपनी उभयाभिसारि का नामक कृति में 'संगीतक' नामक एक नाट्य रूप का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। हर्ष के काल तक यह नाटक का सर्वमान्य रूप बन चुका था । उस समय नाटकों में संगीत और नृत्य का प्रमुख स्थान था । अंततः राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' उल्लेखनीय है जिसके अनुसार एक विशेष नाट्य रूप 'सट्टक' पहले ही प्रचलित हो चुका था। शंकरदेव और उनके शिष्यों के नाटकों में संस्कृत नाटक के इस परवर्ती रीतिमुक्त रूप का अनुसरण किया गया है। नाटकों की संरचना संधियों के सिद्धांतों पर पूर्ववत् टिकी रही। इन कलागत परंपराओं का पोषण सत्रों की संस्थाओं ने किया था। शंकरदेव और उनके प्रमुख शिष्य माधवदेव ने सत्र के अध्यक्ष के लिए दीक्षा अनुष्ठान के भाग के रूप में नाटक लिखना और प्रस्तुत करना लगभग अनिवार्य ही कर दिया था । इस प्रकार अंकिआ– नाट लेखन और भाओना की प्रस्तुति की परंपरा सत्र एवं नामवरों के अभिन्न अंग बन गये थे।

स्वांग, ख्याल और नौटंकी

मध्ययुगीन परंपराशील नाट्य परंपराओं में, पश्चिमी भारत के अधिकांश भागों में और साथ ही उड़ीसा व मध्यप्रदेश में भी,कुछ ऐसी नाट्य-विधाएं विकसित हुईं जो उत्तरवर्ती यात्रा व जात्रा शैली से मिलती– जुलती हैं एवं जिसके नाट्य-तत्व बंगाल के जात्रा के समकक्ष है। इनकी कथाएं मूलतः पौराणिक कथाओं से ली जाती थीं । साथ ही सामाजिक चेतना इन सबकी प्रमुख विशेषता थी। ये विधाएं राम और कृष्ण के शाश्वत कथ्यों से कट चुकी थीं। उत्तर प्रदेश में यह

विधा नौटंकी के नाम से जानी जाती है । राजस्थान में ख्याल, मध्यप्रदेश में नाच या मंच और उत्तर प्रदेश, पंजाब व अन्य क्षेत्रों में स्वांग के नाम से जानी जाती है । विभिन्न भाषायी क्षेत्रों में अलग– अलग भाषा का प्रयोग होता है तथापि उद्देश्य की दृष्टि से ये सभी एकता के सूत्र में बंधी हुई होती हैं । कथावस्तु, नाटकीय संरचना तथा नाट्यगत प्रविधियों की दृष्टि से भी उनमें बहुत समानता होती है।

नौटंकी– (एक प्रकार का गीतिनाट्य)– में सदा किसी ऐतिहासिक योद्धा, किसी दयावान डाकू या किसी प्रेमी की कहानी होती है । मध्यकालीन भाटों में नाटकीयता और गीत-संगीत के सम्मिश्रण से नौटंकी शैली का आविर्भाव हुआ । इसके प्रयोग में आने वाले संवाद और गीत प्रादेशिक भाषा में होते हैं । संगीतमयी भाषा के साथ - साथ लोकगीतों के आधार पर संगीत की व्यवस्था की जाती है । किशोर आयु के लड़के स्त्रियों की भूमिका करते हैं । मंचीय व्यवस्था में लकड़ी के तख्त पोशों को जोड़कर मंच बनाया जाता है । नगाड़े वाला खेल शुरू होने से पहले नगाड़ा बजाता है और अपने करतब दिखाता है । इस मंडली के गुरू को 'रंगा' कहते हैं । यही सूत्रधार, यही निर्माता और यही मंच का संचालक होता है । वह सारे खेल की चाल और सुर को बाँधता है । मंच पर पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान की सूचना देता है । अमर सिंह राठौड़ सुच्चा सिंह, सूरमा, रूपमती,बाज बहादुर और मारू–ढोला आदि के किस्से नौटंकी में खेले जाते हैं ।

स्वांग शब्द उड़ीसा के छऊ का प्रतिरूप है जिसका व्यवहार तीनों छऊ रूपों में किया जाता है । छऊ शब्द उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, पंजाब और हरियाणा के साथ–साथ कश्मीर में भी बोला जाता है । नाटक या नाटिका तथा प्रहसन जैसे रूपों से भिन्न संस्कृति का कोई सशक्त नाट्य रूप स्वांग का पूर्व रूप रहा होगा । आज भी स्वांग शैली की प्रस्तुति होली

के उत्सव के समय देखने के लिए मिल जाती है। राजस्थान में स्वांग की परिधि बहुत विस्तृत है। विवाह के अवसर पर झमतरे, तूंतिया और तुंतिकी की प्रस्तुति की जाती है। इनमें संवाद शैली तीखी और गायन शैली प्रांजल होती है। वहीं नाटकीय तत्व सीमित होता है। होली आदि के अवसर पर अन्य रूपों की प्रस्तुति की जाती है। साथ ही कुछ अन्य रूप भी हैं जो ढोला मारू जैसे लोकप्रिय विषय-वस्तु पर आधारित होती हैं।

उत्तर प्रदेश का ख्याल और राजस्थान में खेला जाने वाला ख्याल; दोनों ही विकसित रूप हैं जिसकी जड़ें सामाजिक वाग्विदग्धता और हास्य में जितनी गहरी हैं, उतनी ही इसी नाम से साहित्यिक विधा में। ख्याल को रमत व खेल आदि नामों से भी जाना जाता है। ख्याल काव्यात्मक नाटकीय रचना है। इसकी अनेक शैलियां मौजूद हैं। इससे व्यावसायिक संगीतकारों और अभिनेताओं को एक विशेष वर्ग का प्रशिक्षण प्राप्त होता है। समुदाय के आधार पर या प्रस्तुति के स्वरूप और शिल्प के आधार पर अनेक परंपराशील नाट्य शैलियों का नामकरण हुआ है। प्रत्येक शैली ने अपने लिए विशेष रंगमंचीय प्रणाली और आधारभूत रंगसज्जा विकसित की है। निःसंदेह विभिन्न शैलियों की अलग-अलग पहचान जितनी अंतर्वस्तु, भाषा, बोली, संगीत व शिल्प के आधार पर की जा सकती है,उतनी ही रंगमंच के आकार प्रकार पर भी की जा सकती है। नृत्य नाटक के अन्य सभी रूपों की भांति ख्याल की प्रस्तुति का आरंभ नगाड़ा बजाकर किया जाता है। राजस्थानी ख्याल शैली का भी आरंभ वाद्य यंत्रों के वादन तथा गायन द्वारा किया जाता है। नगाड़ा, ढ़ोलक, मंजीरा तथा हारमोनियम भी ख्याल के मुख्य वाद्य यंत्र हैं।

इन नाट्य रूपों की तकनीकी विशेषताओं का निर्धारण उनके अपने सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश द्वारा तथा समाज के उन वर्गों द्वारा हुआ है जिनके बीच ये प्रस्तुत किये जाते थे। अतः जहां एक दृष्टि से वे लोकधर्मी हैं वहीं उनमें अनेक नाट्यधर्मी विशेषताएं भी हैं। सहज

रंगसज्जा आदि की सहायता से यथार्थ चित्रण करने की अपेक्षा इनमें सांकेतिकता आदि की शैलीगत विशेषताओं पर अधिक बल दिया जाता है। उत्तर भारत में भक्तिकालीन हिंदी रंगमंच की अवधारणा लीला नाटकों के अंतर्गत देखी जाती है। लीलानाटक दो सबसे अधिक लोकप्रिय अवतारों - राम और कृष्ण– की कथा से संबंधित है। अवतार रूप में वे अपनी लीला करते हैं (Divine sports) और सामान्य मानव के रूप में मानवीय व्यवहार करते हैं। लीलानाटकों में छोटी आयु के बच्चे लीला खेलते हैं जिनको स्वरूप (god's own image) कहा जाता है। अवतार की धारणा और लीला प्रदर्शनों ने ईश्वर की एक निश्चित धारणा का चिंतन बदल दिया। फिर अवतार की धारणा लोगों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में लोकप्रिय हो गई। मंदिरों की मूर्तिकला और मध्ययुगीन चित्रकला में विष्णु के अवतारों, विशेषकर- राम और कृष्ण-का व्यापक चित्रण हुआ है। चित्रांकन कलाएं प्रायः मौखिक और प्रदर्शन परंपराओं से प्रभावित होती हैं। मंदिरों की मूर्तियां और चित्र परंपरा अवतार भाव की लोकप्रियता का प्रमाण हैं। रामलीला का कथानक महाकाव्य रामायण से लिया गया है। यह अत्यंत प्राचीन परंपरा है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में राम ऐसे श्लाका पुरूष हुए जिनका आदर्श जनता के जीवन–उन्नयन का प्रधान आधार बन गया। यही कारण है कि जहां उन्हें लेकर प्राचीन काल से ही अनेक उत्कृष्ट काव्यों की सृष्टि हुई वहीं उनके जीवन पर नाटक भी बड़ी संख्या में लिखे और खेले गए। इस संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि कई दिनों तक चलने वाली श्रृंखलाबद्ध रामलीला का कोई रूप संस्कृत में अभिनीत होता रहा होगा। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह लीला वाल्मीकि कृत रामायण के आधार पर होती थी किंतु इसका कोई प्रमाण नहीं है। तुलसीदास ऐसी किसी लीला से परिचित जान पड़ते हैं–

चरमदेह द्विज के मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई।

खेलौ तहूँ बालकान्ह मीला।कीन् सब रघुनायक लीला।।

हिंदू धर्म के अतिरिक्त जैन परंपरा में अभिनीत होने वाले अपभ्रंश चरितकाव्यों की प्रेरणा रामचरितमानस की अभिनय– योजना से प्रभावित हो सकती है । जो कुछ भी हो वर्तमान रामलीला का न केवल आधार गोस्वामी कृत 'मानस' है बल्कि उसकी पद्धति पर भी उनकी स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है । भक्तिकाल में मेघा भगत तुलसीदास के मित्र और प्रशंसक थे । कहा जाता है कि पहले वे किसी प्रकार की रामलीला कराते थे जो संभवतः वाल्मीकि रामायण पर आधारित थी । तुलसी की प्रेरणा से उन्होंने काशी खंड में 'मानस' के आधार पर रामलीला शुरू की जो आज भी 'चित्रकूट की लीला' के नाम से प्रदर्शित होती चली आ रही है । मेघा भगत और इस लीला को लेकर अनेक चमत्कारिक अनुश्रुतियां भी प्रचलित हैं ।

कृष्णदत्त मिश्र द्वारा रचित 'गौतमचंद्रिका' के माध्यम से ज्ञात होता है कि वाराणसी के दक्षिणी 'केदार खंड' में गोस्वामी तुलसीदास ने रामलीला का स्वयं आरंभ किया था । इस 'गौतम चंद्रिका' में तुलसीदास द्वारा 'रामलीला' प्रारंभ करने का विवरण प्रस्तुत किया गया है–

नवमी दुर्गा पूजन करि । विजयादसमी समी सोस धरि।।

श्रवन किए षटकांड सुहावन । वाल्मीकि रामायन पावन।।

एकादसी व्रत द्वादसि पारन ।तेरसि हरिप्रसाद कर धारन।।

चौदसि रघुपति राज प्रसंगा ।तुलसी सुनत विलोकत गंगा।।

चिंतत भरत भारती निरनय ।मन दृग देखत हनुमत अभिनय।।

श्री रामायन व्यास कहैं, वाल्मीकि प्रति अच्छ।

जानि मानि पूजन किए, विधिवत् तुलसी स्वच्छ।।

पूजि कबीस कपीस पुजारी । रामराजलीला बिस्तारी।।

छत्र सरदपूनो ससि साजे ।महि सिंहासन राम विराजे।।

बाम भाग सीता महरानी । दाहिन लषन चँवर वर फनी।।

जगदाधार अनंत अहीसा । राम रजाय घरे महि सीसा।।

सदा राम आयसु अनुसारी । विस्वभरन पोषन अधिकारी।।

भरत उदार बने युवराजा । श्री सत्रुहन सजत सब काजा।।

अंतःपुर रच्छक जन त्राता । सूर सुसील लषन लघु भ्राता।।

सेनप हनुमत मंगल दाता । सजि आरती उतारहिं माता।।

कौसल्या जननी रघुवर की । जयती जयति जय जय श्रीधर की।।

राजा राम जानकी रानी । रही भुवन भ्ररि जय जय बानी।।

असी घाट सुर सरि समीपक । संभु दिंगबर अंबर दीपक।।

जासु प्रकास प्रकासित कासी । दायि निमुक्ति भुक्ति सुखरासी।।

तुलसी थल न भदीप प्रकासी । लहे राम दर्सन मनि रासी।।

इससे संकेत मिलता है कि तुलसीदास ने 'रामलीला' का समारंभ अनुष्ठानपूर्वक किया था । वाल्मीकि रामायण की कथा किसी व्यास के मुख से सुनते हुए उनके मन में यह विचार उदित हुआ । तब उनका ध्यान भरत के नाट्यशास्त्र और 'हनुमन्नाटक' की ओर जाना स्वाभाविक था ।

साथ ही तुलसी ने इन ग्रंथों से लीला नाटकीय एवं रंगमंचीय तत्वों को शामिल किया। रामायण के व्यास को ही प्रत्यक्ष वाल्मीकि मानकर गोस्वामी ने उनकी पूजा की और तब सबसे पहले शरद पूर्णिमा की रात्रि में 'रामराज्य' की लीला अभिनीत की। कवि के भाव लोक में संपूर्ण पृथ्वी राम का सिंहासन थी और सिंहासन का छत्र पूनम के चाँद की तरह होता था। राम के बायीं ओर सीता बैठी थीं और दाहिनी ओर लक्ष्मण चँवर लिए खड़े थे। भरत जी युवराज बने थे और शत्रुघ्न सब प्रबंध कर रहे थे। हनुमान सेनापति थे और माँ कौशल्या थाली सजाकर आरती उतार रही थीं। अस्सी घाट गंगा के तट पर यह लीला हुई।

उत्तर भारत में भक्तिलीन भक्तों ने राम और कृष्ण लीला से भक्तिकालीन रंगमंच को परिष्कृत किया। रामलीला व रासलीला आदि वैष्णव– नाटकों के लिए किसी विशेष रंगमंच की व्यवस्था नहीं होती थी परंतु पात्रों की सजावट के व्यवस्था होती थी। इसमें सामूहिक तथा व्यक्तिगत नृत्य का भी आयोजन होता था। प्रायः खुले मैदान में अभिनय होता था जिसके कारण युद्ध व विवाह आदि के भी दृश्य खुलकर दिखाये जाने लगे। भक्ति– भावना में वृद्धि हो जाने के कारण राम और कृष्ण आदि के जीवन से संबंध रखने वाले ही अभिनय प्रायः जनता के सम्मुख प्रदर्शित किये जाते थे। पात्रों को अभिनय की शिक्षा नहीं दी जाती थी। निर्देशक जनता के सामने ही अभिनेताओं को बताता चलता था। दर्शकों के मनोरंजन के लिए साधारण ढंग से परिहास प्रस्तुत किये जाते थे। कीर्तनों, जुलूसों, प्रभात फेरियों और संगीत– नाटकों के द्वारा इसका प्रचार होने लगा। धार्मिक उत्सवों के रूप में रामलीला का प्रदर्शन चौदह दिनों तक होता था। इसमें कथाकार चौपाइयाँ गाता है और बिखरे हुए नाट्य– कार्यों को जोड़ता है। हर रात रामायण का एक निश्चित अंश खेला जाता है। खेलने वालों के मुकुट–मुखौटे व श्रृंगार सुनहरे एवं रंगीन होते हैं। उनके मखमल और रेशम के सलमे–सितारे वाले वस्त्र झिलमिल–

झिलमिलाया करते हैं । कार्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहुत शीघ्रता से बदलता है । भारतीय प्रदर्शनकारी कला रामलीला में दृश्यों के क्रम पश्चिम के चौखटे– जड़े मंच के समान नहीं होते थे क्योंकि पश्चिमी मंच में दृश्यों की संयोजना यथार्थवादी होती है । उत्तर भारत की रामलीला में, एक ही समय में कई स्तरों पर भिन्न– भिन्न दृश्य संयोजित कर दिए जाते हैं । जब जनक की सभा में सीता का स्वयंवर हो रहा होता है तब हम उस जंगल का दृश्य भी देखते हैं जहां पहले राम तथा लक्ष्मण ने राक्षसों का हनन किया था । एक स्थल पर राम– रावण का युद्ध हो रहा है और दूसरे स्थल पर सीता अशोक – वाटिका में बैठी दिखाई देती हैं ।

भागवत धर्म की कथाएं देश के एक छोर से दूसरे छोर तक आंचलिक परंपराशील नाट्यों में प्रचलित हैं । हिरण्यकशिपु और नृसिंह का वृतांत आंध्र, तमिलनाडु, अंकिया नाट और मथुरा की नृसिंह यात्रा में दिखाया जाता है । इस कथा का नाटकीय तत्व हिरण्यकशिपु के मद, घमंड के विस्तार और हनन में विद्यमान है । वस्तुतः भागवत धर्म के नाट्य में दर्प और घमंड को इसलिए इतनी अतिश्योक्ति के साथ प्रदर्शित किया जाता है ताकि उसकी तुलना में भगवद्भक्ति के विनय और शालीनता का प्रभाव प्रेक्षकों पर गहरा पड़े । अतएव परशुराम - विजय, रावण– वध, रुक्मिणी–हरण इत्यादि नाटकों में परशुराम, रावण और रुक्मिणी का चित्रण काफी सशक्त भाषा में और उनका अभिनय बड़े ओजस्वी ढंग से किया जाता है । प्रायः सबसे अधिक अनुभवी और सिद्धहस्त अभिनेता इन भूमिकाओं में उतरते हैं ।

इस प्रचंड वातावरण के अतिरिक्त भागवत नाटकों में मधुर और आत्मीय वातावरण का भी प्रत्यक्षी करण है । परिजात हरण कई शैलियों में लोकप्रिय कथावस्तु है । कृष्ण उसमें एक सामान्य गृहस्थ के रूप में प्रतीत होते हैं जो अपनी दो पत्नियों– रुक्मिणी और सत्यभामा के पारस्परिक विवाद को रोक नहीं पाते । विशेषतः सत्यभामा का चरित कुचिपुडी में इतने कौशल

के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि वहाँ एक नई अभिव्यंजना– शैली प्रचलित हो गई है जिसे भामाकलापम् कहा जाता है और जिसे प्रस्तुत करने के लिए अत्यंत उच्चकोटि के अभिनय की आवश्यकता होती है।

बाल कृष्ण की छवि मथुरा– वृन्दावन की रासलीलाओं और असम के झुमरा नाटों में रूपायित हुई। दानलीला का सर्वप्रथम प्रस्तुतीकरण सम के माधवदेव के एक झुमरा में हुआ। उसके बाद से ब्रज में तो लीलाओं की बाढ़– सी आ गई। जन साधारण के बीच भगवान इतना अंतरंग संबंध स्थापित कर देते है कि भक्त का भगवान का स्पर्श सहज सम्भाव्य जान पड़ता है। आदि शक्ति की स्त्रोत का मातृस्वरूप, दुर्गा और चण्डी के रूप में, बंगाल के जात्रा– नाटकों में उद्भासित है। चण्डीमंगल जात्रा में दुर्गा के अपने पितृ गृह लौटने की कथा को ऐसे सरल और भावुक ढ़ंग से प्रस्तुत किया जाता है मानो बंगाल की किसी सामान्य गृहस्थी में कन्या के घर लौटने की झाँकी हो। आज भी वैष्णव– संप्रदाय जात्रा का अपने मत के प्रचार के लिए, अत्यंत प्रभावोत्पादक तरीके से उपयोग करता है। आधुनिक जात्राओं में चैतन्य महाप्रभु के चरित से संबद्ध जात्रा अत्यंत मनोहारिणी है।

कृष्ण के बाल चरित्र और युवाकाल से संबंधित कोई चालीस लीलाएं हैं। इनका पाठ सूरदास, नंददास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के कृष्ण-काव्य से तैयार किया जाता है। इनका चयन और संपादन रास मंडली के अधिकारी (जिनको स्वामी कहते हैं) करते हैं। कुछ स्वामी काव्य-रचना भी करते हैं और जहां आवश्यक हुआ अपनी रचनाओं का भी लीला में प्रयोग करते हैं। रसिया जैसे ब्रजमंडल के कुछ लोकगीत भी लीला साहित्य का अंग बन गए हैं। रामलीलाएं लाखों की संख्या में प्रकाशित भी होती हैं और पूरे हिंदी– भाषी क्षेत्र में पढ़ी जाती हैं और लोग गया भी करते हैं।

रास भावमय और रस मय प्रदर्शन का प्रादुर्भाव उसी मध्यकाल में होता है जिसे हिंदी साहित्य के विद्वान नाटक और रंगमंच की दृष्टि से अंधकार– काल मानते हैं तथा इसके कारणों का बहुविध विश्लेषण करते हैं। पर यह आश्चर्च की बात है कि इतनी समृद्ध, लोकरंजक अभिनय एवं प्रस्तुति की ओर विद्वानों का ध्यान ही नहीं गया। शिष्ट नाट्य रूप उन्हीं नाट्य रूपों को माना गया जो सामान्य रूप से राज्याश्रय या सेठाश्रय के रूप में विकसित हुए पर रासलीला तो शुद्ध रूप से जनाधारित लोकनाट्य का रूप रहा है। यदि किसी ने सहायता दी तो उसे अकुण्ठभाव से ग्रहण किया और नहीं दी तो उससे मांगने भी नहीं गए।

रास की ऊर्जा का उत्स तत्कालीन भक्ति आंदोलन में है। पूर्व मध्यकाल में उपासना के संप्रदायनिष्ठ प्रकारों में भी काव्य लेखन, गायन और नृत्य को आदरपूर्वक स्वीकार किया गया था। सगुण और निर्गुण दोनों ही पद्धतियों में काव्यास्वाद भक्ति का एक प्रमुख एवं मान्य तरीका था। निर्गुण भक्ति के संत साधकों में कबीर, नानक, दादू, पीपा, सेना व नामदेव आदि कवि के रूप में समादृत हैं।

काव्य रचना करके भक्ति को सगुण भक्तों ने और समृद्ध किया। सगुणों ने अपने मुख्य आधार के रूप में चार मुख्य तत्वों को स्वीकार किया। 1. नाम, 2. रूप, 3. लीला, 4. धाम।

प्रथम दो 'नाम' और 'रूप' को निर्गुण साधकों ने स्वीकार किया। संतों और सूफियों ने भी स्वीकारा। 'लीला' और 'धाम'; इन दो तत्वों के समावेश ने सगुण काव्य को चाक्षुष, लोकरंजक, निःश्रेयस और अभ्युदय का दाता बना दिया। लीला ब्रह्म की चर्या थी और धाम वह रंगभूमि जहाँ लीला घटित होती है। लीला तत्व की अवधारणा महाकवि सूरदास के गुरू,महा प्रभु वल्लाभाचार्य के शुद्धाद्वैत के आधार पर स्थापित,पुष्टिमार्ग की अवधारणा में निहित है। भागवत

के 'पोषणं तद्नुग्रह' के आधार पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवदनुग्रह के अर्थ में ही पुष्टि शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रेम भक्ति के आधार पर अंश रूप जीवांश ब्रह्म के साथ जो संबंध स्थापित करता है वही ब्रह्म– संबंध है। यद्यपि पुष्टिमार्ग में गोपाल कृष्ण के बाल-रूप की ही प्रकटतः वैधानिक मान्यता है परंतु उनके कैशोर्यभाव की उपासना को भी विशद्विस्तार पुष्टिमार्गी भक्त कवियों में मिलता है। वत्सल मत में मधुर भाव के भक्त सखी रूप होते हैं। राधिका इन सखि योग में सर्वोपरि हैं। वस्तुतः वे स्वामिनी जी ही कही जाती हैं। कृष्ण के मुख्य सखा आठ हैं और उनकी सखियां भी आठ हैं। इनके अतिरिक्त असंख्य सखा व सखियां हैं। अष्टछाप के कवि (जो कृष्ण के सखा कहे जाते हैं) रात्रिकालीन कुंजलीला में सखि का रूपधारण करते हैं।

रासलीलानुकरण का प्रवर्तन किसके द्वारा हुआ इस विषय पर विद्वानों में विवाद है। रासलीलानुकरण के प्रवर्तक के रूप में जो नाम अब तक सामने आए हैं वे इस प्रकार हैं– वल्लभाचार्य, स्वामी हरिदास, महात्मा घमण्डदेव, गोस्वामी हितहरिवंश, भक्त वरनारायण भट्ट, गोस्वामी गोकुलनाथ एवं वल्लभ के पूर्व स्वामी हरिदास जी। आचार्य वल्लभ ने इस लीला प्रवर्तन की उचित वैधानिकता को प्रतिपादित करके इसके प्रचार के लिए अपने अनुगतों को प्रोत्साहित किया। रासलीलानुकरण में लीलापात्रों के मण्डलाकार खड़े होने वाले स्थान अथवा मंच को रास– मण्डल कहा जाता है। ये आकृति में मण्डलाकार होते हैं। इनके एक ओर सीढ़ीनुमा एक सिंहासन बनाया जाता है जिस पर लीला– प्रदर्शन के समय ऊपरी भाग में श्रीकृष्ण विराजमान होते हैं। कभी– कभी पार्श्व में सखियां चंवर सेवा आदि करती भी खड़ी हो जाती हैं। सिंहासन के सामने के कुछ भू– भाग को छोड़कर रासमण्डल पर तीन तरफ दर्शक लोग बैठते हैं। बीच के भाग में लीला पात्र रासलीलाएँ सम्पन्न करते हैं। पक्के बने हुए रास मण्डल के अतिरिक्त स्थान की सुलभता और लीला दर्शकों की आवश्यकता के अनुसार ये

रासमण्डल किसी भी भू–भाग में,किसी भी घर के प्रांगण में, मंदिर के आंगन में, हवेली की छतपर, यमुना के तट पर अथवा बाग में बना लिया जाता है। सिंहासन के लिए तख़्त, चौकी अथवा कुर्सी आदि उपकरणों का प्रयोग कर लिया जाता है। इस तरह के रंगमण्डलों का उल्लेख हमें ब्रिटिश रेजीडेन्स के प्रधान अंगरक्षक टामस डू एर ब्रौटन की पुस्तक 'लेटर्स रिटेन इन मराठा कैम्पड्यूरिंग द इयर1809 में प्राप्त हैं। इस विवरण के अनुसार रास मण्डल का शामियाना 150 फुट लम्बा था। इसमें लगे बांसो और बल्लियों को रंगीन कागज़ों से सजाया गया था। सामने के भू– भाग में 12 फुटी ऊंचा रंगमंच बनाया गया था। इसे स्तम्भ व शिविकाओं से अच्छी तरह सजाया गया था। इस भाग को ब्रौटन के अनुसार राज सिंहासन कहा गया है। इस शामियाने का मध्य भाग लीला दर्शन के लिए उपयोग में लाया जाता था और इसके दोनों और दर्शक बैठते थे। इस प्रकार के खुले रासमण्डल का समर्थन हमें प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। गोवर्धन के निकट बने चंद्र– सरोवर पर, खुले स्थान में, सारस्वत कल्प के शारदीय रास का आयोजन ऐसे ही अस्थायी रंगमंण्डल में हुआ था। इस तरीके के अनेक संदर्भों का उल्लेख आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' में मिलता है।

रासलीला में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। अभिनय और भावानुकीर्तन का आधार संगीत ही रहता है। संगीत के बिना रास की परिकल्पना नहीं की जा सकती। लीला साहित्य का आधार ही छन्द विधान है। इन लीलाओं में ध्रुपद, धमाल, ठुमरी आदि विशिष्ट गायकी से संपन्न रचनाओं का उपयोग किया जाता है। इनमें भक्ति साहित्य के प्रमुख छंद कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, चौपाई और पद रचनाओं के अतिरिक्त छप्पय और कुण्डलियां आदि छंदों को भी प्रमुख स्थान प्राप्त है। दोहा और रोला के सहयोग से निर्मित भक्त कवियों की अनेक पद-रचनाएं

भी रास मंच पर सुनी जाती हैं। महाकवि नंददास के भ्रमरगीत में प्रयुक्त छन्द विशेष भी, रोला के पादों, दोहा के चार पादों और ध्रुपद रूप में, दस मात्राओं की एक पंक्ति के योग से,'सप्तपदी प्रगाथ' छंद का रूप ग्रहण करता है। रास की इस संकीर्तन प्रणाली में लीला पात्र और लीला दर्शक; दोनों एकरस हो जाते हैं। रासमंच में स्थान व समय परिवर्तन को लक्षित करने के लिए रास-मण्डल पर दो पग इधर या उधर चलना अथवा किसी पद गायन से देशकाल की प्रतीति करा देना,इस मंच के सहज धर्म हैं। रासमंच के लोक स्वरूप की यह विशेषता है। रासमंच पर ऋतुओं की मादकता, वातावरण की मनोरमता और यमुना गिरिराज आदि की उपस्थिति दर्शाने के लिए संगीत की स्वरलहरियां ही पर्याप्त मानी जाती हैं। लीला अभिनय में बड़े– बड़े प्रतीकों व संकेतों की व्यवस्था भाव आंगिक भाव चेष्टाओं से भी सम्भव हो जाती है।

रासेश्वर श्रीकृष्ण में इस प्रकार से किया गया सर्वस्व समर्पण वही अनुभूति प्रदान करने में समर्थ है जो योगियों को 'भूमा' में, ज्ञानियों को 'प्रेमा' और भक्त को 'परा' में प्राप्त होती है। इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्तियों का यहां कोई अस्तित्व नहीं होता।चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध यहीं हो जाता है। लोकाभिव्यक्ति और उच्च भावानुभूति का असाधारण सामर्थ्य, इसे अभिनय व मंचन के श्रेष्ठ नाट्य-रूप में परिणत कर देता है। विद्वानों के इस अभिमत के लिए चुनौती है कि मध्यकाल नाटक की दृष्टि से अंधकार का काल है। श्रेष्ठ लोकग्राही मंच, सिद्ध नाट्य रूप की स्थापना एवं उसके उत्कर्ष की प्राप्ति इसी काल में होती है। आस्वादक के लिए यह कलि मल हरनी, मंगल करनी है -

संलग्नक 'रास'

ताल कहरवा या दादरा में गेय झूमर नृत्य की रचना

आली चलो आली चलौ ।

पनघट पर ठाड़ौ छैल, रोकि गैल

बरजोरी मोरी गागरी फोरी

आली चलौ आली चलौ ।

अगर बगर झगर करत, मानत नाहीं री

ऐ हां नंदलाल री

मोसौं कीनी बरजोरी, गागरि मोरी फोरी

निपट निडर झगर करत, मानत नाहीं री

आली चलौ आली चलौ।

X-X-X-X-X-X-X-X-X-X-X-X-X-X-X-X

हां जी रच्यौ रास रंग

हां जो रच्यौ रास रंग, श्म सवहिन सुख दीनौं

मुरली धुनि कर प्रकास, खग मृग सुत रस उदास

युवतिन तज गेह बास, बनहि गमन कीनौं ।

मोहे सुर असुर नाग मुनिजन मन गये जाग,

सिव सराद नारदादि, थकित भये ग्यानी ।अमरागन, अमरनारी, आई लोकन बिसारि,

ओक लोक त्याग कहत धन्य– धन्य बानी।

थकित भयौ गति समीर, चंद्रमा भयौ अधीर,

तारागन लज्जित भये, मारग नहि पावै।

उलटि जमुना बहत धार, सुन्दर तन सज सिंगार

सूरज प्रभु संग नारि, कौतुक उपजावै। हां जी।।

X-X-X-X-X-X-X-X-X-X-X-X-X

नाचत रास में रास बिहारी

नचवत हे ब्रज की सब नारी

तादीम् तादीम् तत– तत थेई– थेई

थुंगन थुंगन लेत गति न्यारी

भक्तिकालीन रंगमंच में, प्रेमाख्यान आंचलिक नाट्य के उतने व्यापक रूपों में कथानकों के उद्गम नहीं हैं जितने पौराणिक प्रसंग । वस्तुतः आंचलिक नाट्य का कलेवर सबसे अधिक मात्रा में पुराणों और कथाओं द्वारा पोषित है । संस्कृत नाटकों ने भी पात्र व कथा बीज पुराणों,रामायण

और महाभारत से ग्रहण किये जैसे-यूनान और रोम के नाटकों ने उन देशों के प्राचीन आख्यानों से; किंतु पुरावृत्तों से विचार या दृष्टिकोण नहीं लिये गये। मध्यकालीन युग में जब परंपराशील आंचलिक नाट्य– शैलियां विकसित हुईं तब समाज में दो प्रतिक्रियाएं उदित हुईं। एक तो उन तथाकथित धार्मिक कृत्यों के विरूद्ध जो शाक्तों, तांत्रिकों और वाममार्गियों द्वारा फैलाये गये थे और दूसरे संस्कृत के राजदरबार– संबंधी नाटकों में वर्णित उच्चवर्गीय समाज के अनैतिक आचरणों के विरुद्ध। भागवत धर्म इन दोनों प्रतिक्रियाओं का मूर्त और लोक संग्रही रूप था। जो नाट्य उस वातावरण में पला और पनपा उसे भागवत धर्म से पात्र और कथाएं तो मिलीं ही, आदर्श, नीति और भक्ति– प्रेरणा का कलेवर भी प्राप्त हुआ। भागवत धर्म के लिए भी यह हितकर परिस्थिति थी क्योंकि रंगशाला और नाट्य, भक्ति– संदेश के माध्यम बन गये। मुस्लिम राज्य में धर्म का संवर्धन राज दरबार से हटकर रंगशाला का उत्तर दायित्व हो गया। रासलीला, रामलीला, कुचिपुडि, अंकिया नाट, जात्रा, दशावतार इत्यादि ने ही भागवत धर्म को जन–साधारण के बीच स्थिर रखा । उसका विस्तार किया। वल्लभाचार्य, चैतन्य और शंकर देव ने बहुजन– संप्रेषण के लिए इन्हीं साधनाओं का इस्तेमाल किया। बौद्ध धर्म के लोक मानस से उठ जाने का कारण केवल यही नहीं था कि उसे जो राजकीय संरक्षण प्राप्त था वह लुप्त हो गया। बल्कि यह भी कि उसे ऐसे प्रतिपक्षी यानी भागवत धर्म से मुकाबला करना पड़ा जिसके पास विशाल जनता पर प्रभाव डालने के अत्यंत रोचक दृश्य– श्रव्य साधन मौजूद थे–नाटक, नृत्य,संगीत, कठपुतली इत्यादि । मुसलमान– शासन के बावजूद भागवत धर्म परंपराशील रंगमंच के कारण जनमानस में 400 वर्ष से बराबर प्रतिष्ठित होता रहा और आज भी उसका प्रभाव बाकी है।

उपर्युक्त चर्चाओं से यह ज्ञात होता है कि भक्तिकालीन नाट्य साहित्य, नृत्य–संगीत परंपरा में अधिक लोकप्रिय रहा है और भाषा नाटकों ने इस परंपरा का पालन अपने नाटकों में किया है । आंगिक,वाचिक और आहार्य इन तीनों प्रकारों के अभिनय के कारण यहां नाटकों में तीन वृत्तियों का समावेश भी अनायास हुआ है । प्रत्युत नाटकों के अभिनेताओं को मंडली एवं रंगमंच के स्वरूप के संबंध में सुस्पष्ट ज्ञान नहीं था परंतु तत्कालीन नाटक मंडलियों ने राजनीतिक परिस्थितियों में भी नाट्य परंपरा का निर्वहन किया । साक्ष्य के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन नाटकों का अभिनय विभिन्न उत्सवों के उपलक्ष्य में हुआ करता था । अधिकांश नाटकों में सूत्रधार रंगमंच पर उपस्थित होकर, परमेश्वरी महोत्सव, यात्रा महोत्सव, भगवती महोत्सव, महादेव महोत्सव, आदि उत्सव विशेष का उल्लेख करके,उस अवसर पर नाटक विशेष के अभिनय के लिए,रामाज्ञा का उल्लेख करता है । इन नाटकों में दृश्य विधान की योजना नहीं है । यद्यपि रंगमंचस्थ पात्रों के प्रस्थान के पश्चात जब अन्य पात्रों का प्रवेश होता है तो दो विभिन्न दृश्यों का अस्तित्व अवश्य ही प्रतिभासित होने लगता है किंतु उनके वास्तविक अस्तित्व की स्थापना नहीं हो पाती । दृश्य विधान में कभी–कभी कथा के स्वाभाविक प्रवाह एवं तारतम्य के स्थान पर उसमें बोझिलता के दोषों की संभावना रहती है । ऐसे यह माना जाता है कि तीन–चार दिनों तक चलने वाले नाटकों में जब दृश्य विधान की योजना की जाए तो साधारण सामाजिकों को रसानुभूति नहीं हो पाती है क्योंकि विभिन्न दृश्यों के तकनीकी उलझनों के कारण वे मानसिक व्यायाम में ही लगे रह जाते हैं । दो विभिन्न दृश्यों के प्रतिभासित होने के अवसर पर भी निर्देशक एवं अभिनताओं की दक्षता तथा निपुणता से कथा–प्रवाह में किसी प्रकार का भी व्यतिरेक नहीं आ पाता था । साथ ही एक दिन के कथांश में किसी प्रकार का तारतम्य भंग नहीं होने पाये और दर्शक बिना किसी व्यवधान के पूर्वापर प्रसंगों के संबंधों को जोड़ते हुए दृश्य काव्य का आनन्द ले सकें, सो अंकों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया गया ।

ज्ञात होता है कि कथा–प्रवाह की स्वाभाविक गति एवं सामाजिकों में भावों को उद्‌बुद्ध कर रसाभिव्यक्ति के लिए दृश्य–विधान की अवहेलना की गयी । यह विधान तत्कालीन प्रचलित नाट्य शैली और वातावरण के उपयुक्त ही था । अतः साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन नाटकों का विकास अर्ध-व्यावसायिक नाट्य मंडलियों के प्रशिक्षण से संभव हो सका । ये मंडलियाँ प्रशिक्षण का कार्य दोहपर से गोधूलि की वेला तक नियमित नाट्याभिनय का अभ्यास करती थीं । इस कारण से नाटकों में अंक विभाजन की पृथक प्रणाली देखी जाती है ।

यदि भक्तिकालीन मैथिली नाटकों की ओर ध्यान दिया जाए तो इन नाटकों में संस्कृत–नाट्य–साहित्य के सदृश ही यहां नाटकों का अंत भरतवाक्य से होता है, यद्यपि भरतवाक्य शब्द का उल्लेख प्राप्त नहीं होता । नाटक के अंत में भी रंगमंचस्थ पात्र एक तरह से संस्कृत के एक श्लोक द्वारा शस्य–श्यामला धरणी, धर्म की वृद्धि, प्रजा की सुख–सुविधा, राजा की दीर्घायुता आदि के लिए प्रार्थना करते हैं । इसके पश्चात मैथिली के एक गीत द्वारा शिव–शक्ति की प्रार्थना की जाती है और इस संसार की असारता का वर्णन करते हुए पारमार्थिक चिंतन के द्वारा,जग जननी के चरणों में लीन हो जाने का निर्देश भी रहता है । अधिकांश नाटकों के सबसे अंत में रचना–तिथि का भी उल्लेख कर दिया जाता है [57]। इसी रूप में अन्य विशेषताओं को देखते हुए हम यह जान पाये कि भक्तिकाल में संस्कृत शैली, कीर्तनियां एवं यात्रा शैली का नाट्य साहित्य में चमत्कारिक समन्वय हुआ है । साथ ही गीतिनाट्य, भाव नाट्य और नृत्य नाटकों की भी रचना परिलक्षित होती है । इन नाटकों की प्रमुखता धर्म और संस्कृति पर आधारित थी क्योंकि तत्कालीन शासकों से निराश होकर जनता का रूख धर्म की ओर केंद्रित हुआ । यही कारण है कि मध्यकालीन भारतीय साहित्य में धर्म एवं भक्ति–भावना का ही प्राधान्य रहा । भक्तिकालीन परिस्थितियों में नाटककारों के लिए रंगमंच और अभिनय की असुविधा भी कम नहीं थी क्योंकि

---

[57]वही,पृ सं - 116

देखा जाता है कि रंगमंच से अनभिज्ञ आक्रमणकारियों ने इसकी परंपरा को समूल विनष्ट करना प्रारंभ किया। तत्कालीन समय रंगमंच और नाट्य–साहित्य के लिए ह्रास का काल था। कई वर्षों से चली आ रही रंगमंच और नाट्य–लेखन की शास्त्रीय परंपरामृत-सी होती चली जा रही थी। परंतु इसी समय जन–नाट्य शैली धीरे - धीरे विकसित हो रही थी। साथ ही नाट्यधर्मी और लोकधर्मी नाट्यशैलियों का समन्वय स्थापित हो रहा था। नाट्य–साहित्य के इस नवीन रूप का अधिक आकर्षण और प्रभाव बढ़ा जब आधुनिक युग में उसी के अनुकरण पर कतिपय नाट्य–रूपों की रचना प्रस्तुत की गई।

भक्तिकालीन रंगमंचीय पक्ष में रस एक महत्वपूर्ण तत्व है। प्राचीन आचार्यों ने भक्ति अर्थात् भगवद विषयक रति को रस नहीं मानकर केवल भाव माना है क्योंकि उसका रस-रूप में पूर्ण परिपाक नहीं होता। दूसरी ओर वैष्णव आचार्यों ने इसे मूल रस मानकर, श्रृंगार आदि रसों को केवल भाव घोषित किया। भक्ति-रस के संबंध में सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि इसका आस्वादन करने वाला कौन है – सहृदय या भक्त? दूसरे शब्दों में कहा जाय कि इसके रस-रूप का विचार अन्य रसों के समान सहृदय की दृष्टि से करना है या भक्त की दृष्टि से ? स्पष्ट है किस हृदय की दृष्टि से करना है। भक्तिरस की परीक्षा काव्य-रस की ही कसौटी पर करनी है। प्रश्न है कि क्या भगवद् रति भी रति, शोक आदि के समान स्थायी भाव हैं ? अर्थात् प्रत्येक सहृदय के चित्त में वासना–रूप में वर्तमान रहती है ? भक्त इस का स्वीकारात्मक उत्तर देगा, परंतु आज इसे इसी रूप में स्वीकार करना कठिन ही है। परोक्ष सत्ता के जो रागात्मक भाव होंगे वे संसर्ग तथा अभ्यास के द्वारा अर्जित ही होंगे। मौलिक तथा स्थायी नहीं हो सकते। भक्त के लिए यह प्रकृत भाव हो सकता है, परंतु साधारण सहृदय के लिए (जो रस का वास्तविक अधिकारी होता है) अर्जित ही है।

भक्ति का सीधा संबंध मोक्ष से है जो कि चरम पुरुषार्थ है इसलिए रस के अन्य तत्व–पुरुषार्थ की प्रतियोगिता – के विषय में कोई शंका नहीं हो सकती किंतु उत्कट आस्वाद्यता के विषय में शंका उठ खड़ी होती है। क्या सहृदय काव्यगत भक्ति का आस्वादन उसी उत्कट रूप में करता है जिस रूप में वह रति, उत्साह आदि भावों का करता है ? केवल भक्त ही नहीं, प्रत्येक सहृदय,भक्ति से उत्पन्न कविता का पूर्णतःआस्वादन करता है । किन्तु भक्त और सहृदय का आस्वादन समान नहीं होता । भक्त की सहृदयता विशेष संस्कारों से प्रभावित होने के कारण शुद्ध नहीं कही जा सकती इसलिए उसके अनुभव का साधारणीकरण केवल भक्त-वर्ग में ही होता है, साधारण सहृदय- वर्ग में नहीं।

फिर सूर आदि भक्त कवियों के सरस प्रसंगों में जो आस्वाद्यता है उसका क्या कारण है? विनय के पदों में पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण को व्यक्त किया गया है। सहृदय के चित्त में भी उस अज्ञात शक्ति के प्रति समर्पण की यह भावना वासना–रूप में स्थित रहती है। विनय के पदों में विभाव आदि का जो सजीव चित्रण रहता है उससे जग कर रसत्व प्राप्त करती है। यह समर्पण–भाव स्थायी भाव है किन्तु शुद्ध नहीं । शम,विस्मय और रति के समान यह समर्पण–भाव भी मिश्रित भाव है। इस दृष्टि से देखने पर भक्ति का यह रूप रसत्व प्राप्त कर लेता है । रूप-माधुरी एवं श्रृंगार के पदों की रसात्मकता का आधार रति है किंतु चूँकि इसका आलम्बन अलौकिक है इसलिए यह सामान्य लौकिक रति न होकर, उदात्त रूप की रति है। अतः इस रति की आस्वाद्यता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता । साधारण रस-प्रक्रिया में विभावों की लौकिकता विघ्न-रूप में रहती है और कवि को अपनी कल्पना का उपयोग करके उसका निराकरण करना पड़ता है परंतु प्रसंग में विभाव आदि की अलौकिकता के कारण यह विघ्न नहीं रहता और रस की सिद्धि बहुत सहज हो जाती है। सो भक्ति का स्थायी भाव चाहे समर्पण–भाव हो या उदातीकृत रति, उसकी आस्वाद्यता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता है । परिणाम

स्वरूप उसका रसत्व भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। भक्ति का अंतर्भाव भी अन्य रसों में संभव नहीं है क्योंकि भक्ति का स्थायी भाव न शुद्ध विस्मय है, न शुद्ध भय है, न शम है और न शम मूलक रति ही है। अतः इसकी स्वतंत्र सत्ता पर संदेह नहीं किया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि यदि इसका सामुदायिक रूप लिया जाय तो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यह सिद्ध नहीं होता क्योंकि उस दशा में वह केवल भक्त-गम्य है। अतः उसका साधारणीकरण नहीं हो सकता।

हिंदी साहित्य के तहत हिंदी रंगमंच का उद्भव और विकास आधुनिक काल साहित्य में भारतेन्दु से माना गया है परंतु यदि हम हिंदी रंगमंच को आधुनिक विधा मानेंगे तो हम लोक रंगमंच को पूरी तरह से अनदेखा कर रहे होंगे क्योंकि भक्तिकालीन हिंदी रंगमंच वह रंगमंच रहा है जो तत्कालीन जनता की जीवन शैली से धरातल रूप में जुड़ा हुआ है। यह सत्य है कि संस्कृत के नाटक- नाटककारों की प्राचीनतम परंपरा में भरतमुनि के नाट्यशास्त्रों के नियमों और सिद्धांतों का कठोरता से पालन हुआ है। लेकिन संस्कृत के बाद साहित्य से नाटक और रंगमंच की परंपरा समाप्त नहीं होती है। उनका केवल स्थानांतरण हो जाता है। वस्तुतः भारतीय ग्रामीणों की विनोद– प्रवृत्ति, ठोस बुद्धि और तीखी प्रतिक्रियाएं इन प्रसंगों में निखरती हैं। सम्भवतः ऐसे आलोचना– मूलक सामाजिक प्रसंगों का समावेश उस परंपरा का द्योतक है जो संस्कृत– नाटकों के युग में भाणों और प्रहसनों में निहित है। सो भाण और प्रहसन की भंगिमाएँ बाद में भी चलती रहीं और आज भी वे परिहास जो नगरों में पुराने पड़ गये हैं, आँचलिक नाट्यों में जारी हैं।

वास्तव में भरत ने लोकधर्म और नाट्यधर्म में स्पष्ट भेद कर दिया है। कुछ तत्व लोकधर्मी होते हैं और कुछ नाट्य धर्मी। कुछ पदार्थ अपने स्वाभाविक रूप में लोकधर्मी कहलाते हैं। यह लोक का शुद्ध तथा स्वाभाविक अनुकरण है। इसमें विभिन्न भावों को संकेतित करने

वाली आंगिक अभिनय–भंगिमाओं को अपना नहीं सकते ।'अत्यन्त सांकेतिक वाक्य, क्रियाएं, लीला, अंगहार, नाट्योक्त रूढ़ियाँ–यथा जनांतिक,स्वगत, आकाशभाषित आदि । पर्वत,रथ,विमान,ढ़ाल,तलवार आदि के संकेत देने वाली रूढ़ियाँ और सूक्ष्म भावों का संकेत देने वाले अभिनय नाट्यधर्मी हैं।'[58] रंगमंच की सीमा को सभी नाट्यशास्त्रियों ने मान्यता दी है । श्रव्य काव्य में वस्तु की सीमा का कोई बंधन नहीं है किंतु दृश्य काव्य रंगमंच पर दिखाया जाता है । सो देश-काल की संकुचित सीमा में बँधा रहता है । यह संभव नहीं कि कुछ हाथ लंबे और कुछ हाथ चौड़े रंगमंच पर किसी नायक के जीवन से सम्बद्ध सभी घटनाओं का यथार्थीय प्रदर्शन किया जा सके । ये सभी बातें संस्कृत नाटकों में परिपूर्ण रूप से प्रदर्शित होती आयी हैं । परंतु भक्तिकालीन हिंदी रंगमंच में ये समयानुकूल न होने के कारण रंगमंच केवल लोक पारंपरिक शैली तक ही सीमित रह गई । असम में संस्कृतनिष्ठ वैष्णव नाटकों की परंपरा दिखायी ज़रूर देती है परंतु इनमें धार्मिक रूढ़ियों के कारण उसमें परिवर्तन भी दिखाई देता है । माना जाता है कि कीर्त्तनियां नाटक के रंगमंच की आवश्यकताएं भी बदल गईं ।

अंततः भक्तिकालीन रंगमंच पर गहन अध्ययन करने के पश्चात यह ज्ञात होता है कि हिंदी रंगमंच को सौभाग्यवश पूर्वी शाखा में, वैष्णव–नाटकों के रूप में संरक्षण प्राप्त हो रहा था । लीला-नाटकों के माध्यम से भक्ति को प्रचार-प्रसार प्राप्त हो रहा था । पश्चिमी शाखा में रासलीला ने गीतिकाव्य के अनुरूप अपना अस्तित्व बनाए रखा । ये सभी पारंपरिक नाट्य शैलियाँ संरक्षण के अभाव में अच्छे से विस्तार न पा सकीं परंतु नाट्य परंपरा को जीवित रखने में इन नाटकों एवं शैलियों का अविस्मरणीय योगदान रहा है ।

[58]भारतीय नाट्य-सिद्धान्तः उद्भव और विकास,डॉ रामजी पाण्डेय,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,पटना,2000 पृ.सं-440

चतुर्थ अध्याय

भक्ति आंदोलन और हिंदी नाटक

भारतीय नाट्य परंपरा पद्यात्मक रही है । गद्यात्मक रंगमंचीयता पश्चिम की देन है और भक्तिकाल की रचनाओं में चाहे वे कथात्मक हों या गीतात्मक उनमें नाटकीय तत्व विद्यमान हैं। भक्ति आंदोलन की रचनाएं इस उद्देश्य से नहीं रची गई थीं कि वे रंगमंच पर अभिनीत की जाएं किंतु उस समय की रचनाओं में पाठ के साथ प्रदर्शन कर पाना असंभव था। 'यद्यपि हमारा यह निश्चित विचार है कि इन नाटकों को 'हिंदी' नाटकों की संज्ञा उस रूप में नहीं दी जा सकती जिसमें हिंदी के सामान्य साहित्य का बोध होता है । तथापि हिंदी नाट्य–साहित्य की मूल परंपरा की प्रेरणा और रूप के विकास के स्रोत,निस्संदेह ये ही नाटक थे। हिंदी नाट्य–साहित्य का अध्ययन बिना इन नाटकों से परिचित हुए उतना ही अधूरा रहेगा जितना असमिया अथवा मैथिली नाट्य–साहित्य का । दूसरे शब्दों में ये नाटक हिंदी, मैथिली, असमिया, उड़िया और बांग्ला के नाट्य–साहित्यों की सम्मिलित धरोहर – 'कम्पोजिट हेरिटेज'– हैं ।'[59] उमापति उपाध्याय का पारिजातहरण नाटकम्, विद्यापति ठाकुर का गोरक्षविजय, शंकरदेव का कालिदमन यात्रा आदि भक्तिकाल के हिंदी नाटक हैं। हमारा उद्देश्य इन नाटकों के साहित्यिक और रंगमंचीय पक्षों को प्रस्तुत करना है । उत्तरी भारत की विलक्षण और सबके द्वारा अभिनंदनीय नाट्य–परंपरा का विवेचन ही हमारा उद्देश्य रहा है। इसके पाठ, व्याकरण और शब्द की पुनःवृत्ति नहीं। अतःइन नाटकों की भाषा को 'देशीभाषा' माना गया है। इसके प्रमुख

[59]प्राचीन भाषा नाटक,मध्यकालीन नाटकों का संग्रह और विवेचन,जगदीशचंद्र माथुर,डॉ दशरथ ओझा,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,पृ.सं. - 6

दो कारण हैं–एक तो यह कि जिन भाषाशास्त्रियों ने इस नाटकीय भाषा में विचार प्रकट किये हैं उनमें से किसी ने भी निश्चित रूप से इनकी भाषा को, किसी प्रदेश–विशेष की वर्तमान भाषा के रूप में मान्यता नहीं दी है। दूसरा कारण यह है कि जिन दिनों ये नाटक रचे गये थे उन दिनों 'बांग्ला', 'मैथिली', 'हिंदी', इत्यादि वर्तमान नामों का प्रचलन ही नहीं हुआ था। एक ही शब्द था (जिसे विद्यापति ने भी 'देसिल बयना' की संज्ञा दी)– 'देशी भाषा' अथवा 'भाषा'। इस देशी भाषा का आधार हमें उक्ति-व्यक्ति–प्रकरण, प्राकृत–पैंगलम्, चर्यापदों और वर्णरत्नाकर इत्यादि पूर्व मध्यकालीन ग्रंथों में दिखाई पड़ता है। देशी भाषा में लिखे नाटकों के अंतर्गत लोक नाट्य तत्व परिलक्षित होते हैं।

भक्तिकालीन हिंदी नाटक में धर्म का विशिष्ट स्थान है। विद्वानों का मत है कि नाटक का प्रारंभिक रूप धार्मिक ही था। ऐसे में, शोध-कार्य में आगे बढ़ने से पहले धर्म और नाटक के संबंध को जान लेना अनिवार्य तत्व हो जाता है। डॉ कीथ ने कंसवध की कथा को हेमन्त और ग्रीष्म के संघर्ष का प्रतीक माना है[60]। रंगमंच में जनता के समक्ष कृष्ण पहले अपने मामा कंस के योद्धाओं को पराजित करता है और अन्त में उस अत्याचारी कंस का वध करता है। वासुदेव, देवकी आदि सभी वहाँ उपस्थित रहते हैं, अप्सराएं गीत गाती हैं और दर्शक सारी रात मनोहर दृश्य देखते रहते हैं। फिर कृष्ण और गोपियों का प्रेम दिखाया जाता है। रास-मण्डल का नृत्य होता है। इस संबंध में यात्रा की लोकप्रियता का महत्व देखा जा सकता है। संस्कृत–नाटक का लिखा जाना और खेला जाना बन्द भी हो गया परंतु अभी भी यात्रा का महत्व बना हुआ है। कृष्ण–भक्ति का एक बहुत अधिक महत्व अन्य बातों में भी देखा जा सकता है। मुसलमानी आक्रमण के उपरांत कृष्णभक्ति का पुनर्जागरण दर्ज हुआ तो ब्रज भाषा में ही हुआ। प्राचीन

---

[60]भारतीय नाट्य-सिद्धान्तः उद्भव और विकास,डॉ रामजी पाण्डेय,बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्,पटना-4,प्रथम संस्करण 2000 पृ.सं-49

शौरसेनी के स्थान की मध्यकालीन भाषा ब्रज भाषा है और कृष्ण-भक्ति के प्रचार के साथ इसका प्रचार अपनी सीमाओं से बहुत आगे बढ़कर हुआ।

नाटक के विकास में राम का स्थान भी बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि देश-भर में रामायण बेहद लोकप्रिय कथा है। रामलीला और दशहरा से राम-कथा की लोकप्रियता पूर्णतः सिद्ध हो जाती है। ऐसे अवसरों पर तीर्थ-यात्रियों और अन्य लोगों के समक्ष लड़के ही राम,लक्ष्मण,सीता आदि की भूमिका निभाते हैं। सभी दर्शक राम-कथा से पूर्णतया परिचित रहते हैं। अतः उन अभिनेताओं के नहीं बोलने पर भी राम के जीवन की सभी घटनाएँ- वनवास,सीता के अन्वेषण और राम की रावण पर विजय–आदि समझते जाते हैं। वस्तुतःरामायण का पूर्ण प्रभाव नाटक पर दृष्टिगोचर होता है।

बौद्ध धर्म और नाटक

नाटक का धार्मिक महत्व बौद्धों के दृष्टिकोण में भी परिलक्षित होता है। नाटक के बहुत प्राचीन अंश भी, जो छिट-पुट रूप में पाये गये हैं, अश्वघोष के बौद्ध नाटक हैं। ऐसे नाटकों को स्वीकार कर लेने पर 'ललितविस्तर' यह भी कहता है कि बुद्ध को नाटक का भी ज्ञान प्राप्त था। कहा जाता है कि बुद्ध के समय में भी नाटक थे क्योंकि राजा बिंबिसार ने दो नाग-राजाओं के सम्मान में एक नाटक का प्रदर्शन कराया था। 'अवदान शतक' के अनुसार तो नाटक बहुत प्राचीन काल से ही मौजूद थे। इन नाटकों की छाप सद्धर्म पुण्डरीक पर पड़ी है जो ललित विस्तर के समान महाकाव्य नहीं है वरन् संवाद–श्रृंखला है। इसमें अति मानव बुद्ध प्रमुख हैं किंतु अन्य व्यक्ति भी वक्ता है। सिंहल में राजवंश के एक राजकुमार के द्वारा स्तूप के शिलान्यास के समय गीत, संगीत,नृत्य और दृश्य-प्रदर्शन माध्यम से ऐसे ही कलात्मक प्रभाव लाने का प्रयास किया गया।

महावंश का कथन है कि उस युग में गीत, संगीत और नृत्य का बहुत सम्मान था। तिब्बत में भी पुराने धार्मिक नाटकों के अवशेष पाये जाते हैं जो सामान्य जनता के द्वारा खेले जाते थे।

यह वह समय था जब नाटक शास्त्रीयता की झोली से लोक पारंपरिक शैली की ओर अग्रसर होने लगी थी। विनय पिटक से प्रमाणित होता है कि नाटक का प्रचार भारत-व्यापी था। विनय पिटक के 'चुल्लबग' में यह कथा मिलती है कि एक बार अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु संघाटी फैलाकर नाचने वाली नर्तकी से मधुर वार्त्तालाप करते रहे। जब विहार महास्थ विर को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने उन दोनों भिक्षुओं को तुरंत विहार से निर्वासित कर दिया।

जैन धर्म और नाटक

जैसा बौद्ध धर्म के साथ है वैसा ही जैन धर्म के भी साथ है। बौद्ध-मत के समान जैन-मत में भी नाटक से संबंध रखने वाले आनन्दोप भोगों की निन्दा है परंतु साथ ही धर्म-सिद्धांतों में गीत,संगीत,नृत्य और दृश्य-प्रदर्शन को मान्यता भी दी गई है। जैन मत ने भी अपने धर्म के प्रचार के लिए नाटक को भी अपना माध्यम बनाया। जैनियों का 'सत्तप सेणीय सुत्त' नामक धार्मिक ग्रन्थ है। धर्म और नाटक के घनिष्ठ संबध के विषय में पुष्ट प्रमाण उपलब्ध है। यह भी स्पष्ट जान पड़ता है कि धर्म से ही नाटक-रचना की निर्णयात्मक प्रेरणा मिली। महाकाव्यों का महत्व निःसन्देह बहुत अधिक है किंतु महाकाव्यों के मात्र शंसन से, नाटक के अत्यधिक निकट पहुंचने पर भी इसकी रचना नहीं हो सकती थी। प्राचीन काल में सामान्य जनता अपनी साधारण बोली में ही नाटक प्रस्तुत करती थी। यही परंपरा भक्ति-युग में भी दिखाई देती है।

आजकल सामान्यतः 'लोकनाट्य' नामक जिन परंपराशील क्षेत्रीय नाट्य और रंगमंच शैलियों पर लागू किया जाता है, उनका उद्गम 'संगीतक' ही है । संगीतक ऐतिहासिक विकास में एक उपेक्षित नाट्य विधा है जिसका संबंध भाषा नाटकों से परिलक्षित होता है । ''संगीतक' का उत्कर्ष पूर्व मध्य–युग में हुआ । 'संगीतक' उसी रंगमंचीय विधा (प्रयोजन–विधा यानी प्रोडक्शन टेकनीक) का नाम है जिसकी साहित्यिक अभिव्यंजना इन भाषा नाटकों में हुई है । बाद में यह साहित्यिक धारा मिथिला और असम तक ही सीमित रह गई और 19 वीं सदी तक आते– आते अमूमन गति हीन हो गई । हालांकि रंगमंचीय विधा देश के अनेक भागों में-मंदिरों, मेलों और सामान्य जनता के उत्सवों इत्यादि में प्रस्फुटित होती रही । 'संगीतक' ही के प्रादेशिक रूप हैं–साँग, संगीत, रासलीला, रामलीला, ख्याल, माच, भवई, तमाशा, भांड जश्न(काशमीर), बिदेसिया इत्यादि जिन्हें 'लोकनाटक' की संज्ञा दी जाती है'।[61] संगीतक का सर्वप्रथम उल्लेख चतुर्भाणी में वररुचि कृत 'उभयाभिसारिका' नामक भाण में मिलता है । चतुर्भाणी के बाद हमें संगीतक शब्द का उल्लेख बाणभट्ट की कादम्बरी में मिलता है । स्पष्ट है कि राजसी ठाट बाट के साथ होने वाले नाटकीय प्रदर्शनों को संगीतक की संज्ञा रंगशाला के विधायकों ने दी, न कि कवियों अथवा लक्षणकारों ने । हालांकि मध्ययुग के प्रथम चरण तक पहुंचते – पहुंचते कवियों ने भी इस नाम को अपना लिया । इसका प्रमाण है विद्यापति का 'गोरक्षविजय' नाटक । इस नाटक में नांदी के उपरांत स्पष्टतः संगीतक शब्द का व्यवहार हुआ है–

'भनइ विद्यापति पुर वथु आसा । मंगल कररू देव दिगवासा।

---

[61]प्राचीन भाषा नाटक,जगदीश चन्द्र माथुर,डॉ दशरथ ओझा,पृ. सं -7 (भूमिका)

अलमति विस्तरेण ।नटी माह्वय संगीतक मवतार यामि'।[62]

(अब अधिक विस्तार से क्या । इसके बाद नटी को बुलाकर संगीतक (संगीतमय नाटक) को प्रस्तुत करता हूँ।)

विद्यापति द्वारा संगीतक शब्द का प्रयोग, इस प्रदर्शन–विधा के विद्वानों में स्वीकृत किये जाने का प्रमाण तो है लेकिन लक्षण ग्रंथों का आग्रह बहुत प्रबल था । यद्यपि तदुपरान्त लिखे ये सभी देशी भाषा नाटक वस्तुतः संगीत कही थे तथापि मिथिला में अर्से तक नाटक अथवा शास्त्रोक्त शब्दों से ही इन रचनाओं को विद्वानों के बीच संबोधित किया जाता रहा । असम में शंकरदेव और माधवदेव ने लोक–परंपराओं से अपनी रचनाओं का नाता जोड़ा और इन मिश्रित नाटकों को लोकरुचि के अनुकूल संज्ञा दी–अंकिया नाट , जात्रा या झुमुरा इत्यादि । मिथिला में भी जनसाधारण के बीच में नाटक 'कीर्तनियां नाट' के नाम से पुकारे जाने लगे परंतु संगीतक शब्द का लुप्त नहीं हुआ । भारत वर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में यह शैली मध्य युग में फैलती रही । यद्यपि विद्वानों एवं कवियों की प्रतिभा नाट्य रचना से हटकर काव्यों और पदों की ओर उन्मुख हो गई तथापि नाटक–मंडलियों के निपुण सूत्रधारों ने अंशतः लिखित और अंशतः मौखिक रूप से इस परंपरा का विकास किया।

समाज हर युग में नाटक चाहता है । जब साहित्यिक नाटक की धारा शुष्क होने लगती है तब लोकनाटक रिक्त स्थान की पूर्ति करता है । पुनः साहित्यिक धारा लोकनाटक से सिंचित हो जाने पर, उसकी विशेषताओं को अंगीकृत कर,पुष्ट हो जाती है । यही क्रम बराबर नाटक और रंगमंच के इतिहास में दिखता है । संस्कृत नाटकों के ह्रास काल में भी यही हुआ और लोक प्रदर्शनों का प्रभाव बढ़ता गया । उसके फलस्वरूप जो भाषा नाटक अथवा मिश्रित नाटक

---

[62]प्राचीन भाषा नाटक, (गोरक्षविजय नाटक - विद्यापति ठाकुर) जगदीश चन्द्र माथुर,डॉ दशरथ ओझा,पृ. सं - 206

रचे गए उनमें लोक प्रदर्शनों के अनेक तत्वों का समावेश हुआ । यह प्रभाव प्रस्तुत संग्रह के लगभग सभी नाटकों में लक्षित है । ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित तथ्यों से यह आंकलन किया जाता है कि अरब व मध्य एशिया के मुसलमानों के आक्रमणों के फलस्वरूप तत्कालीन हिंदू एवं बौद्ध समाज की आस्थाएं तथा सांस्कृतिक बुनियादें हिल गईं । तब भक्ति संप्रदाय ने पुराणों, महाभारत एवं रामायाण में से त्रस्त और क्षुब्ध समाज के लिए कुछ ऐसे पात्र, प्रसंग खोज निकाले जिनके ध्यान व पूजन के लिए वृहत मंदिरों और राज संरक्षण की विशेष आवश्यकता नहीं थी । कीर्तन कथा एवं यथासंभव नाट्य-प्रदर्शन द्वारा ही धर्म की भावना का विकास हो सकता था । परिणाम यह हुआ कि श्रीमद्भागवत,रामायण और महाभारत लोकानुरंजन के प्रमुख स्रोत ग्रंथ माने जाने लगे । संप्रदायों, प्रचारकों और संतों ने इन महा ग्रंथों के रोचक तथा मनोरंजक प्रसंगों को अपने–अपने मिशन का आधार बनाया । नाटक उनके मिशन में एक माध्यम बने । उनके प्रभाव में आकर,जिन-जिन छोटे–छोटे हिंदू राज्यों में रंगशालाओं की सांस्कृतिक धाराएं पहले से चल रही थीं वहां भी श्रीमद्भागवत और रामायण से ही कथानक चुने जाने लगे । उदाहरणस्वरूप गोस्वामी तुलसीदास की रचना 'रामचरितमानस' इस कोटि की रचना है । 'इस रचना ने रंगमंचीय परंपरा को अक्षुण्ण रखा और पुष्ट किया कि इसमें ऐसे संवादों की बहुलता है जिसमें श्रेष्ठ नाटकीय तत्व हैं, एकालाप हैं और कथानक को एक ऐसी कार्य–श्रृंखला में बाँधा गया है जिसके नाटकीय अंशों तथा कथात्मक अंशों में आनुपातिक एवं तर्क सम्मत संबंध है । कथावस्तु में निरंतरता बनाएं रखने के लिए अचानक रोककर कवि किसी पहले की घटना का वर्णन करने लगता है । ऐसा भी किया गया है कि घटनास्थल का आभास

कराने के लिए आवश्यक कथा का वर्णन पात्र स्वयं कर देते हैं । पात्र अपना परिचय ही नहीं बल्कि अपने नाटकीय प्रयोजन भी स्वयं ही बतलाते हैं'[63]।

नाट्य दशरूपक सट्टक,रासो,रासक, चर्चरी आदि कई प्रकार के नाट्य रूप किसी–न–किसी रूप की संगीतात्मक नाट्य–रचनाएं हैं जोकि आधुनिक हिंदी नाटक और संगीत से भी संबंधित हैं । मध्ययुगीन कथाओं में रामकथा और कृष्ण कथा भारतीय समाज की संस्कृति का आईना हैं – भक्त बिना भगवान कहां और भगवान बिना भक्त कहां- इन पंक्तियों में भक्ति और भक्त दोनों समतुल्य हैं । संपूर्ण भारत में भक्ति मार्ग को प्रदर्शित करने में नाटक और रंगमंच का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है । जिस स्थान पर भक्त पारंपरिक धार्मिक अनुष्ठानिक क्रियाएं एवं विधि–विधान किया करते हैं वहां नाट्य मंचन हेतु नाट्य मंडप आदि का भी निर्माण होता है । मध्ययुगीन पंरपरा के आनुष्ठानिक प्रांगण में नाट्य–रूपों का कथ्य, संगीत, नृत्य आदि में शैली बद्ध करके कलात्मक दृष्टि से परिष्कृत नाटकों का मंचन किया जाता था ।'मंदिरों के इन प्रदर्शनों के दो प्रयोजन होते हैं–एक तो देवताओं की तुष्टि के लिए चढ़ावा । दूसरा भक्त दर्शकों को देवताओं के दर्शन सुलभ कराते हैं । इस प्रकार के समारोहों का एक महत्वपूर्ण उल्लेख 'भावप्रकाश' के रचयिता शारदातनय ने किया है । उनको यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा शारदा देवी के मंदिर में जाने के बाद मिली । वहां वे दिवाकर नाम के एक ब्राह्मण से मिले जो मंदिर की नाट्यशाला के अधिकारी थे । शारदातनय ने आगे अपने ग्रंथ में लिखा है कि वहां उन्होंने तीस प्रकार के प्रदर्शन–रूप देखे । मंदिरों में इस प्रकार के प्रदर्शनों का क्रियाकलाप बराबर बढ़ता रहा और मंदिर इसके महत्वपूर्ण केंद्र बन गए ।'[64] मंदिरों की प्रदर्शन-परंपरा ने आरंभिक मध्ययुगीन शताब्दियों की प्रदर्शन परंपरा के बीच सेतु–निर्माण का काम किया । नरसिंह जयंती पर

---

[63]हे सामाजिक,सुरेश अवस्थी,पृ. सं - 64

[64]हे सामाजिक,सुरेश अवस्थी,राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय,बहावलपुर हाउस,नई दिल्ली,पहला संस्करण-2000 पृ. सं - 21

'प्रहलादचरितम'[65] खेले जाने के पहले विस्तृत विधि–विधान के साथ मुखौटा बॉक्स से बाहर निकाला जाता है। भारतीय राज्य उड़ीसा के प्रहलाद् नाटक में प्रयोग होने वाला मुखौटा चार फीट ऊँचा होता है। इस मुखौटे को साल भर विष्णु के मंदिर में रखा जाता है और अन्य मूर्तियों के साथ इस मुखौटे पर भी चढ़ावा चढ़ाया जाता है। प्रदर्शन के पहले नरसिंह का अभिनय करने वाला मुखौटे की विधिवत पूजा करता है। मुखौटे और शीर्ष–सज्जा की पूजा की जाती है। उनका देवत्व जागृत किया जाता है। मंदिरों के नाटकों में वेशभूषा पहनने के बाद सबसे अंत में मुकुट और मुखौटा पहनाया जाता है। प्रदर्शन समाप्त हो जाने पर मुकुट और मुखौटा उसी प्रकार विधि–विधानों के साथ उतारा जाता है। उड़ीसा के प्रह्लाद नाटक में नरसिंह की भूमिका करने वाला अभिनेता प्रायः मूर्च्छना में चला जाता है, और उसे उसी स्थिति में प्रह्लाद मंदिर में वापस लाया जाता है जहाँ मूर्च्छना से जागने के बाद उसका मुखौटा उतारा जाता है।

मंदिरों में प्रदर्शन की परंपरा पर प्रकाश डालते हुए देखा जा सकता है कि भारतीय रंगमंच को भक्ति आंदोलन ने नये रूप रंग में प्रस्तुत किया और रंगकला का नया युग प्रारंभ किया। यात्रा, रामलीला, रासलीला, अंकियानाट, नृसिंहलीला, कृष्णलीला, भागवतमेल आदि अनेक नाट्य रूप जो आज भी भारतीय जन जीवन में लोकप्रिय हैं, मुख्य रूप से भक्ति–आंदोलन की ही देन हैं। भक्ति आंदोलन के साथ नाट्य रूपों का यह पुनर्जीवन एक ओर तो इसलिये हुआ कि वैष्णव भक्ति में,ईश्वर के मनुष्य रूप में अवतार लेकर, भक्तों के कष्टों को दूर करके उन्हें आनंदित करने की लीलाओं पर जोर दिया गया। दूसरी ओर भक्ति पद्धति जिस रागात्मिका वृत्ति पर आधारित है, लीलानुकरण उसकी पुष्टि का महत्वपूर्ण माध्यम प्रस्तुत करता है। मंदिरों में देव प्रतिमाओं की अर्चना पद्धति भी इसीलिये नाट्य मूल ही रखी गई। इसके साथ ही नाट्य रूपों को प्रचार के माध्यम के रूप में ग्रहण करने की दृष्टि भी थी। भक्ति–आंदोलन के पुरस्कर्ता

---

[65]वही पृ.सं.- 21

इस माध्यम को अपनाने के विषय में गंभीरता से सोच रहे थे और इसके लिए वे संस्कृत की ओर झुके। चैतन्य महाप्रभु की प्रेरणा से रूप गोस्वामी और उड़ीसा के राय रामानंद राय ने इस दिशा में सक्रिय कदम उठाए। रूप गोस्वामी ने 'विदग्ध मानव' और 'ललित माधव' आदि भक्ति तत्व समन्वित नाटक लिखे जिनकी प्रस्तुति हुई। भक्ति प्रधान नाट्य- सिद्धांतों की व्याख्या के लिए उन्होंने 'नाटक चंद्रिका' नामक ग्रंथ की रचना की और भक्ति के विलक्षण सौंदर्यानुभव को शास्त्रीय स्वरूप देने के लिए 'उज्ज्वल रस' की स्थापना की।

राय रामानंद राय नाटककार के साथ ही नाट्य प्रयोक्ता भी थे। उन्होंने 'जगन्नाथ वल्लभ' नामक नाटक की रचना की थी। उड़ीसा के मंदिर को देवदासियों की नाट्याभिनय की शिक्षा देकर उनसे भक्ति विषयक नाटक वे कराया करते थे। उनके गंभीर ज्ञान, नाट्य-कौशल, और उत्कृष्ट भक्ति का चैतन्य देव बड़ा सम्मान करते थे। स्वयं चैतन्य भी उत्कृष्ट कोटि के अभिनेता थे। राधा और रुक्मिणी के अभिनय में वे आत्म विस्मृत हो जाते थे।

भक्तिकालीन नाटकों में मैथिली नाटकों की अहम भूमिका रही है। भक्ति युग केनाट्य–साहित्य पर मिथिला के जन–नाट्य, संगीत एवं नृत्य का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। प्राचीन काल से ही मिथिला न केवल सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में अपितु संगीत–नृत्य के क्षेत्र में भी अग्रणी रही है। मैथिली नाट्य परंपरा का प्रभाव नेपाली नाट्य साहित्य में भी पूर्ण रूप से देखने को मिलता है। नेपाल के नाटकों की एक अन्य विशेषता यह भी है कि कथोपकथन में भी गद्य का ही प्रयोग हुआ है जबकि मिथिलांचल में लिखे गये नाटकों में जीवन झा के पूर्व तक, संस्कृत–प्राकृत का प्रयोग पाया जाता है। मैथिली परंपरा में देखा गया है कि मिथिला निवासी विभिन्न राजाओं के शासनकाल में समय-समय पर गीत, नृत्य, यात्रा आदि लोक–नाट्यों

का आयोजन किया करते थे । ये नाटक समकालीन मैथिली नाटकों की रचना की आधारभूत पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं । मैथिली नाटकों की नाटकीय विशेषताओं का विवरण इस प्रकार है–

नाटकों का स्वरूप

कथावस्तुइन नाटकों की कथावस्तु के स्रोत के रूप में विभिन्न पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानकों को ही आधार बनाया गया । पुराणों के उन्हीं कथांशों पर नाटकों की रचना हुई जिनमें तथ्यों के अतिरिक्त श्रृंगार रस का भी समावेश सरलता से किया जा सकता था । किसी भी प्रकार की मौलिकता व नवीन विषयों पर रचना नहीं की गई । इन सुपरिचित कथाओं को अपनाये जाने का कारण यह हो सकता है कि कृष्ण की विभिन्न लीलाओं में भौतिक श्रृंगार का समावेश करके जन–भावना को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने का ध्येय इन नाटककारों का रहा है । जब जनसाधारण का हृदय परिष्कृत हो जाता था तो ईश्वर के दार्शनिक रूपों की चर्चा से उनके हृदय में, उस सर्वात्मा की मूर्ति को अंकित कर दिया जाता । तत्पश्चात् इस भौतिक संसार की संपदाओं की क्षणभंगुरता का निर्देश देते हुए काम,क्रोध, लोभ,मोह आदि के पाश से मुक्त होकर जीवन के अंतिम पुरुषार्थ को प्राप्त करने का उपदेश दिया जाता था । उपर्युक्त तथ्य यहाँ के प्रत्येक नाटक में आए हुए उल्लेखों से प्रमाणित हैं ।

शंका ----- हे नारद ! एकः पुरारिःआद्यःपुरुष एव विश्वात्मकों भवति स पुरारिः।सृष्टि- स्थिति–संहृति कलाभिःक्रियाभिःअन्नतरूपःनाना रूपो भवति ।यथा एकस्य पुरूषस्य नाना क्रियाभिःनानात्वं भवति, एक ए वावतिष्ठते । एवं चेत्तहि पृथग्जन गणैःआहित समाहितो यो वादजल्पः,तैःसुकृतिनोपि–पंडितापि अस्य पुरभिदःशंभो पृथग्विध त्रानात्वेकंथ संशेरते।

समाधान–हेपार्वती !श्रुणु,ज्ञान सुखात्मकस्य ईश्वरस्य सृष्टयादि कार्य शरीर व्यतिरेके ण न संभति । अतःकारणात्पृथि व्यादि भूता नि सृष्टाचैतन्यस्वरूपेण तत्र प्रति विंवते । तेन शरीर भेदे न भेदःन तुवास्तवतः,आत्मकृतो न भेदः। तस्यात्मःतस्य आ कीट ब्रह्म पर्यन्त एकत्वात्।[66] प्रत्येक नाटक का प्रारंभ शिव की स्तुति से होता है । प्रायःशिव की स्तुति संस्कृत में मंगलाचरण के रूप में पायी जाती है । जिसके पश्चात मैथिली गीत के द्वारा शक्ति की वंदना की जाती है । यह स्पष्टतः मिथिला के व्यवहार का प्रत्यक्ष प्रभाव है क्योंकि मिथिला में किसी भी शुभ प्रसंग पर कुल देवता के गीत, जिसे यहाँ की भाषा में 'गोसाउनिक गीत' कहा जाता है । 'प्रायःसभी नाटकों में अन्य पात्रों का प्रस्थान–क्रम संस्कृत नाट्य शैली की भांति ही है । उनमें रंगनिर्देश का अभाव है किंतु कथोपकथन के समय विभिन्न पात्रों की भावभंगिमा, मुद्रा और मनःस्थिति का निर्देश बड़ी सतर्कता से किया गया । विस्मृत बातों को स्मरण पथ में लाने के लिए नाक पर हाथ रखकर सोचना, ब्रीड़ा का नाट्य, स्नान के बाद साड़ी के पल्ले को हाथ से उठाने की क्रिया आदि विभिन्न भंगिमाओं को प्रदर्शित करने का निर्देश यहाँ के नाट्य साहित्य में बड़ी सूक्ष्मता से हुआ है'[67]।

कीर्तनियां अथवा यात्रा शैली के कारण मैथिली नाटकों में गीतों की बहुलता दिखाई देती है । कुछ गीतों को गीति एवं संगीत नाटक भी कहा जाता है तथा गीतों का प्रयोग कथोपकथन के रूप में भी किया गया है किंतु इतना स्पष्ट है कि गीत द्वारा मानव–हृदय के भावोद्गार सरलता और स्वाभाविकता से अभिव्यक्त होकर अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं । उसमें सन्निहित स्वर–लहरी के कारण जन- मानस तुरंत ही न केवल आनन्द का अनुभव करता है अपितु उससे प्रभावित भी होता है । यहां के नाट्य साहित्य में प्रयुक्त गीतों से कथा प्रवाह में तीव्रता तो आती

---

[66]मलयगंधिनी,जगत् प्रकाश मल्ल,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,पटना,पृ सं - 46-47

[67]मैथिली नाटक का उद्भव और विकास,डॉ प्रतापनारायण झा,महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय,बडौदा,1973 पृ सं-109

ही है, साथ ही तत्कालीन वातावरण की भी विवृत्ति होती है । अतएव ये गीत अत्यंत स्वाभाविक और उपयुक्त हैं ।

संवादों में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग हुआ है जो सरल, चुस्त और बोलचाल की भाषा में हैं । इनकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनमें कथा और भाव का समुचित निर्वाह, उत्सुकता की वृद्धि, नाटकीयता आदि का सुंदर रीति से समावेश हुआ है । कथोपकथन में व्यंजना शक्ति का अभाव अवश्य रहा है किंतु उसकी पूर्ति प्रसंगानुकूल भाषा के प्रसाद, ओज, माधुर्य गुणों का सम्यक् व्यवहार तथा उसकी सहज प्रवाहमयता से हो जाती है ।

कामकन्दला- एहाञे हमरा सञो प्रेम करु।

माधवानल–हे कामकन्दला, स्नेह करब नहि । जञो करिअ तञो रक्त कम्बल समान स्नेह करय चाहिय।[68]

मैथिली नाटकों का सूत्रधार संस्कृत नाटक का ही सूत्रधार प्रतीत होता है-जननाटकों का व्यास,तटस्थ या भागवत नहीं । कथा–प्रसंगों के तारतम्य का निर्वाह सूत्रधार नहीं बल्कि विभिन्न वाद्यकार करते रहते हैं । सूत्रधार तो नटी के साथ मुख्याभिनय की साज-सज्जा के लिये और फिर रंगमंच के नायक–नायिका के अभिनयार्थ प्रस्थान करता है । अतएव वह स्वयं तारतम्य का निर्वाह नहीं करता।

सूत्रधार–हे प्राणवल्ल भे, हमे नल राजाक नेपथ्य करब।

इहाञे दमयन्तीक नेपथ्य करु गए।

---

[68]नलीय नाटक,जगत् प्रकाश,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,पटना,1986 पृं.स.- 56

नटी–नाथ अवश्य।[69]

भाषाःमैथिली नाटकों में प्रधान रूप से संस्कृत और मैथिली भाषा का प्रयोग हुआ है। मैथिली के तत्कालीन एवं आधुनिकतम, दोनों ही रूप नाटकों में प्रयुक्त हुए हैं। कुछ नाटकों में कहीं–कहीं प्राकृत का भी प्रयोग दिखाई देता है। कुछ नाटकों की भाषा शुरू से अंत तक ब्रज बुलि भाषा है। कुछ स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग किया गया है। कालिय मथन, पारिजात हरण, प्रभावती हरण आदि नाटकों की भाषा संपूर्णतःब्रज बुलि ही है। इनमें जयदेव की संस्कृत शैली का प्रभाव भी परिलक्षित होता है जिनमें रंगनिर्देश और अंगविकार आदि का उल्लेख नेवारी भाषा में हुआ है। 'जैमिनीय भरत नाटक' से तथ्य की पुष्टिहोती है प्रस्तुत नाटक में आदि से अंत तक विकारादि के लिए नेवारी में संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है। काम-हे माधव, सत्पुरूष सञो स्नेह जन्मा न्तपर्यंत रहत, एहि संदेह नहि।

माध- हे कामकन्दला, तञो ई व्यवस्था भेल।हमर वचन सुनू।

काम–हे प्राणाधिक प्रियतम, आज्ञा करू[70]।

(ख) कृष्ण–इह उद्दाम ग्वालन हो यगो।या हिमारि बे को एक उपाय करिहो। कहिनी बुझावन खेलन खेले आपुहि मरैगो।

बलभद्र–भाई भले, जोहारे अपन जोरि पीठ चढ़ाय भांडी रवट ताञे ले जाय। आदि[71]

---

[69]वही,पृ.सं. - 44

[70]प्राचीन भाषा नाटक,डॉ दशरथ ओझा,जगदीशचन्द्र माथुर,(माधवानल)नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,1975,पृ.सं - 28

[71]वही(कालियमथन),पृ.सं - 20

(ग) जयन्त–काका, काहे को करो गुमान । हे प्रद्युम्न बड़ो साहस कियो हय । मानुष हो अमरावती आए हो । पानी कहुँ ऊँच न हि चलत हय, नीच को धरत हय । आदि[72]।

हे जगदीश्वर, पानी , कुशासन लीजिए ।मुनीश्वर बैठिए, मुनि राज तुम्हारी बड़ाई । आदि[73]

मैथिली नाटकों में पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान की सूचना, मुद्राएं, रंग–संकेत तथा भाव भंगिमाओं का उल्लेख नेवारी अर्थात् नेपाली भाषा में किया गया है । उदाहरणस्वरूप–

यथा–आकास फेने–आकाश की ओर देखता हुआ ,पत्र चोने–पत्र पढ़ता हुआ, न्हास सलाहा तत या व विचार या यलूमाडा वल्हाय–नाक पर हाथ रखकर भूली बातों को सोचने का अभिनय करता है, तिंपंदु–प्रवेशकर, तिपन युद्ध याचक व कालीना हिने–युद्ध में कालियनाग कृष्ण का पाश में बांध लिया, लाहति न दुदुओं पुयाव वने–दोनों हाथों से स्तन और गुप्तांग ढककर आती है, धोकन नाना रंग नचोने–सभी ने नाना प्रकार से नृत्य किया, आदि ।आदि ।[74]

इससे स्पष्ट होता है कि भक्तिकालीन नाटकों में मैथिली नाट्य साहित्य के अंतर्गत नेवारी भाषा का प्रयोग हुआ है लेकिन इन नाटकों में मैथिली भाषा की ही प्रधानता रहती थी । साथ ही इन नाटकों की मैथिली भाषा अत्यंत प्रांजल, सुगठित और भाव–भार–वाहिनी थी । भक्ति युग के पश्चात् इन नाटकों की विकासावस्था, मधुरिमा और महत्व का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । प्रस्तुत नाटकों में गद्य का प्रयोग भी परिलक्षित है । इन नाटकों द्वारा पद्य-गद्य; दोनों ही रीति का वहन करते हुए नाटककारों ने दरबार के साथ – साथ जन सामान्य

---

[72] वही(परिजातहरण),पृ.सं.- 35

[73]वही(परिजातहरण) पृ.सं - 12-13

[74]मैथिली नाटक का उद्भव और विकास,डॉ प्रतापनारायण झा,महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय,बडौदा,1973 पृ.सं -111

के लिए भी नाट्य रचना की । अतः इनमें अधिकांश बोलचाल एवं जनसाधारण की भाषा का इस्तेमाल किया गया है । रस और प्रसंग के अनुसार भाषा अपने नाटकों में बड़ी अनुकूलता के साथ मंच सँवार लेती है । श्रृंगार रस के अवसर पर यदि भाषा में कोमलता और लालित्य का समावेश होता है तो वीर और रौद्ररस के प्रसंगों में कठोरता और कर्कशता भी आ जाती है । हास्य प्रसंगों की विशेषता थी कि प्रेषकों का हृदय गुदगुदी से भर उठता था।

माधव, ते जिक हुमो हिज नुजाह।।ध्रुं।।

निरदय जनु होउ प्रियतम आज।विफल होय त आजे ईमोर साज।।

विनति मानह, महु मोर पर मसयान । तु अबि नुन रहत हमर परान[75]।।

आलिंगन कर इते हारो नहि देल । एहन अछल मोर कज्से दुर गेल।।

चके वास हि नहिसकय निसिक वियोग। कओ ने विधि सहब मोजेप्रियतम सोग।।

नयन निमेष भेल कलप समान । अब सते जब सखि अपन परान।।

नयन पुतरी दुहु घूमिट रिगेल ।दशम दशाहिदरशनन हि मेल[76]।।

विक्रमादित्य–रे काम सेन, सुन, आइतो हरा के जीति कामकन्दला लय जायब।

काम–रे विक्रमादित्य, एहन गुमान की करै छह, हमर वचन सुनह–विक्रमनृप, आबे न कर गुमान, काम सेन वीर मोहि जान । पाओब एहि खने तो हेंबड़ लाज, रण ते जि फिरिजा हनि जपुर आज।।

---

[75]प्राचीन भाषा नाटक,डॉ दशरथ ओझा,जगदीशचन्द्र माथुर,(माधवानाल),नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली 1975 पृ. सं - 29

[76]वही(मुद्रित कुवलयाश्व),पृ.सं - 22-23

विक्र- रे काम सेन एहन अहंकार जनुक रह । हमर वचन सुनह–नृपति अधम तोहें जनु अधिकाह, कामकन्दला दय रण तेजि जाह । नहिं तञों तोड़ वतो हर दरपे, खगपति समतों हस रषे।।[77]

दर्दुर–रे कृष्णदास !क ओन चतुर्दश विद्या?

कृष्णदास–रे मूर्ख दर्दुर सुनह । परदेकीय, पर स्त्री लाए धर्म विध्वंस करिय, परकीर्ति दूरकरिय, मिथ्या बाजिय, परक निंदा करिय, आत्म प्रशंसा करिय, जुआखे लिय, चोरी करिय, बेंब चिक हु अपने खाई, बाप पुत्र भेद करायिय, पर पै शून्य करिय, कपट साक्षी हो यिय, स्त्री–पुरुष कलह कर बिय । आदि[78]।।

रसमध्ययुगीन समुचित नाटकों में, नाट्य साहित्य के रूप में सभी रसों की अभिव्यक्ति हुई है । श्रृंगार प्रधान कथावस्तु होने पर भी मनःस्थिति को संतुलित रखने के लिए विभिन्न रसों का समावेश देखा जा सकता है जिससे पाठकों और दर्शकों की रूचि सतत् जागृत रहती है । इन नाटकों की रचना भक्ति प्रचार एवं भौतिक श्रृंगार को परिष्कृत करके आध्यात्मिक श्रृंगार की ओर,जन- समूह को उन्मुख करने के ध्येय से ही हुई है जिससे कि श्रृंगार रस को ही अंगीर समाना गया । कई स्थलों पर रसाभास के साथ अनौचित्य और अश्लीलता का भी समावेश दृष्टिगोचर होता है । राधा–कृष्ण तो श्रृंगार के आश्रय हैं ही किंतु अन्य देवों को भी इससे वर्जित नहीं किया गया । अधिकांश नाटकों में कोई भी पात्र जब अपनी प्रियतमा के साथ पहली बार रंगमंच पर प्रवेश करता है तो अपने परिचय के उपरांत वह विश्राम करने की इच्छा प्रकट करते हुए अपनी प्रियतमा से रति दान की याचना करता है ।

---

[77]वही,(माधवानल),पृ.सं -55

[78]वही(माधवानल),पृ.सं - 43

उदाहरणार्थ–

दशरथ की उक्ति–

शशधर वर मुखि हरि न नयने, तु अकुच सिरि फलसी षर दशने।

मदन वेद न प्रिये दूर करु आज, गमने जितल तो हें वारन राज।

अनुगत जने जानि करु अवधान, किसल धरे राषह परान।।[79]

पौराणिक, ऐतिहासिक आख्यान एवं पात्रों के निवेश के कारण चारित्रिक वैविध्य, उनका मनोवैज्ञानिक विकास व विश्लेषण का अभाव दिखाई देता है । सभी पात्र एक ही ढ़ाँचे में ढ़ले हुए हैं और एक निश्चित रूपरेखा के अंतर्गत रहकर ही उन्हें अपना नाट्य कर्म करना पड़ता है । नायक धीरललित ही हुआ करता है । प्रतिनायक एवं विरोधी तत्वों के अभाव में,आंतरिक और बाह्य संघर्ष इन नाटकों में परिलक्षित नहीं होता । साथ ही चरित्रगत एकरूपताके कारण कथानक समान गति से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है । गतिशीलता की अनुपस्थिति के कारण, इन नाटकों में कार्य की गूढ़ता या नाटकीय व्यंग्य और उत्सुकता का भी निर्वाह नहीं हुआ है । इन सबकी पूर्ति श्रृंगारिक वर्णनों से ही करने का प्रयास किया गया है । इन सब बातों के रहते हुए भी समसामयिक वातावरण के परिपार्श्व में इनका अभाव नहीं खटकता है ।

तत्कालीन धार्मिक पृष्ठभूमि की ओर ध्यान केंद्रित किया जाए तो यह ज्ञात होता है कि मध्यकालीन नाट्य परंपरा में हिंदू धर्म के रक्षण,संस्कृत एवं शास्त्रीय ज्ञानार्जन के केंद्र के रूप में

---

[79]वही(रामायण नाटक),पृ.सं -8

प्रख्यात थी । इस समय यहां तांत्रिक पद्धति एवं विश्वास के आधार पर शिव,शक्ति और विष्णु की उपासना प्रचलित थी । साथ ही, भक्ति-आंदोलन एवं भागवत धर्म का प्रचार तथा जयदेव, उमापति और विद्यापति द्वारा प्रवर्तित राधाकृष्ण की विभिन्न लीला-विषयक, सरस पदों के माध्यम से, भक्ति-भावना ने जन-जीवन के भावनात्मक तारों को झंकृत किया । इससे वैष्णव धर्म भी शिव-शक्ति की उपासना की धारा में समान रूप से प्रवाहित होने लगा । इस समय के बाद से जन-जीवन के प्रत्येक प्रसंग पर शक्ति की प्रधानता के साथ,त्रिमूर्तियों की वंदना आवश्यक समझी जाने लगी । उपर्युक्त धार्मिक परिस्थितियों के निकटवर्ती तत्कालीन नाट्यकारों ने, अपनी कृतियों के कथानकों में, विभिन्न देवों का अनुकीर्तन किया है किंतु प्रायः सभी नाटकों में, सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप में, शक्ति की ही वंदना की गई । प्रत्येक दिशा में धर्म की रक्षा आवश्यक समझकर समकालीन भक्त कवियों एवं मनीषियों ने, अपनी कृतियों द्वारा जन-सामान्य में, भक्ति भावना जागृत करना प्रारंभ किया । यही कारण है कि समस्त देश के भक्तिकालीन साहित्य में भक्ति भावना के कारण एक सूत्रात्मकता पायी जाती है । अतः साहित्यकारों ने कृष्ण एवं शिव-शक्ति की विभिन्न लीलाओं के अनुकीर्तन से भक्ति-भावना का प्रचार किया । इन चरितों को नाट्य रूप देने का कारण यह था किये रंगमंच पर प्रस्तुत होकर एक साथ ही,चाक्षुष प्रत्यक्ष और हृदयानुभूति के माध्यम से जन-मानस पर गहरा एवं अमिट प्रभाव उत्पन्न करते थे । इसके मुख्य उदाहरण कीर्तनियां नाटक हैं जिसमें लोकधर्मी नाट्य - तत्त्वों का प्रयोग करके जन-साधारण के हृदय में वास कर जाते थे । नाटककारों का प्रधान उद्देश्य संगीत और नृत्य द्वारा ईश्वरार्चन से आत्म-संतुष्टि की अनुभूति तथा जन-हृदयों में धार्मिक भाव को उद्‌बुद्ध करना था इसलिए दृश्य-विधान, रंग निर्देश, पंचकार्यावस्था, संधियाँ, अर्थ प्रकृति का

निर्वाह, नाटकीय कौतूहल एवं चरित्र के मनोवैज्ञानिक विकास आदि तथ्यों पर ध्यान केंद्रित नहीं किया जाता था। केवल लोकप्रियता और मनोरंजनकारी रूप को बल दिया जाता था। समकालीन रंगमंचीय एवं अन्य विषम परिस्थितियों के रहने पर भी कीर्तिनियां नाट्य-साहित्य ने सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसके समक्ष एक आदर्श की स्थापना की जो कि मध्यकालीन नाट्य साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सफलता है।

राजनीतिक ऊहा पोह की स्थिति में रंगमंच की परंपरा विनष्ट हो चुकी थी और राज्याश्रय के अभाव में उसका पुनरुद्धार भी संभव नहीं था। अतः कीर्तनियां-नाट्य-मंडली खुले मैदान में आवश्यकता के अनुसार 'चौकी' का रंगमंच बनाकर अभिनय प्रस्तुत किया करती थी जिसका अवशिष्ट रूप इस युग में भी विद्यमान है। बाद में इन्हीं नाटकों के आधार पर भक्तिकाल में रंगमंच का सहज विकास हुआ और उसमें एक नवजीवन भी आ गया। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि उस समय कुशल और निपुण अभिनेताओं का भी नितांत अभाव था। कृष्ण कान्त मिश्र के अनुसार अभिनेता की विशेषता यह है कि वह 'मान','नचारी','तीरहुति'आदि गास के और रंगमंच पर संकेत आदि करने की क्रिया जानता हो[80]किंतु किसी पात्र विशेष का सजीव चित्रण या अभिनय इनकी शक्ति से परे का कार्य था। सामाजिकों को इन प्रसंगों का ज्ञान परंपरा से रहता ही था या कभी-कभी वे अनुमान से भी समझ लिया करते थे। भाव और काव्य; दोनों हृदय की वस्तुएं हैं इसलिए नाटककारों ने जन-हृदय को स्पर्श करने के लिए अपने नाटकों में सरस एवं सरल गीतों को शामिल किया। इन बातों से स्पष्ट होता है कि इस समय नाट्यकारों को रंगमंच, अभिनेता,विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं उनकी रुचियों को दृष्टि में रखकर ही अपनी रचना प्रस्तुत करनी पड़ती थी। कीर्तनियां नाटकों की रचना समकालीन विभिन्न परिस्थितियों एवं जन-रूचियों को ध्यान में

---

[80]मैथिली साहित्यिक इतिहास,कृष्णकान्त मिश्र,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,पटना,1966 पृ.सं-182

रखकर प्रस्तुत की गयी थी । इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन शास्त्रीय नाट्य-शैली के प्रतिमोह तथा जन-नाट्य-शैली की लोकप्रियता की द्विधा के कारण इन नाटकों में दोनों प्रकार की शैलियों का अद्‌भुत समन्वय हुआ है । नांदी,प्रस्तावना,भरत वाक्य आदि में शास्त्रीय शैली का अनुकरण किया गया है । नांदी के अंत में सूत्रधार 'अल मतिविस्तेरण' कहता हुआ रंगमंच पर प्रवेश करता है और फिर नाटककार, नाटक का नाम,विषय-वस्तु तथा आश्रयदाता का वर्णन प्रस्तुत करता है । जिस अवसर विशेष पर उस नाटक के अभिनय का आयोजन किया गया है, उसकी सूचना दर्शकों को देता हुआ वह अपनी प्रियतमा अथवा विदूषक को बुलाकर अभिनय संबंधी बातें करने लगता है । कभी-कभी इनके वार्तालाप से नाटक का प्रारंभ भी हो जाता है।

प्रत्येक पात्र के प्रवेश पर 'प्रवेशगीत' द्वारा आगमन की सूचना दर्शकों को दे दी जाती है । उस गीत से संबंधित पात्र का पूर्ण परिचय–वेशभूषा,अंग-विन्यास,मनोभाव,चरित्रगत विशेषता, व्यक्तित्व एवं प्रसंगोपयुक्त वृत्ति प्रस्तुत किया जाता है । इस विशेषता से यह प्रकट होता है कि ये प्रवेश गीत आधुनिक नाटकों के सदृश रंगनिर्देश का कार्य संपादित करते हैं । साधारणतः जन नाटकों में,'भागवत', 'व्यास' या 'तटस्थ' सामाजिकों के समक्ष कथा के तारतम्य का निर्वाह तथा अन्य सूचना प्रस्तुत करता रहता है । इस आधार पर इन नाटकों के सूत्रधार को वही स्थान देकर कुछ विद्वानों ने यह मंतव्य व्यक्त किया है किये विभिन्न प्रकार के गीत सूत्रधार के द्वारा ही गाये जाते हैं।

वैष्णव भक्ति-प्रसार हेतु भक्ति विषयक भक्तिकालीन नाटकों में लीलानाटकों का विशिष्ट स्थान था । विभिन्न पुराणों और वेदों में प्रचलित कथा के आधार पर कथात्मक और गीतात्मक काव्य-रचना की जाती थी । इन कथाओं को लीलाओं के माध्यम से जनता तक पहुंचाया जाता था । यही वह कारण था जिसने भक्ति युग में हुई काव्य रचनाओं को रंगमंचीयता के अनुकूल

बनाया और भक्ति को भक्ति - आंदोलन के रूप में प्रतिस्थापित किया। 'यह ठीक है कि इन मध्ययुगीन रचनाओं का स्पष्ट नाटकीय रूप नहीं है पर यह पता चलता है कि मध्ययुग में कथात्मक साहित्य और नाटकीय साहित्य में बड़ी सूक्ष्म विभाजन की रेखा थी। वास्तव में कथात्मक काव्य को बड़ी ही सरलता के साथ नाटक में परिणत किया जा सकता था। विशेषकर ऐसे समय में जब पंद्रहवीं–सोलहवीं शताब्दियों के सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने कला के प्रत्येक क्षेत्र को नवोन्मेष से भर दिया था और उन दिनों नाटक को एक प्रकार का औपचारिक स्वरूप देने का प्रयास मंदिरों में होने लगा था। इसी नाट्योन्मेष ने लीला नाटकों–रामलीला और रासलीला– का विकास किया जो चार सौ वर्षों की अपनी अखंड परंपरा में जीवंत है। रामलीला की तो कई क्षेत्रीय शैलियां हैं। लीलानाटक हिंदी लोकनाटक के सबसे समृद्ध और प्रतिनिधि रूप हैं।'[81] भक्ति युग में नाटकों का भरण–पोषण मंदिरों में हुआ। मंदिरों में विकसित होने के कारण लीलानाटकों में ऐसे गुणों का समावेश हुआ कि इन नाट्य–रूपों के ऐसी ओजस्विता और मोहकता मिली। ये अन्य नाट्य–रूपों में दुर्लभ हैं। 'तल्लीन कर देने वाला भक्ति संगीत, मंदिर की भव्य पृष्ठभूमि,श्रद्धालु दर्शक–समाज आदि कुछ ऐसे ही विशिष्ट गुण लीलानाटकों में है।'[82] भक्ति मार्ग को और अधिक प्रशस्त करने के लिए लीलानाटक मंदिर क्षेत्र को छोड़कर,भव्य शोभा यात्रा के नाटकों के रूप में बाहर आने लगे जिससे इस नाटक ने जनता के समस्त कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन को अपने में समेट लिया। जनता के बीच नाटक का प्रचार एवं प्रसार होने लगा। इससे कवियों की रचनाओं में भी नाटक और नाट्य संबंधित रूपकों का कथावर्णन काव्य ग्रंथों में परिलक्षित होने लगा। मोहम्मद जायसी की काव्य रचना 'पद्मावत्' में कथावर्णन, नृत्य,

---

[81]हे सामाजिक,सुरेश अवस्थी,राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय,बहावलपुर हाउस,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण-2000 पृ. सं. - 64

[82]वही,पृ. सं. - 64

जादू के खेल, कठपुतली के नाच, स्वर–संगीत, नाटक–तमाशा, नटों के खेल आदि में जन साधारण के नाट्यात्मक मनोविनोदों का वर्णन मिलता है।

हिंदी साहित्य के अनुसंधित्सुओं और इतिहासकारों ने मध्यकालीन हिंदी नाट्य साहित्य का बड़ा अकिंचन ब्यौरा दिया है। उन्हें इस कलावधि में नाम मात्र के ही नाटक दिखाई पड़े। मध्यकाल की रंगमंच परंपरा मुख्य रूप से मौखिक हो गई थी और उसके पाठों का लेखन नहीं के बराबर हुआ। जो थोड़े से हिंदी के मध्यकालीन नाटक लिखे गए उन्हें भी साहित्यिक इतिहासकार और आलोचक पहचान न सके क्योंकि एक तो इनके पास अपनी कोई रंगदृष्टि न थी,दूसरे पश्चिम के तत्कालीन गद्य नाटकों को ही एक मात्र वास्तविक नाट्य रूप मान बैठे थे। फलस्वरूप प्रबंधात्मक पद्य शैली में उपलब्ध नाट्यकृतियाँ उपेक्षित रह गईं। अब लोकनाट्यों के प्रति गंभीर सजगता के कारण इन कृतियों का भी उद्धार होना आरंभ हो गया है।

काशी के मध्यकालीन रंग परिवेश में भी ऐसे नाटकों की परंपरा थी। इसका एक प्रमाण लछीराम कृष्ण जीवन कृत 'करूणा भरण नाटक' से मिलता है। काशी के कवींद्राचार्य सरस्वती ने उनके नाटक की परीक्षा ली थी। यह घटना संभवतः 17वीं शती के प्रथम चरण की है। इस परीक्षा का उल्लेख स्वयं कवि ने किया है -

लछीराम प्रभु इहि विधि कही। सुधि बुधि सुन तन काहू रही।।

तँह कविंद्र सुरसति संन्यासी। पंडित ग्यांनी कासी वासी।।

शास्त्र वेदपुराण व षांणै। अर्थ उपनिषद् अनु भै जाँनै।।

कृष्ण कथा जिननी कै सुनी। प्रश्न करीति न ग्यांनी गुनी।।[83]

---

[83]करुणाभरण नाटक,लछीराम,संपादक योगेन्द्र सिंह,हिंदी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग,प्रथम संस्करण 1967 ई.,पृ. सं.- 101

X----------X----------X

यों कविंद्र सरसती रिझाए । गाए वचन वेद के भाए।।

जब कविंद्र यूं लई परिक्ष्या । तब जानी सतगुरू की सिछच्या।।[84]

इस नाटक का अभिनय भी हुआ है–

लछीराम नाटक कह्यो, दी नौं गुनि नु पढ़ाय।।

भेष रेष नर्तन निपुन, लीनो नरनि सधाय।।

सुहद मंडली जोरि कै, की नों बड़ो समाज।।

जो उनि नाच्यों सो कह्यों, कविता मैं सुख साज।।[85]

सूर्य ग्रहण के अवसर पर कृष्ण स परिकर कुरुक्षेत्र स्नान करने जाते हैं । वहीं नंद, यशोदा, राधा और सब ग्वाल–ग्वालिनें भी आई है । उनके मिलन की मार्मिक गाथा इस नाटक का विषय वस्तु है जिसे कवि ने दोहे चौपाइयों में प्रस्तुत किया है । इसकी भाषा ब्रज है । इस मध्यकालीन परंपरा के दो और नाटक 19वीं शती ईस्वी में काशी में लिखे गए । भारतेन्दु के पिता गोपाल चन्द्र,उपनाम गिरधरदास द्वारा रचित 'नहुष' (1857) और काशी राज के दरबारी कवि गणेश कृत 'प्रद्युम्नविजय' (1864) - यद्यपि इन दोनों नाटकों की रचना आधुनिक रंग आंदोलन की प्रेरणा से हुई तथापि इनमें आधुनिकता नहीं है । ये पद्य बद्ध ब्रज भाषा में है । कहीं-कहीं ब्रजी गद्य का भी प्रयोग हुआ है । इन दोनों नाट्य रचनाओं ने अपनी नाट्य शैली में शास्त्रीय परंपरा से

---

[84]वहीं,पृ.सं. - 107

[85]वही पृ सं- 108

पूर्णतया आबद्ध रखना चाहा परंतु इन नाटकों में दिये गये रंग संकेत आधुनिक प्रभाव की सूचना देते हैं। शायद इसलिए इन्हें आधुनिक हिंदी नाटक के रूप में स्वीकृत किया गया।

हिंदी रंगमंच : 12वीं शती तक भक्ति आंदोलन के समय हिंदी नाटकों में जन-भाषा का प्रयोग आरंभ हो गया था किंतु इससे पहले कि सहज गति से कोई रंग क्रिया शुरू होती तब तक इस्लामी बर्बर आक्रमण ने बिल्कुल तस्वीर ही बदल दी। इस्लामी संस्कृति रंग प्रयोग के सर्वथा विरूद्ध थी। आक्रमण और शासन के प्रारंभिक दौर में रंग कला बिल्कुल सुप्त प्राय हो गई लेकिन इसने फिर धीरे–धीरे परिस्थिति के अनूकूल अपने को ढ़ालकर अस्तित्व–रक्षा का प्रयास शुरू कर दिया।

इस्लामी संस्कृति के आगमन के कारण 'बहुत से रंगजीवी सुदूर ग्रामीण अंचलों में चले गये और पहले से चली आ रही लोकनाट्यों की परंपरा में घुलमिल कर, उसी प्रकार के रंगप्रयोंगों से अपने को संबद्ध कर लिया'।[86] इस तरह ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था में उनकी जीविका का प्रबंध हो गया। सो पेशेवर रंगजीवी जातियों का उल्लेख मध्यकालीन साहित्य से प्राप्त होता है। 'सभा–श्रृंगार में इस तरह इन जातियों का उल्लेख है – भगत, भेश घर, नट, विट और रंगाचार्य।'[87] इनके अतिरिक्त परंपरागत जन नाट्यों का उल्लेख मिलता है। उनका अभिनय इन्हीं जातियों के रंगजीवी किया करते थे। भक्तिकालीन जननाट्य परंपरा का एक दुर्लभ चित्र 18वीं शती में 'मीर रुस्तम अली की होली'[88] दिखाई पड़ता है। इन चित्र में, इन जातियों के कई स्त्री–पुरुष दिखाई पड़ते हैं। गंधव और कथक जातियों के काफी लोग तो अब भी यहाँ निवास करते हैं।

---

[86]काशी का रंगपरिवेश,कुंवरजी अग्रवाल,विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी,प्रथम संस्करण -1986पृ. सं. 16

[87]अगरचंद नाहटा नागरी प्रचारिणी सभा,काशी,प्रथम संस्करण 1955 पृ. सं - 147

[88]मीर रूस्तमअली के चित्र,चित्र संख्या -3

अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए बहुत से रंगजीवी मुसलमान भी हो गये। मुसलमानों की धार्मिक भावना को आघात पहुँचाये बिना उनका मनोरंजन करने में विशेष सफलता 'भांड' (भाण नहीं) नामक परंपरित अभिनय प्रणाली को मिली जिसमें निम्नस्तर का हास्य होता था। शासकों का प्रोत्साहन मिलने के कारण इसका विशेष विकास हुआ। विधा के आधार पर इसके प्रदर्शनकारी रंगजीवी भी भांड या भाँड कहलाते थे। ये अधिकतर मुसलमान हो गये थे। धीरे–धीरे दरबारों में इन्हें काफी महत्व भी मिलने लगा था। 'तारीखे फीरोजशाही' के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र मुबारक शाह ने तोबा नामक एक गुजराती भाँड को अपने दरबार में बड़ा सम्मान प्रदान किया था। वह भाँड दरबार में निर्वस्त्र ही घुस आता था, बड़े–बड़े सरदारों के वस्त्र पर मल-मूत्र त्याग देता था और बुरी–बुरी गालियाँ दिया करता था।[89] मध्यकाल में तो यह रंग रूप इतना लोकप्रिय हो उठा था कि बनारसी दास जैन जैसे उच्च व्यापारी–कुल के साहित्यकार ने भी यह कला सीखी थी–

मुख अवद्य भाष तनल जाइ। सीखे भंड कला मन लाइ।।654।।

भाखै अकथ कथा विरतंत। ठानै नृत्य पाइ एकंत।

अनदेखी अनसुनी बनाइ।कु कथा क है सभा मंह आइ।। 655 ।।

होइ निमग्न हास रस पाइ। मृषा वाद बिनु रहान जाइ।।[90]

काशी में इन भाँडों की परंपरा मध्यकाल से आज तक चली आ रही है। यद्यपि आज इसमें बहुत परिवर्तन हो गए हैं। रूपस कृत 'हास्यार्णव' में भाँडों के मध्यकालीन नाट्य रूप की कुछ सामग्री सुरक्षित है।

---

[89]रूद्र काशिकेय द्वारा संपादित,सत्यहरिश्चंद्र में उद्धृत,नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

[90]अर्धकथानक,बनारसीदास जैन,संपादक - नाथूराम प्रेमी,ग्रंथ रत्नाकर (प्रा.) हिंदी लि.,बंबई पृ.सं 73

हिंदी साहित्य के इतिहास में मध्यकालीन देशी भाषा-नाटकों की ओर ध्यान आकृष्ट करना अपरिहार्य है। उत्तर भारत में, 14वीं से 18वीं शताब्दियों में भाषा- रंगमंच की परंपरा पुष्पित हुई। भागवत धर्म और भक्ति सिद्धांतों की प्रेरणा से गेय पदों द्वारा जनमानस का अनुरंजन होने लगा। ब्रजमंडल, गौड़ (बंगाल) , उड़ीसा में गेय पद और कीर्तन ही परवर्ती साहित्य की आधार शिला बने। भारतवर्ष के पूर्व–मध्यकालीन समाज में रंगमंच–प्रदर्शन की जिस नई विधा का 'संगीतक' के नाम से उदय और प्रचार हुआ उसी का संयोजित रूप था ये भाषा नाटक। संगीतक को साहित्यिक स्वरूप देने का श्रेय उमापति उपाध्याय, शंकरदेव, विद्यापति, माधव देव इत्यादि नाटककारों को जाता है क्योंकि उन्होंने संवाद सहित इस प्रदर्शन–मूल विधा की कल्पना की। उन्होंने उसे संगीत प्रस्तुतीकरण के दायरे से बाहर निकालकर काव्य के प्रमुख तत्वों के लिए वाहन बनाया। यों 14वीं,15वीं और 16वीं शताब्दियों में,लगभग सारे भारत वर्ष में संगीतक शैली की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। जयदेवके 'गीतगोविंद' की लोकप्रियता से प्रभावित होकर विभिन्न क्षेत्रों के कवियों ने 'दृश्य प्रबंधों' की रचनाएं कीं। केरल में कृष्णाट्टम, आंध्र और तमिलनाडु में भागवतमेला तथा वीथि नाटकम्, ब्रज क्षेत्र में रास पद तथा बंगाल में लीला कीर्तन–ये सब उसी धारा के अंग थे[91]।

संस्कृत काल की नाट्य रचनाओं में संस्कृत परंपरा के तत्वों का प्रयोग परिलक्षित होता है। इन नाटकों में भरतमुनि के अनुसार, प्रयोजन के आधार पर विषय-वस्तु का चयन किया जाता था। संस्कृत नाटकों की भांति ही राजाओं, अभिजात और कुलीन व्यक्तियों का मनोरंजन रस

[91]हिस्टोरिकल डिवेलपमेंट ऑफ इंडियन म्यूजिक,स्वामी प्रज्ञानंद,पृ.सं -06,वृंदावन से लौटने के बाद सन् 1582 के आस पास नरोत्तम ठाकुर नामक वैष्णव संत ने राजशाही जिले के खेतरी नामक स्थान में प्रबंध शैली में लीलाकीर्तन की रचना की और उसे प्रदर्शित किया।

मर्मज्ञता पर आधारित कथानक पर मंचन किया जाता था । नाटक और रंगमंच के विषय में ज्ञातव्य है एक तो यह कि नाटक सोद्देश्य काव्य है (स्वांतःसुखाय काव्य नहीं) और दूसरी यह कि नाटकों में विविध प्रवृत्तियों के व्यक्तियों के लिए उपयुक्त सामग्री होनी चाहिए । इन दोनों धारणाओं में थोड़ा विरोधाभास है यदि नाना वृत्तियों के अनुकूल परिस्थितियों और आचरण का प्रदर्शन इस तरह से किया जाए कि विभिन्न प्रकार के लोगों की तुष्टि हो सके तो विचारधारा में तटस्थता अनिवार्य है । ऐसे में किसी उद्देश्य विशेष से किसी प्रकार के संदेश और मत स्थापन पर जोर नहीं डाला जा सकता । संस्कृत नाटककारों ने इस विरोधाभास का निवारण नाटकों के अंत में मंगल-समावर्तन द्वारा किया । जगत का कल्याण, शुभ और शांति का विस्तार इसी ध्वनि के साथ नाटक की समाप्ति होती और यही मंगल कामना नाटक का उद्देश्य समझी जाती । नाटक के प्रधान कलेवर में किसी प्रकार के मत–स्थापना की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी । यही कारण है कि प्रायः संस्कृत नाटकों में विचार तत्व, अध्यात्म–विश्लेण और जीवन दर्शन का अभाव–सा प्रतीत होता है । इसके दो अपवाद हैं–एक तो अश्वघोष के नाटक और दूसरा कृष्ण मिश्र का 'प्रंबोधचंद्रोदय'।अश्वघोष ने ब्राह्मणों के जातिवाद की आलोचना, बुद्ध की महिमा और बौद्ध सिद्धांतों के प्रतिपादनार्थ नाटक रचे । अश्वघोष के लगभग 1000 वर्ष के बाद 1040 ई. के आसपास कृष्णमिश्र ने वैष्णव अद्वैतवाद के समर्थन के लिए 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक को माध्यम बनाया किंतु इस बीच भास से लेकर राजशेखर तक जितने नाटककार हुए उन्होंने अपनी रचनाओं में जनकल्याण और मंगल भावना को ही अपना उद्देश्य रखा,सिद्धांत विशेष का विवेचन अथवा दर्शकों को धर्म विशेष में प्रेरित करने की चेष्टा नहीं की[92]।

मध्ययुगीन भाषा–नाटक विषय-वस्तु और प्रयोजन की दृष्टि से दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं- एक तो राज्याश्रयी नाटक और दूसरे वैष्णव नाटक । पहला वर्ग संस्कृत नाटकों की व्यापक

---

[92]प्राचीन भाषा नाटक,जगदीश चन्द्र माथुर,डॉ दशरथ ओझा,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,संस्करण1975 पृ. सं -51

धारा–जीवन रसमूलक परंपरा में पड़ता है और दूसरा अश्वघोष–कृष्णमिश्र की जीवन दर्शन मूलक परंपरा में । पहले में उमापति उपाध्याय के 'पारिजातहरण' ज्योतिश्वर ठाकुर के 'धूर्तसमागम' का भाषा रूपांतर, कपिलेन्द्र के परशुराम व्यायोग का अंश, नेपाल और मिथिला में 17वीं - 18वीं शताब्दी में रचे गये अनेक नाटकों की गणना हो सकती है । दूसरे वर्ग में रचे गये समय सार, करूणाभरण,हनुमन्नाटक इत्यादि भक्ति संप्रदाय प्रधान हिंदी नाटक भी हैं । राज्याश्रयी नाटकों के प्रयोजन और विषय-वस्तु में अधिकतर राम और कृष्ण के उपाख्यानों का उपयोग किया गया है । इन नाटकों में वैष्णव नाटक भी हैं । इन नाटकों में कृष्ण के चरित्र को रसिक, पुरुषार्थी, प्रेमी और शूरवीर के रूप में वर्णित किया गया है । उदाहरणस्वरूप-उमापति ने 'पारिजातहरण' श्रीकृष्ण के रंगशाला में प्रथम प्रवेश पर उनके अवतारी पुरूष होने की घोषणा की है–

भूमि कभार उतार बतारब लोक ।

धरम धरातल था प बहरब साधु जन सोक।।

कृष्ण के इस रूप का वर्णन केवल घोषणा रूप में किया गया है । शेष नाटक में कृष्ण का दूसरा ही स्वरूप निखरता है । द्वारकाधीश (जो ब्राह्मण नारद की अभ्यर्थ ना करते हैं)अपनी पटरानी को पारिजात पुष्प अर्पित करते हैं । अपनी प्रिया सत्यभामा के कोप से भयभीत होते हैं–

प्रिये प्रसीद । मानिन–

अरून पुरुव दिसि बहलि सगरि निसि गगन भे ल चंदा।

मुनि गेलि कुमुदि नित इओ तोहर धनि मूनल मूख अरबिंदा। मानिनि–

अवगुन परि हरि हेरुध निमानबअबधि बिहाने।

वही कृष्ण धनंजय की सहायता से पारिजात वृक्ष को उखाड़कर अपने शौर्य का परिचय देते हैं–

पारिजात तरु गरुड़ चड़ा ओल हरिकर–कमल उपारी।

यह एक ललित धीर नायक का चित्र है, न कि भगवान के सकल जन पालक स्वरूप का।

इसी प्रसंग पर शंकरदेव के नाटक पारिजातहरण में नाटककार बार–बार श्रीकृष्ण के भक्त वत्सल स्वरूप की याद दिलाता है । जब कृष्ण नारद की अभ्यर्थना करते हैं तो नारद कहते हैं कि-

हे स्वामी कृष्ण मनुष्य चेष्टा देखावा सब लोक मोहिछ?

भरनो दिस दस तुया जय गाया।

हा माकु आगु कर सि ओहि माया?

जगत उद्धार जाहेर चरित्र ।

ताहे कहा मुकय लु पवित्र ?

जाहेरि नामे मुकुति–पद पाइ।

सोहरि कर स्तुति–नति कति लाइ।

तु हुं जगत गुरुदेव क देवा।

तोहारि चरनेर होक सेवा।

भागवत में श्रीकृष्ण के द्वारा भौ मासुर (नरकासुर) के वध की कथा को शंकरदेव ने 'पारिजातहरण' के प्रसंग में इसीलिए जोड़ा ताकि व सुमति द्वारा कृष्ण के लोकोत्तर स्वरूप की वंदना हो सके–

हे स्वामि श्रीकृष्ण, कोटि–कोटि ब्रह्माण्डेश्वर, परम पुरूष पुरुषोत्तम, तु हुं जगतक गुरू।

नरकासुर से अदिति का कुंडल छीन कृष्ण जब कुंडल अदिति को देते हैं तब भी भगवान की स्तुति का अवसर मिल जाता है–

जय–जय जगत निवा सा, जय–जय असुर बिना सा जय छेदक भव पासा।

जय–जय पुरल मन काम, जय भवता रेक नाम

कर करु ना जदुराइ, ले हों सरन तो हा पाइ।

परम पुरुष करु वाना, तु या बिने गति नाहि आना।

जब सत्यभामा पारिजात वृक्ष को अपने घर में रोपे जाने के बाद रुक्मिणी को ताना देती है तब रुक्मिणी का उत्तर भी भक्ति भावना का चरमोत्कर्ष है ।

'अरे भगिनि सत्यभामा ! कि कहै छ? जगत क परम गुरू श्री कृष्ण । उन कर चरन सेवा करि ते ब्रह्माण्ड भीतरे को नो दुर्ल्लभ थी क ? धर्म, अर्थ काम,मोक्ष चारिप दारथ हाथे मिलाये । तो हारि पारिजात कौन कथा ?'

ओहि अरुन पद–पंकज धिया इ।

मनोरथ चारि पदार थ पाइ।

लगभग सभी वैष्णव भाषा–नाटकों में बार–बार सूत्रधार दर्शक समाज को स्मरण कराता है कि जो कुछ वे देख रहे हैं वह परम पुरुषोत्तम भगवान की मानवीय लीला है । बार–बार नाटककार ऐसे अवसर खोजता है जहां भगवान के भक्त वत्सल, सर्व शक्तिमान और कृपालु स्वरूप की

स्तुति की जा सके । 'केलिगोपालनाट' में (जो भागवत के महारास–प्रसंग का नाटकी करण है) सूत्रधार कहता है कि–

भो सभा सद साधु जन सब, जे सकल सुरा सुर बंदित पाद पद्म, सकल संसार जा हेरिस्त्र जना, जाहेरि नामे महा महा पापी सब संसार निरस्तरे, सोहि परमेश्वर श्री गोपाल सकल–गोपी जन सहित ओहिस भामध्ये, परम कौतुके नृत्य करब, ताहे सावधानि देख हुसुन हहरि बोल हरि।

आगे के प्रसंगों में कृष्ण द्वारा गोपियों के साथ की गई काम क्रीड़ा को भी भक्ति की गरिमा का रूप दिया गया है ।

आहे लोकाइ पेखो–पेखो जाहेर चरन ब्रह्मा रुद्रा दिध्या ने धरय, सोहि परमेश्वर अज्ञानी अनाचारी गोप नारि से सब सहित, काम के लिकय थिक, हरि भकति क ऐस न महिमा । इहा जान हरि बोल हरि।

भुवन भुलाइ आनं दे गोबिंद नाचे।

प्रभु नाचत चरन चलाइ।

रुक्मिणी - हरण नाटक में रुक्मिणी वेद निधि ब्राह्मण के पास जब कृष्ण के प्रति प्रेम प्रकट करती है तो उसकी वाणी में विरहिणी नायिका के हृदय का उतना स्पंदन नहीं है जितना एक दीन अतिदीन भक्त–हृदय का–

केसव हे हामकेरि राखबि प्रान।

निजकिं करिक जीवन देहु दान।।

विपद पयोनिधि परलु मुरारु।

दीन बांध व देव उद्धार हामारु।।

वैष्णव और राज्याश्रयी भाषा नाटकों के कथानक का स्रोत एक होने पर भी राज्याश्रयी नाटकों में महल और वैष्णव नाटकों में लीलास्थली देवालय हुआ करते थे। 'वैष्णव नाटक भगवान की लीलाओं का प्रदर्शन है, भगवान की स्तुति का माध्यम है राज्याश्रयी नाटक पुरुषार्थी जीवन, धर्म, अर्थ और काम से प्रेरित आचरण का अवलोकन है। पुराणों और महाभारत–रामायण से राज्याश्रयी नाटककार ने प्रतापी, रसिक और उदात्त चरितवान पात्रों को लिया। ऐसे रोचक प्रसंगों को लिया जिनमें रसनिष्पत्ति हो सके पर वैष्णव नाटककारों ने श्रीमद्भागवत से लिए गये उन्हीं पात्रों और प्रसंगों को भगवद्भक्ति का माध्यम बनाया।'[93]

श्रीकृष्ण के वृत्त के प्रति 15वीं शताब्दी में उत्तरी भारत के कवियों और नाटककारों में आमूल परिवर्तन हो चला। कृष्ण भागवत धर्म का विकास होने से गुप्त युग में कृष्ण के गोपालस्वरूप को स्वीकार कर लिया गया था। गुप्त युग के कुछ वर्षों के तदुपरांत कृष्ण के उपाख्यान की जन-मनोरंजन, कला और साहित्य में गहरी पैठ होती गई। जयदेव के 'गीतगोविंद' में (सन्1200 ई. के लगभग) चंडीदास के श्रीकृष्ण–कीर्तन (संवत् 1300 के आसपास) और विद्यापति की पदावली में कृष्णोपाख्यान का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है किंतु जो कृष्णचरित इन रचनाओं में प्रदर्शित है उसमें और 15वीं शताब्दी के बाद वैष्णव परंपरा के कवियों, संतों की वाणी,रचनाओं में वर्णित और अभिनंदित कृष्ण चरित में बहुत अंतर है। यही अंतर हमें राज्याश्रयी और वैष्णव भाषा-नाटकों के बीच में दिखाई पड़ता है। इस विषय पर डॉ. सुकुमार सेन का विवेचन[94] प्रासंगिक है। चंडीदास ने जिस कृष्ण को अपने काव्य में चित्रित

---

[93]वही,पृ.सं.-54

[94]ए हिस्ट्री ऑफ ब्रजबुलि लिटरेचर,डॉ सुकुमार सेन,वर्धा,1951 पृ. सं.- 11 से 13

किया वह डॉ सेन के अनुसार एक ग्रामीण रसिक है। राधा पर डोरे डालने वाला। सारे काव्य का वातावरण उन्मुक्त प्रेम से परिपूर्ण है। साधारण पाठकों के हृदय में इस पाठ से किसी प्रकार की धार्मिक और उच्च भावनाओं के उदय की संभावना नहीं होती। चंडीदास के 'कृष्ण कीर्त्तन' के श्रोता यह पहले से स्वीकार कर लेते हैं कि कृष्ण सर्वोपरि देव तो है किंतु हमलोगों को उनके विलास पूर्ण आचरण का अनुकरण नहीं करना है। फिर भी उसका वास्तविक आकर्षण श्रृंगार और इंद्रिय सुख आसक्ति है। भक्त–सुलभ आवेश की कहानी जैसी 'बेहुल लखींद्र' की रचना में अथवा पुराणों के पाठ में मिलती है वैसी इस राधाकृष्ण के गीति–प्रबंध में नहीं है। यही बात विद्यापति के गीतों पर लागू होती है। उनके गीत भी उत्कृष्टकोटि के काव्य हैं और पार्थिव प्रेम ही उनका विषय-वस्तु है। चैतन्य इत्यादि भक्तों के पूर्व वैष्णव साहित्य में कृष्ण–कथा का जो यह रूप दिखता है, वह कृष्ण चरित के उस गरिमामयी और उन्नत रूप से सर्वथा भिन्न है जो चैतन्य कालीन वैष्णव मत में लक्षित है।

यद्यपि डॉ.सुकुमार सेन चैतन्य देव को इस वैष्णव भक्तिवाद का प्रमुख नायक मानते हैं तथापि वस्तुतः 15वीं शताब्दी में सारे उत्तरी भारत में अनेक वैष्णव संतों ने काव्य को यह नया मोड़ दिया। संभवतः ऐसा माना जाता है कि इस नये दृष्टिकोण का स्रोत दक्षिण भारत से आया हो। स्वयं चैतन्य देव दक्षिण से दो ग्रंथ लाये थे - 'ब्रह्म संहिता' और 'कृष्ण कर्णामृत' जिनका गौड़ीय वैष्णव–संप्रदाय पर विशेष प्रभाव पड़ा। नाटकों के क्षेत्र में असम के शंकरदेव को ही इस नयी प्रवृत्ति का जनक माना जाएगा। उनका जन्म चैतन्य देव से पहले हुआ था। शंकर देव के व्यक्तित्व में नाटककार और संत एक हो गये। जिस भांति उन्होंने राज्याश्रयी नाट्य

परंपरा को वैष्णव भगवद्भक्ति के माध्यम के रूप में परिवर्तित किया वह निश्चय ही उस युग का एक चमत्कार था[95]।

राज्याश्रयी नाटकों में जो पात्र और चरित है, वही पात्र भगवान के स्वरूप और चरित भगवान की लीलाओं के रूप में इन वैष्णव नाटकों में मौजूद हैं । शंकरदेव,माधवदेव, गोपालअता, द्विजभूषण, रामचरण ठाकुर इत्यादि वैष्णव नाटकों की विषय-वस्तु प्रधानतः श्रीमद्भागवत से लिए गये है । भागवत के दशमस्कंध में वर्णित कथाओं को शंकरदेव ने अपने कीर्तन नामक काव्य का विषय-वस्तु बनाया। 'कीर्तन' अनेक खंडकाव्यों का संग्रह है । इन खंडकाव्यों में कृष्ण पर आधारित कथाएं संलग्न हैं । ये कीर्तन स्थानीय भाषाओं में विरचित हैं । किंतु भागवत आधारित कृष्णोपख्यानों को शंकरदेव ने दूसरी देशीभाषा में लिखा है । ये पूर्वोत्तर भारत में संतों और गायकों के बीच विनिमय का माध्यम मानी जाती थी जिस पर ब्रजभाषा का प्रभाव था । ये वरगीत शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित एकसरनियाँ वैष्णव धर्म के प्रार्थना गीत भी थे और पूजन गीत भी जिन्हें अंग्रेजी में 'रिचुअलहिम' कहा जाता है । सन् 1482में अपने गुरु और बंधुओं के साथ शंकरदेव उत्तर भारत के तीर्थों का भ्रमण करने निकले । 12 वर्ष तक भ्रमण करते रहे–गया, पुरी, वृंदावन, मथुरा, द्वारका, काशी, प्रयाग, सीताकुण्ड, बाराहकुण्ड,अयोध्या, बदरिकाश्रम आदि इन स्थानों की यात्रा करते समय अनेक वैष्णवों और संतों से विचार-विनिमय किया । जब वे बदरिकाश्रम में थे तब वहीं उन्होंने अपने सर्वप्रथम वरगीत की रचना की यह वरगीत इस प्रकार है-

रागधनाश्री

मन मेरो राम चरन हिलागु।

---

[95]प्राचीन भाषा नाटक,जगदीश माथुर,डॉ दशरथ ओझा,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,1975 पृ.सं -55

ताइ देखन अन्त क आगु।।

मन आयु क्षणे क्षणे टूटे।

देख प्राण को न दिन छूटे।।

मन काल अजगरे गिले ।

जान तिले के मरण मिले।।

मन निश्चय पतन काया।

ताइ राम भजते जी माया।।

रे मन इसब विषय धांधा।

के ने देखि न देखस आंधा।।

मन सुखे पार कँचे निन्द।

ताइ चेतिया चिन्त गोविन्द।।

मन जानिया शंकरे कहे।

देख राम विने गति नहे।।[96]

प्रथम वरगीतों के बाद भक्ति–कीर्तन करने हेतु वरगीतों की अधिक रचना होने लगी । एकसरन को प्रतिस्थापित करने हेतु शंकरदेव ने वरगीतों को प्रमुख माध्यम बनाया जिसमें प्रत्येक समाज के व्यक्ति शामिल होते थे किंतु 'कीर्तन' के आख्यान और वरगीतों का संगीत तो दृश्य व श्रव्य ही हो सकते थे । शंकरदेव असम की जिस जनता में एकसरनिया भागवत धर्म का प्रचार करना

[96]वही,पृ.सं - 53 -54

चाहते थे उसमें न केवल कट्टर और विज्ञ शाक्त मतावलंबी थे वरन कछारी, अहोम, कैवर्त्त इत्यादि वन्य प्रदेश के अबोध और पिछड़े लोग भी शामिल थे। शंकरदेव के एकसरनिया मत के आधारभूत सिद्धांत एकसरन के अनुसार सृष्टि के एकमात्र नियंता ब्रह्म हैं जिनके सर्व संपन्न स्वरूप विष्णु, नारायण अथवा कृष्ण हैं। इनकी भक्ति–मुक्ति से बढ़कर है क्योंकि भगवान की सेवा में जो रस मिलता है वह मोक्ष में अलभ्य है। भक्ति के साधन दो प्रकार के हैं–एक तो 'चारवस्तु' यानी नाम, देव, गुरू एवं भक्त तथा दूसरे संयम और सदाचार। यद्यपि भागवत के आख्यानों के पाठ तथा वरगीतों के गान द्वारा इन सिद्धांतों का प्रतिपादन हो पाता था तथापि वन्य प्रदेश की जातियों तक इस संदेश को पहुँचाने के लिए उन्हें एक दिव्य और दृश्य माध्मय की आवश्यकता जान पड़ी। सबसे पहले उन्होंने आध्यात्मिक विषयों पर 'चिह्नयात्रा'[97]नामक एक प्रदर्शन किया जिसमें चित्रों का प्रयोग किया गया। डॉ. बिरंचि कुमार बरुआ का अनुमान है कि आधुनिक बैक ग्राउण्ड पर्दों की तरह के चित्रों की पृष्ठभूमि में शायद नाटक प्रदर्शित किया गया हो[98] और माना जाता है कि 'चिह्न यात्रा' में भागवत–पाठ के साथ–साथ प्रसंग विशेष के चित्र दिखाये गये होंगे। इस तरह के प्रदर्शन आज भी राजस्थान में होते हैं। पतंजलि ने भी जिन शौभिकों का जिक्र किया है वे पटों पर अंकित चित्रों को दिखा दिखाकर पाठ करते हैं।

ऐसा संभव है कि शंकरदेव को नाट्य- प्रदर्शन द्वारा भागवत धर्म के प्रचार की युक्ति यात्राओं के दौरान सूझी हो या ऐसा भी माना जा सकता है कि उन्होंने मिथिला में राज्याश्रयी नाटकों का प्रदर्शन देखा हो क्योंकि ब्रजमंडल में उन्होंने किस प्रकार के प्रदर्शन देखे इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। संभवतः उन्होंने ब्रज में भागवत के रास पंचाध्यायी का रास अर्थात्

---

[97] वही,पृ.सं - 56

[98]वही,पृ.सं - 53- 54

सामूहिक नृत्य-प्रदर्शन देखा होगा जिससे रास, राज्याश्रयी नाटक तथा जयदेव के गीत- गोविन्द के प्रदर्शन का गहरा प्रभाव शंकरदेव के मानस पर पड़ा होगा।

इन भाषा नाटकों के काव्य पक्ष में पद्यों की बहुलता के साथ–साथ प्रेषक को ध्यान में रखते हुए रस योजना से भी परिपूर्ण हैं। संस्कृत काव्य परंपरा का भाषा नाटकों में विस्तार इस वर्ग के लिए मुख्यतः भाषा का परिवर्तन था, अंतरंग का नहीं। रसज्ञता की दृष्टि से भाषा नाटकों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहला – वह सहृदय और मर्मज्ञ समाज था जो नाटककार के संरक्षक नरेशों का अनुगामी था। यह अभिजात वर्ग रस सिद्धांत से परिचित था तथा काव्यों और नाटकों में गुण दोष को परख सकता था। दूसरा वर्ग उन वैष्णव भक्तों का था जिनकी मानसिक अवस्था पहले से ही भागवत संप्रदाय के अनुकूल थी। ये कृष्ण के ध्यान–मनन द्वारा लोकोत्तर आनंद के पिपासु थे इसीलिए ये वर्ग कृष्ण के लीला चित्रण में वैसा ही रसावस्वादन कर सकते थे जो साहित्य की परंपरा और काव्य सिद्धांतों में निष्णात कविता में मिलता था। तीसरा वर्ग उन ग्रामीण और वनों में रहने वाले सरल तथा अशिक्षित नर–नारियों का था जिनकी नैसर्गिक वृत्ति में रसानुभूति के लिए अनुकूल तत्व विद्यमान न थे लेकिन जिन्हें सहृदय बनाकर एवं जिनसे मर्म में रस बोध उत्पन्न करके उन्हें भागवत धर्म में लाना शंकरदेव, माधव देव जैसे संत–नाटककारों को अभीष्ट था।

दर्शक समाज को प्रभावित करने के लिए यानी कि उन्हें रसानुभूति कराने के लिए इन नाटकों में प्रकृति-वर्णन का प्रयोग प्रस्तुत होता है। राज्याश्रयी भाषा नाटकों में प्रकृति वर्णन द्वारा भाव का उद्बोधन होता है। वैष्णव नाटकों में पात्रों की शोभा, महिमा और कौतुकमयी भंगिमाओं का वर्णन किया जाता है। उमापति के 'पारिजातहरण' मेंरै वत वन की वसंत शोभा सारे रसिक समाज को मुग्ध कर देती है–

अनगिनत किंशुक चारू चंपक बकुलब कुहुल फुल्लियाँ।

पुनुकत हुपाट लिपट लिनी किने वारि माधवि मल्लिआं।

अतिमं जुबं जुपुं जमिं जल चारू चुअ बिराज हीं ।

निज मधुहिं मातलि पल्ल वच्छ विलोहि तच्छ विछा जहीं।

पुनु केलिकल कल कत हुआ कुल को किला कुल कूज हीं।

जनि तीनि जग जिति मदन नृप–मनि बिजय–राज सुराज हीं।

वैष्णव नाटकों में प्रकृति वर्णन बहुत कम हैं किंतु नायक–नायिकाओं के रूप और भंगिमाओं के साथ–साथ नगर शोभा का वर्णन विभावों को प्रदीप्त करता है । शंकरदेव के रुक्मिणी हरण नाटक में कृष्ण और रुक्मिणी के द्वारकापुरी–प्रवेश, रूप-वर्णन और नगर के वातावरण का अद्‌भुत सामंजस्य है–

मिलल कौतुक कमल न लोचनि, चललि स्वामिक संगियां।

नील नीर दजच उजरि बिजुरि, भुवन भुले भ्रुभंगिया।

मत्त मातंग संग अंग भंग, करिणि कर लास बेसया।

कयल मंगल रंग कोलाहल, द्वारकापुर पर वेसिया।

देवि देव की आसि ये कौतुकी, धर लब रब धुहा तया।

जय–जय रव मिलल उत्सव कहतु संकर बात या।।[99]

वस्तुतः वैष्णव नाटकों में भागवत स्तुतियों का प्रयोग नाटक मेंरस आलंबन को उद्दीप्त करने के लिए किया गया । नाटक में प्रयुक्त भंगिमाएं नाटक के प्रारंभ से अंत तक नायक के पराक्रम और भक्त वत्सलता को दर्शाती हैं । इसके साथ–साथ नाटक के बीच में,प्रायः भावनात्मक दृश्यों में, कृष्ण के दिव्य-सौन्दर्य वर्णन के भाव को उत्तेजित करती है । नाटक 'पत्नीप्रसाद' में ब्राह्मण पत्नियां कृष्ण के दर्शन के लिए मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को पार करते हुए आगे बढ़ती जा रही हैं मानो उनकी आतुरता को दोगुना करने के लिए रास्ते में कृष्ण का रूप–विलास उमड़ उठता है–

स्याम सरीर बस न तथि पित।

नव धन जैसे चम के तड़ित।।

त्रिभुवन मोहन नट वरवेस।

चौ भिति मेड़ि यार हु गोप नि सेस।

लील पद्म फुरा वत हात।

पे खत द्विज वधू सब साक्षात्[100]।।

रास्ता बहुत लंबा है किंतु आने वाले प्रसंगों के लिए हमें तैयार कर देती है । इसमें कृष्ण ब्राह्मणियों को अपने घर वापस जाने को कहते हैं और वे व्यथित हो जाती हैं ।

---

[99]प्राचीन भाषा नाटक,माथुर एवं ओझा,पृ सं-18

[100]वही,पृ.सं-32

रामचरण ठाकुर के नाटक 'कंसवध' में कृष्ण और बलराम धनुर्यज्ञ शाला में अपना पराक्रम दिखाने जा रहे हैं। कुब्जा की चिबुक उठाकर कृष्ण उसके शरीर को सीधा कर देते हैं तो कुब्जा का मातुर भाव से कहती है–

गोविन्द कर हों का तर पावे तोइ।

तोहारि पर से, का मेहा मो आतुर,

जानि चल गृहे मोई।।

इस तह सित चारु तेरि कमल सुख

पेखि मोहि तम न मेरा।

दासि भेलो तेरि, बांछापुर हमेरि।

देहु अधर मधु तेरा।।

हरिक वस्त्र धरि, बोल य का तरकरि।

मदने मोहित मति होइ ।।

कृष्ण क दास, दास राम चरने

कहे हरि पदे गति मोइ[101]।।

कुब्जा की बात को कृष्ण हंस कर टाल देते हैं। धनुर्यज्ञ शाला की ओर जाते हुए कृष्ण की छवि सबको सम्मोहित करती है -

[101]वही,पृ.सं-35

नागरि नारि सब कृष्ण क करम सुन्दर रूप पे खिका में वि मोहित भेल।

बसन, बलय, खोपास बख सल, ता हा कुना हिजा नय जैसे चित्रर पुतलित द्वत भेल।।

राज्याश्रयी और वैष्णव भाषानाटकों में परंपरागत सभी रसों का प्रयोग मिलता है। रति भाव के संचरण के बाद नाटककार कृष्ण के पौरुष को युद्ध-प्रसंग में दिखाते हैं और पूर्ववर्ती दृश्य पराक्रम पूर्ण दृश्य को और अधिक सशक्त कर देता है–

प्रमत्त मातंग वे गेहि जाइ।

धरि ले कृष्णक सुण्डे मे ढ़ाइ।।

एड़ा इ ला माधवे करिआ चोट।

मा रिला हस्तिक मुष्टिर चोट[102]।।

लगभग सभी भाषा–नाटकों में, जहाँ श्रृंगार का विप्रलंभ पक्ष है, वहां संयोग श्रृंगार का विशेष विकास है। संयोग मिलन के दृश्यों में नृत्य व संगीत के लिए भरपूर प्रयोग दिखाई देता है। 'केलिगोपाल' में संभोग श्रृंगार के संक्षिप्त और संकीर्ण अवस्थाओं के अनेक उदाहरण तो हैं ही, साथ ही समृद्ध अवस्था की 'जल्पना' भी गोपियों के संक्षिप्त कथन में मुखर हैं–

सूत्र. –कृष्ण भक्ति मत् हया कहों सब शोक बिछरल, अन्यान्ये सम्भाषि या, कृष्ण लीला आपुन कय लाग वगो पिस ज, ताहे देखह सुनह।

मं इ कृष्ण बुल करे भावना।

---

[102]वही.पृ.सं-37

स्तन पान सुसि मारे पूतना।।

काहे बोल हा मुगोपि नि नार्थ।

सर्द्दय कालिक चढ़िया माथ।।

हा मु से कृष्ण देख कहाँ बोले।

गोपिन दे हो आलिंग ल कोले।।

बोलय का हुंआ इलोहा मुहरि।

बे नुब जावत अधरे धरि[103]।।

नाटकों के माध्यम से कवि संतों ने जो नया मोड़ प्रस्तुत किया वह भाषा नाटकों के संदर्भ में विचारणीय है । दर्शक व प्रेक्षक होने के अहं मुक्त पर रसास्वादन की प्रक्रिया एक विशेषता के रूप में दिखाई पड़ती है । भक्त नाटककारों ने इस अल्पकालिक अहं विस्मृति को भगवान के आगे भक्त की दीन-अतिदीन–लगभग सत्ता विहीन अवस्था से जोड़ दिया । यही वह दास्यभाव है जो शंकरदेव के एकसरनिया मत में प्रतिष्ठित है और उनकी रचनाओं में भी । दास्य भाव के मूल में भक्ति सिद्धांत का एक गहन तत्व है । डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने भगवत तत्व का एक विशद् और बुद्धि पर कविवेचन किया है जो इस सिलसिले में विचारणीय है[104]। मानव के पंच विकारों-काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह का संयोग ही उसके अहं की आधार शिला है । भगवान की सत्ता भी पंच गुणों का समाहार है । मानव की खंडित सत्ता के उपादान–इन पंचविकारों से संबद्ध ही भगवान के पंच गुण हैं । वैष्णव भाषा–नाटकों में भगवान के ऐश्वर्य,ज्ञान, यश, श्री और वीतराग आदि गुणों को प्रदर्शन के लिए इस तरह प्रयोग में लाया जाता है जिससे मानव के पंच विकार

---

[103]वही,पृ.सं-39

[104]भगवत्तत्व पर,डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख,कल्याण (पत्रिका) मार्च 1962 ई.

इसके सामने क्षीण से प्रतीत होने लगे । नाटककार एक ओर ईश्वर के ऐश्वर्य,ज्ञान, यश और वीतराग इत्यादि से उनकी महत्ता को प्रतिष्ठित करता है और दूसरी ओर मनुष्य के पंच विकार समन्वित अहं को गौण घोषित करता चलता है ।

सखी–हे सखि सब, हामार रूप जौवन पेखि, श्रीकृष्ण भोलल। हमार को लछाड़य नाहि। वाक्य बाध यनाहि।

सूत्र–ओ हिबा हुलाड़ि, मद गर्वे भ्रम ए लागल । श्रीकृष्णता हे देखिए पाछु पाछु चाटु बोलि चल इछे।

श्रीकृष्ण–हे सखि सब हामाक, कैसे प्रिय सम्भाषन नाहि करत ? हामों कोन अपराध कयल ? प्राण गोपी सब कटाक्ष निरेखि हामाक आश्वास करइ[105] ।

और इसके बाद कृष्ण एक गोपी को हृदय-बान्धवी मानकर अंतर्ध्यान हो जाते हैं । श्रृंगार रस भक्ति के दास्य मनोस्थिति में परिवर्तित हो जाता है जो इसके आगे के संवादों को देखने पर मालूम होता है । नाटककार ने श्रृंगारी भावना को प्रेम की भक्ति में बदल दिया । अर्थात् अहं का लोप हो जाने के बाद नाटककार ने प्रेमभक्ति का बीजारोपण किया । यद्यपि कई जगहों पर नाटककार सूत्रधार के मुख से संबोधक वाक्य कहलवाता है किंतु उसके संदेश वास्तविक माध्यम हैं । रसानुभूति से तार हुई मनोभूमि में नई विह्वलता का आविर्भाव होता है । यही विह्वलता वह प्रेम भक्ति है जिसे भक्ति रस का नाम दिया गया । वैष्णव भाषा–नाटकों में भगवान के पंच महागुणों के प्रदर्शन से रस निष्पत्ति होती है । वहां तक तो उसमें और राज्याश्रयी भाषा नाटकों में विशेष अन्तर नहीं है परंतु पंच महागुणों के समक्ष मानवीय पंचविकारों की प्रस्तुति द्वारा प्रेरित चेतना ही वह भक्ति है, जिसकी पुष्टि करना वैष्णव नाटककारों का ध्येय था।

---

[105]प्राचीन भाषा नाटक,माथुर एवं ओझा,पृ सं- 55

माधवदेव के नाटकों–अर्जुन भंजन, चोर धरा झुमरा, भूमिलुटिया, झुमरा, पिम्परागुआ झुमरा, भोजन विहार झुमरा और गोबर्धन यात्रा से ईश्वर का एकस्वरूप,भाषा नाटकों में भक्ति चेतना का माध्यम दिखाई देता है। इन नाटकों में कृष्ण के बालस्वरूप की स्थापना उसी भांति होती है जैसे अन्य वैष्णव नाटकों में कृष्ण के पंच महागुणों से मंडित स्वरूप की। यह स्वरूप विशेषतः ग्रामीण और वनों में रहने वाले साधारण नर-नारियों के रसानुभूति को अहंभाव-विहीन मनोदशा तक पहुँचाने में सफल हुआ। उस मनोदशा में उन्हें भगवतोन्मुख करना अपेक्षा कृत सरल था। अर्जुन भंजन के अंत में सूत्रधार कहता है–

ओहि कृष्णक बालक चरित्र, माटि भगि दधि नामक, लव नुभोजन, उड़खले वधन, अर्जुन भंजन जारा से श्रद्धाये गावे, श्रद्धाये भावना करय, तारा सबर श्रीकृष्ण चरणे निर्मल भक्ति बाढ़य।

वैष्णव लीलाओं में ईश्वर के बालस्वरूप से निर्मल–भक्ति की चेतना होती है। इन नाटकों में प्रयुक्त दास्य एवं वात्सल्य को पृथक रस मानने की बजाय उन्हें भक्ति चेतना की दो वृत्तियाँ मानना ठीक होगा। भक्ति चेतना के अंतर्गत दास्य और वात्सल्य के अतिरिक्त-सख्य, मधुर औऱ शांत-ये तीन और वृत्तियां मानी जाती हैं ये पांचों वृत्तियाँ भक्ति चेतना की विभिन्न पहलू हैं। भरत द्वारा वर्णित रसों द्वारा भक्ति चेतना का उत्कर्ष होता है। रस साधन है। भक्ति चेतना साध्य।

भाषा नाटकों के पात्र पुराणों से लिए गए हैं। वैष्णव भाषा–नाटकों के विशेषतःश्रीमद्भागत से। मध्ययुगीन भाषा–नाटकों में पौराणिक पात्रों की उपस्थिति रूपकों और उपरूपकों की परिभाषाओं के कारण नहीं थी। हमने इन भाषा–नाटकों को संगीतक की संज्ञा दी है अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि संगीतक के विकास में जयदेव के गीत गोविन्द और 12 वीं-14 वीं शताब्दी में, वैष्णव संप्रदाय की विचारधारा का विशेष प्रभाव पड़ा

। अतःअवतारी पुरूष कृष्ण और राम के चरित नाटकों के रूप में ही संगीतकों का उत्कर्ष हुआ हालांकि विद्यापति का गोरक्षविजय और ज्योतिरीश्वर ठाकुर का भाषा–धूर्तसमागम इस श्रेणी में नहीं आते । संगीतक में संगीत, नृत्य और संवाद का सम्मिश्रण होता है । अतः इन तीनों कलाओं से संगीतक की रूपरेखा तैयार होती है । उमापति उपाध्याय के पारिजातहरण में नारद का परिचय विवरणात्मक भी है और संकेतात्मक भी–

अव तरु अधनी तेजि अकास । नथिक दिवा करन थिक हुतास।।

धोती धव लतिल उपनीत।ब्रह्म तेज अति अधिक उदीत।।

बैनज दण्ड वेद कर सोभ । अवथि नारद दरसन लोभ।।

परम जुगुत तिनि जगत कहोत । ब्रह्मा सुत मोर संभुक मीत[106]।।

यहाँ नारद की उन परम युक्तियों की ओर संकेत है जिनसे जगत का हित होता है । पात्रों के स्वभाव की झलक का दूसरा नमूना है सत्यभामा का परिचय।

सतिभामा देबि देल परवेस । स्वामि सोहाग सुहाओ निबस।

हरखित हृदय गरुअ अभिमान । कृष्ण पिआरि परान समान।।[107]

भाषा–नाटक के पात्र–नियोजनमेंसूत्रधारकास्थानशास्त्र–सम्मत सूत्रधार से भिन्न है । जैसे रस पद्धति में भक्ति चेतना को लक्ष्य बनाकर शंकरदेव और उनके शिष्यों ने नाटक रचना में नवीन शैली को प्रेरित किया, ऐसे ही सूत्रधार को उद्बोधक के रूप में प्रस्तुत करके उन्होंने परवर्ती

---

[106]वही,पृ.सं-77

[107]वही.पृ.सं-79

नाट्य-प्रदर्शन में एक ऐसी परंपरा स्थापित की जिसका प्रभाव हम आज भी रासलीला, सांग, नौटंकी इत्यादि नाट्य प्रदर्शन की शैलियों में देखते हैं।

रामचरितमानस हिंदी का सब से लोकप्रिय ग्रंथ है। अपढ़ ग्रामीण से लेकर सुशिक्षित विद्वान तक इसके पठन-पाठन से लाभान्वित होते हैं। अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने इसके भक्ति, दर्शन और काव्य पक्ष पर विचार व्यक्त किये हैं परंतु इसकी नाटकीयता भी अध्ययन हेतु अत्यंत गौरतलब पक्ष है। मानस में शिव-सती-प्रसंग की प्रस्तावना पृथ्वी का भार हरने के लिए, रघुवंश में अवतरित पर ब्रह्मराम की कथा के उस स्थल से आरंभ होती है जब सीता-हरण के पश्चात् खोज में वे इधर-उधर भटकते हैं। उस समय शिवजी सती के साथ अगस्त्य मुनि से विदा होकर,कैलाश की ओर जाने के मार्ग में,परब्रह्म राम के दर्शन का उपाय सोचते हुए सामने आते हैं-

हृदयँ बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ।

गुप्त रूप अवतरे उप्र भुगएँ जान सबु कोई[108]।

शिवजी के सामने इस अवसर पर समस्या यह है कि परब्रह्म राम के दर्शन तो अवश्यक परंतु मेरे व्यवहार से उनके अवतरित होने का रहस्य किसी को विदित न हो। वे जानते हैं कि परब्रह्म ने अवतार लिया है गुप्त रीति से अतएव यदि मैं उनसे प्रत्यक्ष रूप से भेंट करता हूँ तो दूसरों के समक्ष उनके अवतरित होने का भेद खुल जाएगा परंतु इस भय से यदि मैं उनसे नहीं मिलता हूँ तो परब्रह्म के दर्शनों से वंचित रह जाऊँगा। इस प्रकार भेद खुल जाने के भय और दर्शन के लोभ में शिवजी के मन में घोर द्वंद- संघर्ष होता है। वे ऐसे उपाय की खोज में चिंतित

[108]रामचरितमानस,तुलसीदास,हनुमान पोद्दार,गीताप्रेस प्रकाशन ,संस्करण 2015पृ.सं-48

हो जाते हैं जिससे उन्हें अपने परमाराध्य के दर्शन भी हो जाएं और उनके अवतरित होने का भेद भी किसी पर प्रकट न हो।

शिवजी के उक्त 'स्वगत' में उनके अंतर्द्वन्द्व का चित्रण है । उनकी इस समय की संघर्ष पूर्ण मानसिक दशा का परिचय अगले सोरठे छंद से मिलता है –

संकर उर अति छो भुस तीन जान हिंम रमु सोई।

तुलसी दरसन लोभु मन डरू लोचन लालची[109]।।

उक्त पंक्तियों में शिवजी के मुख पर कभी अवतार का भेद खुल जाने के भय से उनके मन का क्षोभ झलकना और कभी उनके नेत्रों का दर्शन से ललचा उठना,अभिनय में सहायक कवि के संकेत हैं । अंतर्द्वन्द्व की इसी स्थिति में शिवजी को राम के दर्शन होते हैं । सीता की खोज में भटकते राम को लौकिक लीलावश विकल जानकर शिवजी उनसे परिचय करना उपयुक्त नहीं समझते । प्रत्युत नेत्र भरकर वे उन शोभा-सिंधु के, प्रियदर्शन करके आनन्द विभोर हो जाते हैं –

संभु समय तेहि राम हि देखा ।उपजा हियँ अति हरषु बिसेषा।

भरि लोचन छबि सिंधु निहारी । कुसमय जानीन कीन्हि चिन्हारी ।

जय सच्चिदानंद जग पावन । अस कहि चले उमनो जन सावन।

चले जात सिव सती समेता । पुनि-पुनि पुलकत कृपा निकेता।

राम के दर्शन पाकर शिवजी का हर्षित-पुलकित होना अभिनय की दृष्टि से सुंदर तो है ही, प्रभु के प्रति शिवजी के अपार प्रेम का भी सूचक है । साथ ही साथ रहने पर भी सती न शिवजी के उक्त

---

[109]वही,पृ.सं-48

मानसिक संघर्ष को लक्ष्य कर पाती हैं और न राम के दर्शन से होने वाले उनके हार्दिक आह्लाद को ही । वे तो तब चौंकती हैं जब शिव जी राम को देखकर 'जय सच्चिदानंद जग पावन' कहकर अत्यंत पुलकित होते हुए आगे बढ़ जाते हैं । यह सारा व्यापार सती को घोर चिंता में डाल देता है । उनके हृदय में अनेक संदेह उपजने लगते हैं– सतीं सो दसा संभु कै देखी । उर उपजा संदेहु बिसेषी।

आगे कवि ने सती का स्वगत कथन दिया है । वे सोचने लगती हैं कि शिव जी तो स्वयं जगत वंद्य हैं तब जिस राजकुमार को उन्होंने 'जय सच्चिदानंद जग पावन' कहकर प्रणाम किया है वह निश्चय ही पर ब्रह्म होना चाहिए परंतु जो पर ब्रह्म सर्वज्ञ है क्या वह इस प्रकार अज्ञानी लौकिक पुरुष के समान पत्नी की खोज में विकलता से भटकता फिरेगा–

संकरु जगत बंद्य जग दीसा। सुर नर मुनिस बनाव तसीसा।

तिन्ह नृप सुतहि कीन्ह पर नामा । कहि सच्चिदानंद पर धामा।

भए मगन छबि ता सुबि लो की । अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी।

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।

सोकि देह धरि हो इनर जाहिन जान त वेद।

विष्नु जो सुर हित न रतनु धारी । सो उ सर्वग्यज था त्रिपुरारी।

खोज इसो कि अग्य इव नारी । ग्यान धाम श्री पति असुरारी[110]।

सती का उक्त तर्क बहुत सबल है जिसका समाधान वे स्वयं नहीं कर पातीं । वे सोचती हैं कि इधर शिवजी भी सर्वज्ञ हैं और उनकी बात भी झूठी नहीं हो सकती–

---

[110]वही,पृ सं- 50

संभु गिरा पुनि मृषा न होई । सिव सर्वग्य जान सबु कोई।

अस संसय मन भयउ अपारा । होई न हृदयँ प्रबोध प्रचारा।

अभिनय की दृष्टि से जिस प्रकार शिवजी का क्षोभ तथा हर्ष सुंदर है उसी प्रकार सती के मुख पर उनकी चिंता और उनका संशय झलकना भी सुंदर है । साथ-साथ उक्त स्वगत से सती की संदेह की स्त्री सुलभ प्रवृत्ति भी लक्षित होती है । यद्यपि है वह सकारण ही । अंतर्यामी शिवजी सती के मन की चिंता और उसका कारण समझ जाते हैं । सती के प्रति अपने प्रेम का परिचय देते हुए वे उस चिंता का निवारण करने हेतु समझाते हैं–

सुन हिस तीत व नारि सुभाऊ । संसय असन धरि अउर का ऊ।

जासु कथा कुंभ जरिषि गाई । भगति जासु मैं मुनि हि सुनाई।

सो इमम इष्टदेव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।

मुनि धीर जोगी सिद्धसंतत बिमल मन जेहि ध्याव हीं।

कहि नेति निगम पुरान आगम जासु की रति गाव हीं।

सो इरामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।

अव तरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी।

उक्त पंक्तियों में शिवजी जिस स्वर में राम की प्रशंसा करते हैं उससे उनकी इनके प्रति अपार श्रद्धा सूचित होती है । अपना कथन पूरा करते-करते जैसे उनका कंठ गद्गद हो जाता है । उनके कथन का सार है-तुम नारी हो जो स्वभावतः संदेह शील होती है परंतु तुम सामान्य नारी नहीं हो और इसलिए सामान्य स्त्री के स्वभाव जैसी शंकाएं तुम्हारे मन में नहीं उठनी चाहिए । जिन राम को मैंने प्रणाम किया है वे पर ब्रह्म ही हैं और भक्तों के हित के लिए अवतरित हुए हैं ।

शिवजी सती को समझाने का सभी तरह का प्रयत्न करते हैं परंतु सती के संदेह की जड़े इतनी गहरी है कि वह किसी तरह से मिटती ही नहीं। तब शिव जी मन ही मन माया की प्रबलता स्वीकार करके मुस्कुराते हुए सती से कहते हैं-यदि मेरे इतना समझाने पर भी तुम्हारा संदेह दूर नहीं हो रहा है तो तुम स्वयं जाकर राम की परीक्षा लेकर अपनी शंका दूर कर लो-

लाग न उर उपदेसु, जदपि कहेउ सिबा रबदु।

बोलें विहसि महेसु, हरि माया बलु जानि जियं।

जौं तुम्हरें मन अति संदेहू। तो किन जाइ परीक्षा लेहू।

तब लगि बैठ अह उँबट छा हीं। जब लगि तुम्ह ऐह हुमोहि पाहीं।

जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेक विचारी[111]।

उक्त पंक्तियों में शिवजी का मुस्कुराकर बोलना वाचिक अभिनय के अंतर्गत आता है। बार-बार समझाने पर भी सती का संशय दूर न होते देखकर भी शिवजी का मुस्कुराते रहना, उनके स्वभाव की धीरता के साथ-साथ सती के प्रति उनके अपार प्रेम का भी सूचक है।

इस प्रसंग में सती श्रीराम की परीक्षा के लिए उनके समक्ष सीता का रूपधारण करके जाती हैं जिसे देख लक्ष्मण चकित हो जाते हैं परंतु राम भ्रमित नहीं होते। वे सीता के रूप में सती से वृष केतु के बारे में पूछते हैं जो कि अभिनयात्मक संकेत हैं। सती का भयभीत और चिंतित हो जाना उनके मुख के भावों के उतार-चढ़ाव का सूचक है।

---

[111]वही,पृ सं-52

रामचरितमानस में,रामेतर कथा प्रसंगों में, शिव-सती प्रसंग में आगे यज्ञस्थली का चित्रण किया गया है जिसमें सती का आगमन होता है परंतु दक्ष के भय के कारण कोई उनका स्वागत-सत्कार नहीं करता है । पुत्री को देखकर माता की ममता अवश्य उमड़ जाती है । वे पति के रोष की चिंता न करके सती से सप्रेम मिलती हैं। बहनों को पिता द्वारा किये गये सती के अपमान से जरा भी खेद नहीं होता। पिता के यहाँ आदर पाकर वे इतने घमंड से भर जाती हैं कि सती से उपहास की हंसी हंसती हुई मिलती हैं–

पिता भवन जब गई भवानी।दच्छत्रास का हूँ न सन मानी।

सादर भेलहिं मिली एक माता। भगिनीं मिलीं बहुत मुसकाता।

सती का पिता दक्ष शंकर के पूर्व व्यवहार से इतना रुष्ट है कि बेटी को देखते ही उसका सारा शरीर जल उठता है और वह उनसे कुशल तक नहीं पूछता–

दच्छ न कछु पूछी कुसलाता।सति हि बिलोकि जरे सब गाता।

सती का ध्यान न बहनों के उपहास की ओर जाता है और न पिता की क्रोध-दृष्टि की ओर। वो तो जैसे यह जानना चाहती हैं कि पिता ने मेरे पति का अपमान केवल निमंत्रण न भेजकर ही किया है अथवा व्यावहारिक रूप से भी वह उनको अपमानित करना चाहता है। सो सती सीधे यज्ञ मंडप में पहुँच जाती है। वहाँ जब उन्हें शिवजी का भाग कहीं नहीं दिखायी देता तब तत्काल उन्हें पति के वचनों का स्मरण हो उठता है । पति-परित्याग से भी उन्हें उतना दुख नहीं हुआ था जितना इस अवसर पर अपने पिता के यहाँ पति के अपमान का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर होता है–

सतीं जाइ देखे उत बजागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा।

तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ।प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ।

पाछिल दुख न हृदय असब्यापा।जस यह भय उमहा परितापा।

उक्त सब व्यापार चित्रपट पर तो बहुत कौशल से दिखाये जा सकते हैं परंतु नाटक के रंगमंच पर इन व्यापारों के साथ-साथ कुछ संवाद जोड़ने होंगे। यदि संवाद न जोड़े जाएं तो रंगमंच का विस्तार करके विभिन्न पात्रों को अलग-अलग दिशाओं में उपस्थित दिखाकरमूकाभिनय की सुंदर योजना की जा सकती है। बहनों का मुस्कुराते हुए मिलना, पिता का सती को देखते ही क्रोध से जल उठना, पति का अपमान देखकर सती का अत्यंत क्रोधित हो जाना आदि व्यापारों को नेत्रों तथा मुखों के भावों द्वारा सुंदरता और कुशलता के साथ व्यक्त किया जा सकता है।

सती को क्रोधित देखकर उनकी आंतरिक व्यथा यदि कोई समझता है तो वह है केवल माता जो उन्हें शांत करने के लिए सभी तरह से समझाती-बुझाती है परंतु सती का क्रोध उससे शांत नहीं होता है। एक तो इतने दिनों की मानसिक चिंता दूसरे, पति के बार-बार समझाने पर भी हठपूर्वक पिता के यहाँ आना। फिर यहाँ बहनों का उपहास पिता के निष्ठुर व्यवहार की पीड़ा और सबसे बढ़कर पति का सार्वजनिक रूप से अपमान–सब बातें मिलकर सती को इतने क्रोधावेश से भर देती हैं कि उन्हें जैसे कुछ भी प्रबोध नहीं रह जाता और वे सारी सभा को फटकारने लगती हैं –

समुझि सो सति हि भय उ अति क्रोधा।

बहु बिधि जननी कीन्ह प्रबोधा।

सिव अपमानु न जाइ सहि, हृदय नहो इ प्रबोध।

सकल सभ हिह ठिह टकि तब बोली बचन सक्रोध।

क्रोधावेश में सती सभा की कठोर भर्त्सना करती हैं; सभा-सदों और मुनीश्वरों! आपमें से जिस-जिसने शंकर की निंदा की है या सुनी है, उन सबको उसका फल शीघ्र मिलेगा। मेरे पिता दक्ष को भी अपनी करनी पर घोर पश्चाताप करना पड़ेगा । शास्त्र का यह वचन आप सब को ज्ञात ही होगा कि जहां कहीं संतों की,शिव की या भगवान विष्णु की निंदा हो रही हो, वहां सुनने वालों में यदि शक्ति हो तो निंदक की जीभ काट लें और यदि शक्ति न हो तो स्वयं कान मूँद कर वहां से चले जाएं । आप सबने यहाँ उपस्थित रहकर शिवजी की निंदा सुनी है इसलिए शास्त्र के वचन का पालन न करने के पाप का परिणाम आपको भोगना पड़ेगा । त्रिपुर दैत्य का संहार करने वाले जगत पिता महेश संसार में सबका हित करने वाले हैं । मेरा जो मंदमति पिता उन्हीं शिव की निंदा करता है । उसके वीर्य से उत्पन्न इस शरीर को जीवित रखना भी मेरी दृष्टि में पाप है और इसीलिए चंद्रमौलि वृषकेतु का ध्यान करती हुई मैं इसे त्याग देना उचित समझती हूँ–

सुन हुस भास दस कल मुनिंदा । कही सुनी जिन्ह संकर निंदा।

सो फलु तुर तल हब सबका हूँ । भली भाँति पछिता बपिता हूँ।

संत संभु श्रीपति अपबादा ।सुनि अज हाँतहँ असि मरजादा।

काटिअता सुजी भजो बसाई । स्त्र वन मूँदि न त चलि अपराई।

जग दात मा महेसु पुरारी । जगत जनक सबके हितकारी ।

पिता मंदमति निंदत ते ही । दच्छ सुक्र संभव यह देही।

तजि हउँ तुरत देहिते हि हेतु । उर धरि चन्द्रमौलि वृषकेतु[112]।

---

[112]वही,पृ.सं-56

सारी सभा को हतप्रभ कर देने वाले कथन की समाप्ति के साथ ही सती योगाग्नि से, सबके सामने देखते–देखते अपना शरीर भस्म कर देती हैं। सती के इस प्रकार भस्म हो जाने से सभा में हाहाकार मच जाता है। सती के साथ आये हुए जब गण यह समाचार पाते ही क्रोधित होकर यज्ञ को नष्ट करने लगते हैं, तब मुनीश्वर भृगु जी उसकी रक्षा करने को यत्नशील होते हैं। इसी समय शिवजी के भेजे हुए अन्य गणों समेत वीर भद्र आकर यज्ञ का विध्वंस कर डालते हैं। शंकर के उस अपमान-प्रसंग में भाग लेने वाले समस्त देवताओं , मुनीश्वरों आदि को भी यथोचित दंड देते हैं–

अस कहि जो अगिनि तनु जारा। भय उस कल मख हाहा कारा।

सती मर नु सुनि संभुगन लगे करन मखखीत।

जग्य बिधंस बिलो कि भृगु रच्छा कीन्हि मुनीस।

समाचार सब संकर पाए। बीरभद्र करि कोप पठाए।

जग्य बिधं सजा इतिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधि वत फलुदीन्हा[113]।

उक्त पूरा प्रसंग अभिनयात्मक संकेतों से पूर्ण है। सती द्वारा सभासदों और मुनियों की भर्त्सना में कहे गये क्रोध युक्त वचन वाचिक-अभिनय प्रधान बाह्य संघर्ष के उदाहरण हैं। वचनों के साथ ही सती,के मुख के भावों के द्वारा भी,उनके क्रोध को दर्शाया जा सकता है। शिवजी के गणों का यज्ञ-विध्वंस करना, भृगु जी द्वारा रक्षा करना तथा वीरभद्र का आकर संपूर्ण यज्ञ को विध्वंस कर डालना आदि सारा नाटकीय कार्य-व्यापार दर्शकों का ध्यान केंद्रित कर लेने में समर्थ है। पति के अपमान से सती का अपना शरीर भस्म कर देना रंगमंच पर बड़े कौशल से ही दिखाया जा

[113]वही,पृ.सं-64

सकता है। सती के इस कार्य से उनका पति के प्रति और वीरभद्र को भेजने से शिव का सती के प्रति प्रेम झलकता है। हाँ, समाचार सब संकर पाए –वाली बात को नाटकीय रूप में वीरभद्र अथवा किसी अन्य के द्वारा कहला देने से ही काम चल सकता है।

अंततःकहा जा सकता है कि भक्तिकालीन हिंदी नाटक साधारण जन पर आधारित रहें जिसके कारण भक्ति साहित्य के साथ ही भक्ति-रंग के लिए जनभाषा को ही स्वीकार किया गया। संस्कृत नाट्य-प्रयोग की अप्रासंगिकता को आचार्यों ने शीघ्र ही अनुभव कर लिया और भक्ति साहित्य के साथ ही भक्ति - रंग के लिए जनभाषा को ही स्वीकारा गया। भक्ति आंदोलन ने रंग शिल्प और पद्धति में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। सबसे बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि रंगकार्य परंपरा से चली आने वाली रंगजीवी जातियों के हाथ से निकल कर मुख्य रूप से ब्राह्मणों के हाथ आ गई। इसका कारण यह था कि परंपरित रंगजीवी जातियों का सामाजिक स्तर अत्यंत निम्नकोटि का हो गया था। राम, कृष्ण आदि की भूमिका को अपना कर लेने के बाद अभिनेताओं में उसी प्रकार देवत्व का प्रतिष्ठित हो जाना मान लिया जाता था जिस प्रकार पूजा की देव प्रतिमाओं में अतः पूज्य ब्राह्मणों के अतिरिक्त ये भूमिकाएँ दूसरे कैसे ग्रहण कर सकते थे।

दूसरा मुख्य परिवर्तन स्त्री-भूमिकाओं के लिए अभिनेत्रियों की लंबी परंपरा का समाप्त हो जाना है। भक्ति–आंदोलन के आरंभ तक स्त्रियां बड़ी संख्या, में रंगकार्य करती थीं किंतु भक्त आचार्य उन्हें स्वीकार करने का साहस न कर सके। प्रवृत्ति मार्ग को काफी हद तक स्वीकार कर लेने के बाद भी भक्ति–आंदोलन वस्तुतः निवृत्ति मूलक ही रहा और स्त्री–संसर्ग वर्ज्य बना रहा। दूसरी बात, आचार्यों को आशंका थी कि स्त्रियों के रंगकार्य से संबद्ध होने पर उनमें विकृति और चारित्रिक पतन अनिवार्य है। राय रामानंद राय ने देवदासियों को अभिनेत्री के रूप में प्रशिक्षित किया। देवदासियों की चारित्रिक दृढ़ता और निर्विकारिता को लेकर चैतन्य देव को पंडितों के

लाछन का भाजन बनना पड़ा। फलतः भक्ति रगांदोलन से स्त्रियाँ पूर्णतः निष्कासित कर दी गई और उनकी जगह कम उम्र के लड़के नारी पात्रों का अभिनय करने लगे।

रंगशिल्प का दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन था नाट्यशास्त्रीय पद्धतियों का सरलीकरण और उनमें लोकनाट्य के तत्वों का समन्वय। भक्ति आंदोलन से प्रेरित रंग रूपों को बिल्कुल लोकनाट्य माना जाता है। भक्ति के आचार्य संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे। किसी प्रकार के नाटक का प्रसंग उठने पर उनकी दृष्टि का नाट्यशास्त्र की ओर जाना स्वाभाविक था। उसे यथावत वे लोक भाषा में लागू नहीं कर सकते थे क्योंकि उसके जटिल शिल्प के लिए जिस प्रशिक्षण और अभ्यास की आवश्यकता थी वह परंपरागत नट जातियों में संभव था और उन्हें वे पहले ही अस्वीकार चुके थे। दूसरे परंपरित संस्कृत रंगपद्धति में अभिनेताओं पर उस प्रकार देवत्व का आरोप भी नहीं किया जा सकता था जैसाकि उन्हें अपेक्षित था। अतः उन्होंने नाट्यशास्त्र के अनेक तत्व सरलीकृत करके लिए। लोकनाट्यों से भी कुछ तत्व लेकर एक सरल, पर प्रभावशाली नाट्य पद्धति-विकसित की। उनकी पद्धतियों में कुछ मौलिक विशेषताएँ भक्ति तत्व की अपनी मांगों के कारण भी आईं।

भक्ति–नाट्य रूप मुख्यतः वैष्णव काव्य पर आश्रित है। अभिनय काव्य तत्व को व्याख्या या टिप्पणी के रूप में दृश्य के आधार पर प्रस्तुत करता है अभिनय काव्य के सामूहिक ग्रहण को अधिक प्रभावी बनाता है। यह कई दिनों तक श्रृंखला रूप में चलने वाला नाट्य रूप है जिसमें कथा के घटना स्थल के साथ ही 'अभिनयस्थल' में भी परिवर्तन होता चला जाता है। अभिनय–मुद्राएं, रूप सज्जा और वर्ण योजना नाट्यशास्त्र की रूढ़ियों पर आश्रित होने पर भी बेहद सरलीकृत रूप में स्वीकृत की गई हैं किंतु पोशाक व अलंकार आदि पर मुगल प्रभाव स्पष्ट है।

पंचम अध्याय–

भक्ति संवेदना के विकास में हिंदी रंगमंच का योगदान

मध्यकाल का प्रारंभ 10वीं -11वीं शताब्दी से माना जाता है। भक्ति के उत्थान का तृतीय काल 1400ई .से माना जाता है। इस काल के दौरान हिंदी में जिस साहित्य की रचना हुई वह प्रमुख रूप से भक्ति रस से ओत– प्रोत थी। अतः हिंदी साहित्य के इतिहास में भी यह काल 'भक्तिकाल' कहलाता है। साहित्य समाज का दर्पण है– यह उक्ति जन साधारण में प्रसिद्ध है। साहित्यकार या कवि जिस किसी भी युग में सृजन कार्य करता है उसकी रचना में तत्कालीन समाज का परिवेश अवश्य ही परिलक्षित होता है। प्रत्येक व्यक्ति पर अपने देश के जलवायु, वातावरण तथा परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। यदि देश में अराजकता है आर्थिक रूप से जनता सुखी नहीं है तो इसका प्रभाव कवि पर भी पड़ेगा क्योंकि वह भी समाज का अंग होता है। कवि मन को सृजन करने के लिए समाज की परिस्थितियां ही प्रेरित करती हैं। वह अपनी दूर-दृष्टि के माध्यम से कार्य-कारण संबंध को स्थापित करता है। डॉ.सावित्री शुक्ल का कहना है कि 'कवि समाज का सर्वाधिक भावुक, जागृत एवं चेतन शील प्राणी है इसीलिए अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से अवगत होता है। कवि समाज की प्रत्येक गतिविधि, प्रवृत्ति और परिस्थिति से प्रभावित होकर अपनी प्रतिक्रियाओं तथा अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।'[114] कवि हृदय अपने संवेदनात्मक मन के अंतर्द्वन्द्व को लेखन कला के माध्यम से लोगों तक पहुंचाता है। भक्तिकालीन काव्यों में भक्ति संवेदना मूर्त एवं अमूर्त; दोनों ही रूपों में दिखाई देती है। भक्ति रस में लीन

[114]संत साहित्य की सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि,सावित्री शुक्ल,विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन,लखनउ,संस्करण 1963पृ.सं-33

भक्तों ने लोक रंगमंच के माध्यम से लोगों को भक्ति मार्ग से अवगत करवाया । मध्यकालीन भारत की तत्कालीन भक्ति संवेदना को समझने के लिए ऐतिहासिक घटनाओं की ओर दृष्टिपात करना अनिवार्य है । हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य अनेक भागों में विभक्त हो गया । शांति और सुव्यवस्था में अस्थिरता आने लगी । तत्कालीन देश का कई भागों में विभाजन हो गया था । सभी राज्यों में प्रतिस्पर्धा की भावना भी जिसके फलस्वरूप वे परस्पर संघर्षरत रहते थे । [115] इस कारण उनकी शक्ति कम होती गयी और तुर्कों ने इसी स्थिति का लाभ उठाया ।

भारत वर्ष के मन्दिर उन दिनों संपत्ति का केंद्र बने हुए थे । रंगमंचीय दृष्टि से भी मंदिरों के प्रागंणों का प्रयोग नाट्य मंडपों के लिए हुआ करता था । इसके अलावा मंदिरों की अथाह संपत्ति से तुर्कों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ । ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ से धनलोलुप तुर्कों ने एक के बाद एक आक्रमण होने लगे । इन आक्रमणों से देश का असंख्य धन लूटा और एक से एक भव्य बने देवालय, विद्यालय तथा मठ ध्वस्त कर दिये जिनके साथ भारतीय कला के उत्कृष्ट उदाहरण भी सदा के लिए लुप्त हो गये[116]। इस प्रकार 11वीं शताब्दी से ही भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे । महमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह हमले किये तथा भारत की भूमि विनाश,रक्तपात आदि वीभत्स क्रियाओं की क्रीडास्थली बन गयी । महमूद 999 ई. में गजनी का सुल्तान बना । खलीफा ने उसे 'अमीन-उल-मिल्लत' और 'अमीनुद्दौला' के खिताब प्रदान किए[117]। 1000 ई. में ही उसने भारत वर्ष पर आक्रमण प्रारंभ किया । पहले उसने कुछ सीमावर्ती इलाकों को विजित किया । एक वर्ष बाद भटिंडा के राजा जयपाल पर आक्रमण किया और उसे परास्त किया । महमूद के हाथ अपारधन-संपत्ति लगी । जयपाल बन्दी बना लिया गया । महमूद ने उसे छोड़ दिया पर पराजय से उसे इतनी ग्लानि हुई कि उसने अपने

---

[115]पूर्व मध्यकालीन भारत,अवध बिहारी पाण्डेय,सेन्ट्रल बुक डिपो,इलाहाबाद,तृतीय संस्करण-संवत् 2021वि. पृ.सं-12

[116] वही,पृ.सं -24-25

[117]मध्यकालीन भारत,परमात्माशरण,नन्दकिशोर एंड ब्रदर्स,वाराणसी,द्वितीय संस्करण1951 पृ.सं-61

बेटे को राज्य सौंपकर अग्नि में जलकर प्राण त्याग दिये[118] । सन् 1004 में और सन् 1009 में उसने अपना दूसरा तथा तीसरा आक्रमण किया । इसमें उसने भटिंडा तथा नारायण पुर पर अधिकार किया । 1014 ई. में उसने थानेश्वर पर आक्रमण किया । वहाँ के राजा राम ने उसका बड़ी वीरता से सामना किया पर अंत में विफल होकर भाग गया । महमूद ने चक्रस्वामी के मंदिर को मनमाने ढ़ंग से लूटा जिससे उसे एक विशाल धनराशि प्राप्त हुई । इसी प्रकरण में 1018 ई. में उसने मथुरा के मंदिरों की अपार धन-संपत्ति को हासिल किया । मथुरा के मंदिरों तथा मूर्तियों को तोड़ता हुआ वह कन्नौज गया । वहाँ प्रतिहार शासक राज्यपाल का शासन था । वह महमूद के आक्रमण की बात सुनकर ही, बिना युद्ध किये भाग खड़ा हुआ और महमूद ने वहाँ भी प्रचुर मात्रा में सोना एवं धन हथिया लिया । महमूद का सबसे बड़ा आक्रमण सौराष्ट्र के प्रसिद्ध मंदिर सोमनाथ पर हुआ । यह कठियावाड़ के अरब सागर के तट पर था । वहां मंदिरों का व्यय दस हजार गाँवों की आमदनी से चलता था । इससे गजनवी के आक्रमणों से ही देश में अराजकता फैल गयी । इसी तरह गजनवी के बाद अन्य मुस्लिम शासकों का दौर चलता रहा और भारतीय जनता शासन व्यवस्था से उदासीन होती रही । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दुओं की दशा मध्यकाल में दयनीय थी । न केवल धार्मिक दृष्टि से जनता पीड़ित थी परंतु आर्थिक दृष्टि से भी उनकी दशा दयनीय थी । आम जनता से कर लिये जाते थे । अकबर व जहाँगीर के राज्य काल को छोड़कर शासन और सैन्य पदों पर उन्हें नहीं रखा जाता था । इस दौरान में देश में कई दुर्भिक्ष पड़े । अतः लोगों के लिए मरना अधिक आसान था जीवित रहने की अपेक्षा । गोस्वामी तुलसीदास की इन पंक्तियों से उस समय जनता की क्या दशा थी, उसका अनुमान लगाया जा सकता है–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि।

---

[118]वही,पृ.सं.-62

बनिक को बनिक,नचा कर को चाकरी।

जीविका विहीन लोग सोच मान सोच बस।

कहै एक एक न सो कहां जाई का करी।।[119]

उस समय रोटी की समस्या का भी चित्रण तुलसीदास ने किया है–मातु पिता बाल कन्ह बोला वहिं, उदरभ रइसो ई पाठ पढ़ाव हिं।[120]इन पंक्तियों से यह अनुमान लगाना मुश्किल नहीं कि जनता चारों ओर से हतोत्साहित थी और मात्र भक्ति ही सुलभ मार्ग बच गया था।

इस प्रकार संक्षेप में ही तत्कालीन परिस्थितियों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकाल में हिंदुओं की दशा दयनीय थी । प्रारंभ में हिंदुओं ने मुसलमानों के विरोध का प्रयास किया पर उन्हें प्रत्येक बार असफलता ही हाथ लगी । अंत में उन्होंने परिस्थितियों के आगे घुटने टेक दिये । अपने प्राचीन गौरव को भूलकर वे मुसलमान सम्राटों के प्रत्येक अत्याचार को सहने करने के लिए मजबूर हो गये । उन पर धार्मिक अत्याचार हो होते ही थे । आर्थिक दृष्टि से भी वे कितने सुखी थे यह तो हम उन सम्राटों की नीतियों के तहत देख ही चुके हैं । ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर यह देखा गया कि मुसलमानों के आगमन से हिन्दुओं में पर्दा-प्रथा,बाल-विवाह, जौहर आदि कु प्रथाओं का जन्म हुआ । इन कुरीतियों के बीच हिन्दू जनता के मन में निराशा की भावना आ गयी । हर ओर से हतोत्साहित होकर जब वे भगवान की शरण में गये तो उन्होंने पाया कि हिंदू धर्म बाह्याडंबर से युक्त था । मूर्ति–पूजा से समाज के हिन्दुओं का विश्वास उठ ही गया था क्योंकि भगवान की मूर्तियां स्वयं अपनी रक्षा न कर सकीं । इस प्रकार धर्म से भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी । इसी समय समाज में कबीर, रैदास, नानक आदि भक्त कवियों का आविर्भाव हुआ । इन कवियों के लिए तत्कालीन परिस्थितियां विषम थीं । कवि या साहित्यकार

---

[119] कवितावली,तुलसीदास,गीताप्रेस गोरखपुर,संवत 2000 वि. पृ सं - 225

[120],रामचरितमानस,तुसलीदास,गीताप्रेस,गोरखपुर संवत् 2000 वि. पृ सं- 356

भी समाज का अभिन्न अंग होता है इसलिए तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव कवियों पर पड़ना अनिवार्य था। ये भक्त-कवि उन्हीं परिस्थितियों में जन्मे। मुस्लिम शासकों के अत्याचारों को इन कवियों ने सहा था। साथ ही हिंदू-मुस्लिम जनता के बीच संघर्ष का भाव भी इनके द्वारा अनुभव किया गया। इस प्रकार इन्होंने जनता के समक्ष एक नवीन धर्म उपस्थित किया जो मूर्ति-पूजा जैसे बाह्य कर्मकाण्डों से रहित तथा हिन्दू-मुसलमान, जाति-पाँति आदि के बंधनो से परे था। इन भक्त-कवियों में कबीर का नाम बहुत महत्वपूर्ण है। कबीर तथा अन्य भक्त-कवियों ने यह अनुभव किया कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही अब समाज के अभिन्न अंग है इसलिए यदि इन दोनों में संघर्ष का भाव बना रहा तो समाज में कभी शांति स्थापित नहीं हो सकती। सो, कबीर ने हिन्दू- मुसलमान में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। इनके धर्म के द्वार प्रत्येक जाति तथा धर्मावलंबियों के लिए खुले थे। इन कवियों के अनुसार जब हिंदू तथा मुसलमान एक ही ईश्वर के द्वारा बनाये गये हैं फिर उनमें भेद कैसा ? कबीर दास जी का कहना है-हिन्दू तुरुक का कर्ता एकै। ताकौ गति लखी न जाई[121]।

भक्तिकाल में लिखे गये काव्य का स्वरूप पद्यात्मक था। इन काव्यों के लिए प्रयुक्त होने वाली भाषा यानी अवधी, ब्रज व अन्य बोलियों को हिन्दी भाषा की संज्ञा दी गयी परंतु इन्हीं भाषाओं में लिखे गये लीलानाटक और वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए लिखे नाटकों को हिंदी भाषी नाटक की संज्ञान हीं मिली जिसमें हिंदी के सामान्य साहित्य का बोध होता है जबकि हिंदी नाट्य– साहित्य की मूल परंपरा की प्रेरणा और रूप के विकास के स्रोत निःसंदेह भक्तिकालीन नाटक हैं। अनेक ऐतिहासिक पुस्तकों में लिखा गया है कि मध्यकालीन युग नाटक व रंगमंच की दृष्टि से अंधकार का काल है। इस काल में नाट्य– रचनाएं नगण्य थीं परंतु यह भक्ति साहित्य का अधूरा अध्ययन कहा जा सकता है क्योंकि भक्ति काल में भी क्षेत्रीय भाषा में

[121]कबीर-ग्रन्थावली,सं.श्यामसुन्दरदास,नागरी-प्राचारणी सभा,,काशी,संस्करण सम्वत् 2006वि. पृ.सं - 106

नाट्य– रचनाएं हुईं । इनका मंचन भी होता रहा और साथ ही साथ ये परंपराएं साहित्येतिहास की विलक्षण परंपराएं भी साबित हुईं । भक्ति–आंदोलन,भागवत धर्म का प्रचार और जयदेव, उमापति व विद्यापति द्वारा प्रवर्तित राधाकृष्ण की लीलाएं महत्वपूर्ण हैं । विभिन्न लीला–विषयक सरस पदों के माध्यम से भक्ति–भावना ने जन–जीवन के भावनात्मक तारों को झंकृत किया । फलतः वैष्णव धर्म भी शिव–शक्ति की उपासना की धारा में समान रूप से प्रवाहित होने लगी । तत्कालीन परिवेश में जन–जीवन के प्रत्येक प्रसंग पर शक्ति की प्रधानता के साथ त्रिमूर्तियों की वंदना आवश्यक समझी जाने लगी । ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से देखा जाए तो भक्तियुगीन लोगों का ईश्वर भक्ति की ओर रूख करने का मुख्य कारण राजनीतिक उथल-पुथल को माना जा सकता है ।

भक्तिकालीन काव्य रचना में सूरदास और अन्य कृष्ण भक्त कवि ब्रजभाषा में जिस काव्य की रचना कर रहे थे वह उनके तत्व– दर्शन के लिए हृदय से किया हुआ निर्मल प्रयत्न था । ब्रज भाषा की भक्ति रस की कविता ने कई सौ वर्षों तक, ज्ञान–तत्व की रक्षा के लिए,समाज में वैसा ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था जैसा किसी समय पर उपनिषदों ने प्राप्त किया था । कृष्ण काव्य और रामचरितमानस काव्य में एक अविनाशी, अचिंत्य ब्रह्म– तत्व की ही उपासना की गई है । जो व्यक्ति कृष्ण और राम को उस रूप में देखने या मानने में असमर्थ है, जिसमें सूर और तुलसी ने उन्हें देखा है । इस आंदोलन में हिंदू– मुसलमान, ऊँच– नीच आदि का भेदभाव दूर करके, समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया । यह भक्ति– आंदोलन की महान देन है।

हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन सामान्य जीवन के, राम और कृष्ण मानवीय दिनचर्या में शामिल थे। हिंदी के कृष्ण भक्त कवियों की कृतियों के अनेक संकेतों से तत्कालीन भारतीय समाज के सामान्य जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उसे संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है; समकालीन जनजीवन विपन्न था। जनसाधारण भौतिकता से आक्रांत, उदर पोषण एवं धनार्जन की ही चिंता के व्यामोह का शिकार थी। उच्चवर्ग के लोग विलासिता का जीवनयापन करते थे। किसी महान नैतिक आदर्श के अभाव में सारा समाज आत्म विनाश के पथ पर जा रहा था। जन-सामान्य की इस अनैतिकता प्रधान प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में ही 'कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण के लोकरंजनकारी स्वरूप को प्रतिष्ठित करते हुए जनसाधारण को आध्यात्मिक अधिष्ठान प्रदान करके उसके कल्याण का मार्ग प्रस्तुत किया था। तत्कालीन समाज की धन लिप्सा व भौतिक विलासिता की ओर संकेत करते हुए सूरदास एवं अन्य कवियों ने माया– मोह की विकरालता का चित्रण किया है। ऐसा करके जीवन के नैतिक आदर्शों से परिपूर्ण भक्ति साधना, को प्रस्तुत करने के द्वारा आध्यात्मिकता की ओर जीवन की गति को उन्मुख करने का प्रयास का है। सूरदास ने व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक के जो चित्र प्रस्तुत किए हैं वह भक्तिकाल की विफल व विषमता पूर्ण सामान्य जीवन का आख्यान है। उन्होंने सामान्य जन साधारण को यह समझाने की कोशिश की है कि भगवान की भक्ति के अभाव के कारण ही वह इस प्रकार विफल हुआ है। उसे अनेक विकारों, असंतोष, विलासिता, छल– प्रपंच आदि का शिकार होना पड़ा है। तत्कालीन लोक जीवन की इस प्रवृत्ति का भक्ति के माध्यम से परिष्कार करने में हिंदी के कृष्ण भक्त कवियों ने जो महत्वपूर्ण योग दिया है उसके संबध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है– 'उस युग में मनुष्य की विफलता की पहली सीढ़ी है– आलिंगन, चुंबन परिरम्भन, नखच्चछत, चारु परस्पर हां सी और सूरदास से अधिक किस कवि ने

इस का सफल वर्णन किया है?' सूरदास आदि संत कवियों ने इसी विरुद्ध गामी प्रवृत्ति को भगवान की ओर फेर देने की चेष्टा की और आश्चर्य जनक सफलता पाई। कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं से तत्कालीन ब्रज समाज के रास्ते प्रकारांतर से भारतीय समाज के जीवन क्रम संबंधी अनेक तथ्यों की जानकारी मिलता है। इस बात का भी परिचय मिलता है कि मानव अपनी सुख-सुविधा,अभिरुचि तथा जीवनगत आवश्यकताओं के कारण अनेक उपकरणों का किस प्रकार विकासित किया था। सुविधा की दृष्टि से उन्हें हम आवास, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि श्रृंगारिक वस्तुओं एवं मनोविनोद के साधनों के अंतर्गत विभाजित कर लेंगे।

कृष्ण भक्त कवियों की कृतियों से निवास संबंधी जो संकेत मिलते हैं, वही उनकी कृष्ण भक्ति है जिसके अंतर्गत गोकुल, वृंदावन, बरसाना, मथुरा, द्वारका आदि प्रदेशों को चित्रित किया है। उक्त संकेतों से यह विदित होता है कि कवियों ने तत्कालीन समाज के रहन- सहन को भी काव्य में प्रस्तुत किया है। जैसे निर्धन व्यक्तियों के आवास कच्ची मिट्टी के या घास– फूस के हुआ करते थे। वहीं तो राजा, धनी पुरुष आदि के भव्य विशाल भवन हुआ करते थे। धनी लोगों के आवासों के पास पुष्प वाटिकाओं और उपवनों की भी व्यवस्था थी। सूर के काव्य में नंद भवन की भव्यता तथा कलात्मकता के भी निर्देश मिलते हैं। आवासों में आँगन, झरोखा, छज्जा, ऊँची छत, रसोई घर आदि हुआ करते थे।

कृष्ण भक्ति संप्रदायों के आराध्य देवता श्रीकृष्ण हैं। उनकी लीला भूमि होने के कारण सभी कृष्ण भक्त कवियों ने ब्रज भूमि को अपार महत्व दिया है। इन कवियों ने ब्रज भूमि का इतना महत्व माना है कि वे उसकी धूल बनने की भी कामना करते हैं और तीर्थ– यात्रियों को पाप मुक्त होने के लिए ब्रज भूमि की परिक्रमा करने का उपदेश देते हैं। उनके विचार में ब्रज

भूमि एक ओर कल्प वृक्ष तथा चिंतामणि के समान वांछित फल प्रदान करने वाली है और दूसरी ओर श्रीकृष्ण की लीला भूमि होने के कारण उसकी तुलना में बैकुंठ का वैभव भी तुच्छ है। अतएव वे भगवान कृष्ण के इस लीलाधार को छोड़कर बैकुंठ की प्राप्ति की भी इच्छा नहीं करते और वृंदावन वासियों की अमर भक्ति के कारण उन्हें धन्य मानते हैं। श्री कृष्ण की नित्य विहार स्थली होने के कारण राधावल्लभ संप्रदाय में वृंदावन को नित्य एवं शाश्वत माना गया है। ध्रुवदास जी ने 'वृंदावनलीला' में एक सौ सोलह दोहों में वृंदावन के महत्व की स्थापना की है। निबार्की भक्त कवियों ने भी लीला धाम वृंदावन तथा ब्रजभूमि के विषय में भक्ति भाव अभिव्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में वृंदावन नित्य एवं भगवद्विग्रह-रूप है। वहां के वास से युगल को कृपा एवं युगल रस के आस्वादन का सौभाग्य मिलता है। किशोर राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का प्रमुख रूप से गायन करने वाले चैतन्य संप्रदाय के कवियों ने भी वृंदावन– लीला धाम का गुण गाया है। संप्रदाय मुक्त कवि रसखान की आकांक्षा भक्ति रस से आपूर्ण है। वे किसी भी योनि में जन्म लेने पर वृंदावन में ही निवास करने की आकांक्षा करते हैं। इन सब तथ्यों से वृंदावन संबंधी युगीन धार्मिक मान्यताओं तथा वृंदावन के तत्कालीन भक्ति रस में ओत– प्रोत वातावरण पर प्रकाश पड़ता है।

भक्तिकाल में कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं से समकालीन धार्मिक जीवन की विभिन्न मान्यताओं, आस्थाओं, विभिन्न उपासना– परंपराओं आदि से संबंधित कतिपय तत्वों का भी परिचय मिलता है। भारतीय परंपरा में स्वीकृत पूजाव्रत, तीर्थ यात्रा, तप, यज्ञ तथा कथा– श्रवण आदि धार्मिक कृत्यों का भी उक्त रचनाओं में वर्णन हुआ है। 15वीं शताब्दी तक राजनीतिक परिवर्तन के साथ– साथ वैष्णव नाट्य साहित्य ने धार्मिक सांस्कृतिक आंदोलन का रूप ले लिया था। अपने व्यापक रूप में इस आंदोलन ने समाज के सभी पक्षों और कलाओं को

समृद्ध किया । संत कवियों और नाटककारों ने विष्णु के अवतारों (कृष्ण और राम) को जन साधारण की जीवन– शैली का अभिन्न अंग बना दिया । मंदिर प्रदर्शन की समूची परंपरा का विचार संप्रदाय द्वारा प्रचारित भक्ति और पूजा की संकल्पना से ही तैयार हुआ । वैष्णव धर्म के सांप्रदायिक व्यवहारों में धार्मिक अनुष्ठान और कर्मकांड की विस्तृत संहिताएँ विकसित हुईं । इन नियम– संहिताओं का पालन केवल मंदिरों तक सीमित नहीं था । यह प्रत्येक जन मानस की दिनचर्या में शामिल हो गई । जन– समुदायों के लिए धार्मिक जीवन और वैष्णव संस्कृति से जुड़ी गतिविधियों का प्रमुख स्थान मंदिर हो गया था । मंदिरों के विद्वान आचार्यों द्वारा वैष्णव ग्रंथों का अध्ययन किया जाता फिर संपूर्ण उपदेश को कलाबद्ध कर अपने भक्तों तक प्रचार– प्रसार किया करते थे । इन भक्तों में कई तीर्थ यात्री भी शामिल थे जो एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर यात्रा करते रहते और भक्ति संवेदना को आगे बढ़ाते थे । मंदिरों में होने वाले नाटक, कीर्त्तन समारोह एवं नृत्य प्रस्तुतियाँ जनसाधारण के सामुदायिक जीवन का केंद्र बन गए । मंदिरों में दैनिक अनुष्ठानों के लिए आमुख अलग– अलग प्रस्तुति मंच बने होते हैं । प्रदर्शनों, मंदिरों के बड़े गलियारों, प्रांगणों, चारों ओर भक्त यात्रियों और वार्ताओं के लिए भी मंच होते हैं । कुछ मंदिरों में मंदिर की प्रमुख संरचना के सामने एक मंडप होता है जो या तो चारों ओर से खुला होता है या दीवारों से घिरा हुआ । उसे सभा मंडप, रगंमंडप अथवा नाट्यशाला भी कहा जाता है । दक्षिण भारतीय केरल राज्य के मंदिरों में प्रदर्शन की विशेष परंपरा रही है । 'संस्कृत नाटक का अकेला बचा हुआ प्रस्तुति-रूप कुटिअट्टम बड़े मंदिरों में निर्मित विशिष्ट नाट्य मंडप कुतम्बलम् में दसवीं शताब्दी से बराबर प्रस्तुत किया जाता रहा है । ये नाट्य मंडप पहले नौवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच बने और फिर 15वीं से लेकर19वीं शताब्दी तक इनका निर्माण होता रहा । स्थानीय राजमंदिरों के नाट्य मंडपों में कुटिअट्टम की प्रस्तुति हुआ करती थी । केरल

में स्थित गुरुवायुर का विशाल विष्णु मंदिर में कृष्ण कथा पर आधारित कृष्णाट्टम का प्रस्तुति स्थल रहा है। चार शताब्दियों से वहां का एकनाट्य दल कृष्णाट्टम का प्रदर्शन करता आ रहा है। भक्तिकालीन वैष्णव-भक्ति को जन- जन तक पहुंचाने और लोगों में विष्णु के अवतार के लिए, श्रद्धेय भाव को उजागर करने में नाट्य– रचनाओं और मंच प्रदर्शन का विशेष योगदान रहा है। आज भी इन प्रदर्शनों का विशेष महत्व है। इसमें दक्षिण भारतीय संस्कृति का विशेष महत्व है। भरत के नाट्यशास्त्र में जिस रस-निष्पत्ति की बात कही जाती है वह भक्ति– साहित्य के विरचित नाटकों में उद्धृत होती है किंतु रंगमंचीय अवधारणा लोकधर्मी नाट्य के गुण उजागर होते हैं। सर्वप्रथम नाटकों में मुख्य चरित्र विष्णु के अवतार हैं। इन पौराणिक कथाओं की विशिष्टता है कि यह लोगों के बीच अधिक प्रचलित और लोकप्रिय होती हैं। इससे मंदिर नाटक में उन घटनाओं की प्रस्तुति की जाती है जो देवताओं के जीवन में,पौराणिक अतीत में घटित हुई थीं; अतः उसमें समय की एक विशिष्ट प्रकृति होती है। मंदिरों में नाट्य– प्रदर्शन के समय होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों में, अभिनेता और दर्शक दोनों ही शामिल होते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों के साथ–साथ मंचन के लिए मंदिर नाटक को भली– भांति समझना आवश्यक होता है। प्रदर्शन के प्रसंग, उसकी तैयारी, अनुष्ठान, प्रदर्शन के अंगस्वरूप समारोहों-समापन आदि सब कुछ एक निश्चित विधि द्वारा किया जाता है। इन प्रदर्शनों में समय का अत्यधिक महत्व माना जाता है। मंदिर नाटकों का प्रदर्शन देवताओं के जन्मदिवस या उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को प्रस्तुत करने के लिए होता है। जैसे– रासलीला और रामलीला,जो वर्ष में एक बार श्रृंखला– नाट्य के रूप में प्रस्तुत होती है। तमिलनाडु के भगवतमेला में,मई के महीने में, प्रतिवर्ष नरसिंह जयंती मनाई जाती है। असम में सत्र परंपरा के संस्थापक महाप्रलय शंकरदेव के जन्म और मृत्यु की तिथियों के स्मरणोत्सव के रूप में वैष्णवनाट्य 'अंकियानाट' प्रस्तुत किया जाता है। मंदिर नाटकों में

समय के साथ–साथ नाट्य-प्रदर्शन के अन्य तत्व: वेशभूषा, मुखौटे और मुकुट का भी विशेष महत्व है । धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़े प्रदर्शन के प्रारंभ होने से पूर्व मुखौटों और मुकुटों की पूजा होती है और अभिनेता मुखौटा पहनने से पूर्व आदर भाव से सिर झुकाकर, आस्था के साथ उसे पहनता है । सभी मंदिर नाटकों में अभिनेता द्वारा मुखौटे और शिरोभूषा को पहनना अभिनेता द्वारा वेशभूषा धारण करने का एक उत्सवी अनुष्ठान एवं अंतिम कृत्य होता है । प्रदर्शन की समाप्ति पर इसका उतारना भी उत्सवी भाव से होता है । प्रह्लाद नाटक में जब अभिनेता भावावेग की स्थिति में होता है तो उसे शांत करने के लिए उसका मुखौटा मंदिर में वापस लाया जाता है । हिंदी नाटक और रंगमंच के इतिहास के अनुसार मंदिरों में प्रदर्शन की परंपरा महत्वपूर्ण मानी जाती है इसका प्रमुख कारण काव्य, संगीत, नृत्य एवं संबधित कलाओं के श्रेष्ठगुणों से युक्त वैष्णव धर्म की समूची संस्कृति में इसकी महत्ता है । इन प्रदर्शनों के दर्शक समाज को गिना नहीं जा सकता । इनकी संख्या असंख्य है और इस का इतिहास भी कई शताब्दियों का है । मंदिर में प्रदर्शित होने वाली नाटक भारतीय नाटकीय कार्यकलाप का एक महत्वपूर्ण अंग है । जो कहानियां मंदिर नाटकों में प्रस्तुत होती हैं वह लोकपरक एवं मानवीय मूल्यपरक हैं । इसके साथ ही प्रेक्षागृह का निर्माण भी एक महान धार्मिक अनुष्ठान माना गया है । इसकी पूजा में सभी देवी-देवताओं तथा चर-अचर; सभी प्राणियों को सम्मिलित किया जाता है और नाटक की सफलता के लिए सभी से प्रार्थना भी की जाती है । रंग पूजा का महत्त्व अत्यधिक है । वस्तुतःरंगपूजा के बिना नाट्य-प्रयोग की सफलता की संभावना ही नहीं मानी जाती । भरत ने नाट्यगृह का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें कुछ व्याख्या गत मतभेदों के रहने पर भी एक उन्नत नाट्यशाला की दृष्टि मिलती है । इससे यह भी स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि उस समय तक भारत में नाट्य-कलापूर्ण रूप से विकसित कला के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी । इस समृद्ध युग के उपरांत नाटक अनेक शताब्दियों तक ह्रासोन्मुख ही रहा परंतु विगत 12-13वीं शताब्दी में नाटक तथा उसका रंगमंच लोक-जीवन से ही प्रेरणा प्राप्त करता

रहा और उसी के सहारे जीवन्त भी रहा । आधुनिक युग में यूरोप के सीधे संपर्क में आने के फलस्वरूप यूरोपीय रंगमंच के अनुकरण पर भारत में भी रंगमंच का विकास करने का बहुत प्रयास किया गया । कुछ प्रांतो को अपनी परंपरा के आधार पर नाट्य-कला एवं रंगमंच के विकास में आंशिक सफलता मिली है परंतु ये रंगमंच अपनी सफलता में भी यूरोपीय यथार्थवादी रंगमंच की ही ओर अधिक अग्रसर हुए हैं । हो सकता है कि आधुनिक नाट्यकला तथा रंगमंच उसकी नवीन उद्भावना और संभावना को आत्मसात कर ले।

साहित्य और समाज का घनिष्ठ संबंध है । आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है । जनता की चितवृत्ति का निर्माण बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होता है [122] ।' भक्तिकाल में भारतीय समाज जिन तत्त्वों के ताने-बाने से निर्मित हुआ है उनमें धार्मिक विश्वासों, रीति-रस्मों और आचार-विचार की पद्धतियों के संस्कार मौजूद रहे हैं । मध्यकालीन धर्मसाधना में प्रायः सभी पूर्ववर्ती प्रमुख धर्मसाधनाएं किसी-न-किसी रूप में पायी जाती हैं – अपने मूल रूप में अथवा कुछ परिवर्तन के साथ । बृहदारण्य कोपनिषद् (2/4/11) के वेदमार्गी,'एकायन' धर्म तथा लोकधर्मी 'लोकायन' धर्म जैसी कुछ अन्य धर्मसाधनाएं भी अवश्य ही मौजूद रही होंगी । फिर भी शैव, शाक्त, भागवत (वैष्णव), सौर, गाणपत्य जैसे प्रमुख धर्मों के न्यूनाधिक अनुयायी पाये जाते थे जिनमें ज्ञान,योग तंत्र अथवा भक्ति की प्रवृत्तियां प्रचलित थीं[123] । मध्यकालीन धर्मों में हिन्दू,जैन,बौद्ध,पारसी,यहूदी व ईसाई प्रमुख थे जिनका संपर्क-द्वार

---

[122]हिन्दी साहित्य का इतिहास,रामचन्द्र शुक्ल,नागरी प्रचारणी सभा,काशी,संवत् 2025वि. पृ.सं -3

[123]हिन्दी साहित्य का इतिहास,डॉ नगेन्द्र,डॉ हरदयाल,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,2008 पृ.सं-93

उन्मुक्त था । इस दौरान हिंदू व इस्लाम धर्म में समन्वय की स्थिति पैदा होती है । हिंदू धर्म इस्लाम के संपर्क से मात्र व्यक्तिगत साधना का केन्द्र न रहकर सामूहिक साधना का रूपधारण करने लगा था और उसमें आंदोलनकारी प्रवृत्तियां उभरने लगी थीं । फलस्वरूप प्रायः सभी धर्मों में युगानुरूप परिस्थिति के अनुसार पंथों,संप्रदायों और उप-संप्रदायों तक की सृष्टि होने लगी । इनका मुख्य उद्देश्य आत्म निरीक्षण और परिस्थिति के परीक्षण द्वारा आवश्यक सुधार करके, परंपरागत आचार-विचारों को किसी-न-किसी रूप में प्रश्रय देकर उन्हें जीवित रखना था । इस प्रयास में वैष्णव धर्म ने भागवत संप्रदाय के रूप में नेतृत्व किया और व्यापक प्रभाव डाला जिसके माध्यम से भक्ति-आंदोलन का सूत्रपात हुआ । उसके अनुकरण में, अन्य धर्मों ने भी अपनी-अपनी सीमाओं में, आवश्यक संशोधन-परिवर्द्धन किया।

भक्तियुग में अंकित काव्यानुभूति में रंगमंच का महत्वपूर्ण स्थान रहा है जिससे भक्ति विषयक लोकपारंपरिक शैलियों की प्रधानता दिखाई देती है । भक्ति के रंगमंच पर विस्तार से चर्चा करने से पहले वैष्णव धर्म के कुछ मुख्य तत्वों को जानना आवश्यक है । भक्तिकालीन काव्य में वैष्णव धर्म का विशिष्ट स्थान है जो योग साधना का परवर्ती रूप होने के कारण भक्ति से हमेशा प्रभावित दिखाई देता है । पांचरात्र के माध्यम से तंत्र साधना के तत्त्व भी इसमें किसी-न-किसी रूप में समाविष्ट हैं । वैष्णव धर्म के धर्म प्रवर्तकों द्वारा दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या की गई है जिससे द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, भेद-अभेद व शुद्धाद्वैत आदि संप्रदाय सामने आए । वैष्णव धर्म के अतिरिक्त शाक्त धर्म में भी दक्षिण मार्गी और वाममार्गी नामक दो प्रकार की श्रेणियाँ बनने लगीं । इनमें सेवा मार्गी लोग शाक्तों के प्रति विरक्ति युक्त अनास्था प्रकट करते थे और यह ईश्वर के निराकार रूप को माना करते थे । इसके अतिरिक्त हिंदू धर्म को सुव्यवस्थित करने के लिए शंकराचार्य ने स्मार्त संप्रदाय की स्थापना की जिससे पंचदेवोपासना की पद्धति प्रचलन में आयी । इस पद्धति की वजह से जन-साधारण काम न

अंधविश्वास की ओर अग्रसर हो गया । इससे भक्ति काव्य में उपस्थित मूल संवेदना धूमिल-सी पड़ने लगी । फिर तीर्थस्थल और मंदिर व्यापार के केंद्र जैसे लगने लगे । पंडों-पुरोहितों का आचार-व्यवहार मर्यादा का उल्लंघन करके उच्छृंखलता की कोटि तक पहुंच गया । तत्कालीन परिस्थितियों को देखकर भक्त-कवियों ने अनुभव किया कि हिन्दू-धर्म बाह्य कर्मकाण्डों से युक्त है । अतः धार्मिक बाह्यआडंबरों में विलुप्त जनता को संदेश दिया गया कि माला पहनने या मूँड मुँड़ाने का कोई ज्यादा फायदा नहीं है । सच्चे हृदय से ईश्वर का नाम लेना चाहिए । बाह्य कर्मकाण्ड व्यर्थ हैं। इस पर कबीर ने कहा–

माला पहन्याँ कछु नहीं, गाँठि हिरदा की खोई।

हरि चरनूँ चित राखिये, तो अमरा पुर होई।।[124]

तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करते हुए हमें इस्लाम धर्म की ओर भी विचार करना जरूरी है । यह वह दौर था जब हिंदू धर्म के परस्पर ही इस्लाम धर्म भी लोगों के बीच अपना पैर पसार रहा था । जब भारत पर मुगलों ने आक्रमण किया तब उनका उद्देश्य केवल भारत पर राज ही करना नहीं था । वे अपने धर्म और संस्कृति का भी विस्तार चाहते थे । तत्कालीन सामाजिक परिवेश में हिंदू धर्म के अतिरिक्त इस्लाम धर्म शरा और बेशरा दो प्रकार की कोटियों में विभक्त था । इनमें शरा सनातनी हैं और बेशरा मस्तमौला फकीर जो कभी-कभी पीर-पैगम्बर के चमत्कार पूर्ण करिश्मों का आश्रय लिया करते हैं । ये अपने क्रियाकलापों में इस्लाम के मूल सिद्धांतों की उपेक्षा तक कर दिया करते हैं । इनका एक समुदाय 'मजजूब' नाम से प्रसिद्ध है जिसके अनुयायी न तो रोजा-नमाज़ को मानते हैं और नहीं पैगंबर के प्रति आस्थावान हैं । बेशरा साधक 'मलामती' कहलाते हैं जो खुदा के कृपा मात्र समझे जाते हैं ।

---

[124]कबीर ग्रंन्थावली,श्यामसुन्दर दास,नागरी प्रचारणी सभा,काशी,संवत् 2006 विक्रम पृ.सं-24

बेशरा संप्रदाय के अंतर्गत मदारी, मलंग, कलंदरी, रसूलशाही,लालशाह बाजिया,मूसा सुहागिया आदि कई उप संप्रदाय हैं। इनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं[125]।

भारतीय इस्लाम धर्म में सूफी मुख्यतः बेशरा संप्रदाय के हैं। ये इस्लाम धर्म के अनुयायी तो हैं लेकिन सनातन पंथी मुसलमानों से मेल नहीं खाते। इस प्रकार के संप्रदायों में पांच मुख्य रूप हैं-चिश्ती,कादिरी,सुहरावर्दी,नक्शबंदी और शत्तारी। चिश्ती संप्रदाय के दो उप संप्रदाय हैः साबिरी और निजामी। फिर निजामी की दो शाखाएं हैं-हिशामी और हाज शाही। इसी प्रकार अन्य संप्रदायों की शाखाएं मिलती हैं। इनमें आगे देखा जाए तो नक्शबंदी सूफियों को सनातनी मुसलमानों में बहुत सम्मान प्राप्त था। मुस्लिम शासक औरंगजेब इन्हीं सूफियों का मुरीद था। इन्हें संगीत व नृत्य के अतिरिक्त पीर पूजा,समाधि पूजा और दीपदान जैसी पद्धति स्वीकार्य नहीं थी। इनमें से कुछ धार्मिक पाबंदियों के प्रति उदासीन आचरण रखते थे। जो हो, सूफी-संप्रदाय भी भक्ति-आंदोलन के प्रभाव से अछूता न रह सका। उसकी भक्ति प्रेमाभक्ति के सांचे में ढ़लने लगी थी। भक्तिकालीन साहित्य के भक्त कवियों की रचनाओं में हिंदू और मुस्लिम की संस्कृति में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। इस ओर पहल करने वाले भक्त कवि मलूक दास हैं जिनका विश्वास था कि हिंदू और मुसलमान दोनों का ही शरीर पाँच तत्वों द्वारा निर्मित है। दोनों में एक ही ब्रह्म की सत्ता है। फिर दोनों में भिन्नता की कल्पना करना व्यर्थ है। इस पर भक्त कवि गुरु नानक का कहना है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही ईश्वर के बन्दे हैं-

बंदे एक खुदाय है, हिंदू-मुसलमान। दावा रामरसूल कर लड़ दे बेइमान[126]। तत्कालीन राजनीतिक सत्ता परिवर्तन से सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन दिखाई देने लगा था। अतः

---

[125]हिन्दी साहित्य का इतिहास,डॉ नगेन्द्र,डॉ हरदयाल,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,2008 पृ.सं-95

[126]आदि ग्रन्थ साहिब,गुरुनानक,शिरोमणि गुरु द्वारा प्रबंधक कमेटी,अमृतसर,संस्करण सन् 1953 पृ.सं - 335

भक्त कवियों ने समाज में संतुलित व्यवस्था कायम करने के लिए हिंदूओं एवं मुस्लिमों के धार्मिक आडंबरों के प्रति उदासीनता का भाव अपनाया और दोनों के बीच काव्य के माध्यम से समन्वय की स्थिति पैदा करने की कोशिश की । मुख्यतः इस प्रयास को सफल बनाने में भक्तिकालीन रंगमंच ने अपनी अहम भूमिका निभाई । भक्ति-साहित्य में संस्कृत जैसी नाट्य परंपरा तो हमें नहीं मिलती है परंतु लोकपारंपरिक रंगमंच का आविर्भाव हमें भक्तिकाल में ही दिखाई देता है । भक्तिकालीन नाट्य-परंपरा से पहले भारतीय नाट्य परंपरा से जुड़े कुछ पहलूओं का अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक के प्रधान अंग तीन ही माने गये हैं– वस्तु, नेता और रस । प्रत्येक इन अंगों का क्रमशः महत्व है । भारतीय काव्यशास्त्र का दृष्टिकोण रसवादी रहा है ।अत एव रस पर ही सर्वाधिक बल दिया गया है । इसके विपरीत पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू ने प्रत्येक त्रासदी के छः अंग स्वीकार करते हुए कथानक पर अधिक जोर दिया है । ज्ञातव्य है कि कथानक किसी भी नाटक का साध्य नहीं अपितु साधन मात्र है । घटनाओं में जब तक मानव तत्व का समावेश नहीं होता है तबतक वह आकर्षक नहीं बन सकती है । मनुष्यों के लिए जिस घटना में मानव तत्व की जितनी ही कुशल और सफल अभिव्यक्ति होती है, वह घटना उतनी ही आकर्षक और आनंददायक होती है । भरतमुनि ने लोकधर्मी नाट्य-परंपरा की रूपरेखा बताते हुए कहा है कि लोकधर्मी नाट्य में अनेक पुरूष और स्त्री पात्रों का समावेश होता है । इसमें अकृत्रिम या स्वाभाविक अभिनय का प्रयोग भी अपेक्षित है । अंग लीला आदि का वर्जन होना चाहिए और इसकी कथावस्तु लोकवार्ता से ही गृहीत हो।[127] भरतमुनि के इन कथनों से सामान्यतः दो बातें हमारे समक्ष स्पष्ट रूप से उपस्थित होती हैं– पहली यह कि लोकधर्मी नाट्य परंपरा का स्रोत अति प्राचीनकाल से ही उस पहाड़ी नदी के समान चला आ रहा है जो अनवरत

[127]स्वभावभावोपगतं शुद्ध तु विकृतं तथा। लोकवार्ता कियोपेतमगलंलीला विविजिंतम् ।। स्वभावाभिनयोपेतं नाना स्त्रीपुरुषाश्रयम्। यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोक धर्मी तु सास्मृता ।।,भरतमुनि,नाट्यशास्त्र,13-8182

रूप से भीतर-ही-भीतर बहती रहती है लेकिन जब कभी मार्ग से शिला हट जाती है तो वह शीघ्र ही सिर उठाकर अपने अस्तित्व की सूचना दे देती है। पुनःकठोर शिलामार्ग में आने पर कुछ क्षणों के लिए वह दृष्टि–पथ से ओझल हो जाती है किंतु वह नदी सूखती नहीं है। उसका स्रोत अविच्छिन्न रूप से बहता ही रहता है। दूसरी, नाट्यधर्मी परंपरा भी तब तक पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकती है जबतक लोक प्रमाण के द्वारा वह सिद्ध नहीं हो जाती है। अतएव शास्त्रीय नाटक के लिए भी लोक प्रमाण आवश्यक रूप से अपेक्षित है।

भक्तिकालीन लोकधर्मी नाटकों में लोकजीवन विविध रूपों में प्रतिबिंबित हुआ है। इसके कथानक, संवाद, गीत और अभिनय सामाजिक विश्वास, रूढ़ि, रीति–रिवाज, परंपरा और विचार-सरणी पर आधारित रहे हैं। भक्तिकालीन लीलानाटक इन तत्त्वों को लेकर ही अवतरित हुए हैं जिससे उन नाटकों में लोक–विश्वास सहज रूप से दिखाई देता है। तत्कालीन नाटकों में आंचलिकता और भक्ति-संवेदना की छाप स्पष्टतः विद्यमान है। साथ ही ऐसा माना जाता है कि अधिकाधिक जन-नाट्य का मंचन करने के लिए लोक-गीतों की कड़ियां जोड़ दी जाती थी। लौकिक आचारों – विचारों को लोक भाषा में ही प्रस्तुत किये जाने के कारण इसमें जन-बोध गम्यता का समावेश अनायास ही हो जाता था। 'लोक-नाटकों की भाषा काव्यमयी होती है। ये नाटक सामूहिक अभिव्यक्ति के साधन हैं। पद्यात्मक संवादों द्वारा समूह की कल्पना शक्तिभावों को ग्रहण करने का सामर्थ्य रखती हैं, इसीलिए इनमें गद्य का प्रभाव कम ही होता है। गद्य का प्रयोग भांड़ों के हास्यात्मक अभिनय अथवा इतिवृत्तात्मक प्रसंगों में किया जाता है। ऐसा गद्य भी प्रायः पद्यात्मक होता है जहां शब्दों की लड़ियां एक दूसरे से गुंथी हुई द्रुतगति से आगे बढ़ती हैं। पद्यबद्ध संवादों की परंपरा मध्यकाल के पूर्व से निरंतर चली आ रही है। लोक में उसका प्रभाव परंपरा से पोषित होता चला आया है इसीलिये लोक–मानस पर भक्तिकालीन नाटकों की छाप तुरंत पड़ी। प्रायः देखा जाता है कि पद्य बद्ध संवादों में कथन की बारीकियां दर्शकगण

उसी भाँति पकड़ते हैं जिस तरह संवेदनशील कलाकारों की रचनाओं के उत्कृष्ट भाव कुशल पाठकगण ग्रहण करते हैं। ऐसे अनेक अंश इन नाटकों में होते हैं जो लोक–गीतों की धुनों में गाये जाते हैं और लोक–भाषा की पुरानी शब्दयोजना में अवगुंठित होते हैं । अतः इनमें साधारणीकरण की संपूर्ण क्षमता विद्यमान रहती है।'[128]

लोकनाट्य पारंपरिक शैली के नाटकों में लोकभाषाओं और लोकगीतों का संपूर्ण प्रयोग किया गया था। इसी वजह से भक्ति पूर्ण नाटक लोगों के बीच अपना अस्तित्व बना पाये अपने कथ्य एवं अभिनय कौशल से प्रभावशाली रूप में अपना वजूद स्थापित करते गए । भारतीय नाट्य साहित्य के विविध प्रदेशों में विभिन्न प्रकार के जन-नाटक प्रचलित हैं। जैसे बंगाल में यात्रा, कीर्तन एवं कवि नाटक, असम में ओजा–पाली और झूमर, बिहार में विदेशा तथा जालिम सिंह उत्तर प्रदेश में रासलीला, रामलीला व नौटंकी, गुजरात में भवाई और महाराष्ट्र में तमाशा आदि। इन नाटकों की विशेषता यह है कि विभिन्न दूरस्थ प्रदेशों में ,अनेक रूपों में होते हुए भी, इनमें एक सूत्रात्मकता पायी जाती है। 'उपर्युक्त सभी विभेदों में सामान्य रूप से संगीत की व्यापकता थी और गद्य भाग प्रायःउपेक्षित रहा। रंगमंच का कोई महत्व नहीं था और वेशभूषा तथा प्रसाधन अत्यंत गौण समझे जाते थे। संगीतमय वातावरण के निर्माण का लक्ष्य होने के कारण उनमें नाटक के अन्य तत्व (चरित्र , चित्रण, संघर्ष, क्रिया व्यापार आदि) अनपेक्ष माने जाते थे'[129]।

उपरोक्त विशेषता के तहत भक्ति कालीन लोक पारंपरिक शैली में लोक नृत्य एवं लोकसंगीत का प्रयोगात्मक स्वरूप परिलक्षित हुआ। अतः इस परंपरा में मैथिली नाटकों की

---

[128] प्राचीन भाषा नाटक,डॉ दशरथ ओझा,जगदीशचन्द्र माथुर,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,1975पृ,सं. 9

[129]हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास,दशरथ ओझा,राजपाल एंड सन्त,दिल्ली, 2003 पृ. सं - 49

विशेष भूमिका रही है। इन नाटकों के लिए प्रयुक्त रंगमंच भी अधिक प्रभावशाली रहा है। ये मैथिली नाटक कई कारणों से तीन विभिन्न धाराओं में विभक्त हो जाते हैं। अतएव उसका उद्भव और विकास देखने के लिए, इन तीनों विभिन्न धाराओं के परीक्षण के पश्चात् इनके सामान्य तत्व अथवा एक सूत्रात्मकता का अनुसंधान अपेक्षित है। यह कार्य विवादास्पद अवश्य ही है किंतु इससे भक्तिकालीन नाटक एवं रंगमंच की भव्य परंपरा के बारे में मालूम पड़ता है। मिथिला के नाटकों को कीर्तनियां नाटक कहा जाता है जिस पर बंगाल के कीर्तन का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। मैथिली नाटकों पर संस्कृत के नाट्यशैलियों का भी गहरा प्रभाव तो है ही, साथ ही वहां की लोकसंस्कृति का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ा है। नेपाल के मैथिली नाटकों की रचना तो अधिकांशतः संस्कृत नाट्यशैली पर ही हुई है। इस प्रकार उन जन–नाटकों पर विचार–विमर्श करना अत्यंत आवश्यक है जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मैथिली नाटकों को प्रभावित किया है।

यात्रा और नाटक इन दोनों के बाह्य रूपों में अनेक समानताएं पायी जाती हैं किंतु यात्रा में दृश्य–योजना, पर्दा अथवा भारतीय रंगमंच के अनुरूप व्यवस्था नहीं होती। ये नाटक खुले मैदान में ही अभिनीत होते हैं। दर्शक गण भूमि पर ही बैठते हैं। जिस गाँव में यह नाटक अभिनीत हो रहा होता है उस गाँव की ओर से यदा – कदा कम्बल या दरी आदि की व्यवस्था कर दी जाती है। यात्रा नाटक में अन्य नाटकों की अपेक्षा गीतों की बहुलता रहती है। प्रायः यात्रा के सभी पात्र अपने स्थान पर बैठकर ही गाते हैं और केवल दो या तीन पात्र खड़े होकर गीत के द्वारा अथवा कथोपकथन के द्वारा आगे होने वाली घटनाओं की सूचना दे देते हैं। इन समानताओं के होते हुए भी यात्रा और नाटक में मौलिक भिन्नता भी है। यात्रा का लक्ष्य साधारणतया मानव में अंतर्निहित शूरता, भक्ति, प्रेम आदि की भावनाओं और संवेदनाओं को प्रदर्शित करना है–उन्हें प्रकाश में लाना है। नाटक का उद्देश्य चरित्रों का निर्माण या किसी

विशेष घटना - स्थिति के संदर्भ में उनका वर्णन करना अथवा उनका रेखा चित्र खींचना है। यह संसार अनेक प्रकार के कार्यों का क्षेत्र है। कोई भी कार्यरत व्यक्ति इन कार्यों के बीच ही साँस ले रहा है। वह या तो अपना निर्माण करेगा या अपना विनाश ही कर लेगा किंतु उसकी अंतरात्मा उसके कार्यों के माध्यम से प्रकाशित होती रहेगी। यही कार्य अथवा नाटक की आत्मा है और इन कार्यों के बदले भावनाओं और संवेदनाओं का विस्तार ही यात्रा–नाटक के प्रधान उद्देश्य का निर्माण करता है। अतएव वास्तव में, यात्रा को देश का नाटकीय उपकरण कहा जा सकता है।

यात्रा की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत पाये जाते हैं। कोई इसे वैदिक काल से भी पूर्व ले जाते हैं तो अन्य विद्वान इसे बहुत समय पश्चात तक खींचकर ले आते हैं। वास्तव में यात्रा और नाटक की उत्पत्ति एक ही मूल से हुई है किंतु नाटक उच्च सुसंस्कृत एवं सुसभ्य आर्यों की देन है। वह अपनी रचना एवं रंगमंचीय प्रदर्शन में पूर्णता को पहुँच गया था। जब प्रतिरोधियों के प्रभाव से उसका पतन हो गया तो मध्यकाल में आकर देश में यात्रा आदि रूपों का प्रचलन हुआ। इन रूपों ने पर्याप्त लोकप्रियता भी प्राप्त की। नाट्य साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. ओझा के अनुसार यात्रा नाटक की शैली को देखकर हमें यह प्रतीत होता है कि यह वैदिक काल से भी पूर्व विद्यमान रहा होगा। देव–प्रतिमा के जुलूस के साथ उसका संबंध इस बात का प्रमाण है कि यह नाटक मानव इतिहास के उस युग में प्रचलित हुआ होगा जब संसार की विभिन्न जातियां शुरुआत में अपने उपास्य देव की प्रतिमाएं जुलूस के रूप में निकालकर नृत्य और संगीत के साथ अभिनय किया करती थीं। हमें मेसोपोटामिया के प्राचीन इतिहास से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसा के चार सहस्त्र वर्ष पूर्व वहां की सुमेर जाति में इसी प्रकार देव प्रतिमा के जुलूस के साथ नाटक प्रचलित था। अतएव इसी सिद्धांत को मान लेने में क्या आपत्ति हो सकती है कि भारत के मूल निवासी अपने आराध्य देव की प्रतिमा का जुलूस निकालते समय

जिस नृत्य–गीत तथा नाट्य का अभिनय किया करते थे, वही कालांतर में यात्रा नाम से पुकारा जाने लगा होगा।[130]

यात्रा–नाटक के बारे में यह बात सत्य है कि वह मुगल- शासन से पूर्व प्रकाश में नहीं आ सका। मुसलमानी शासन के समय जब नाटक के रंगमंचीय प्रदर्शन पर प्रतिरोध लगा दिया गया तो समय पाकर यात्रा–जिसमें धार्मिक और पौराणिक उपाख्यानों का संनिवेश था - अस्तित्व में आई[131]। इस परिधि में विद्यापति का एक नाटक 'गोरक्षविजय' को देखा जा सकता है जिसमें कीर्त्तन नाटक, चरित्रात्मक नाटक एवं शास्त्रीय शैलियों का मिश्रण है। यदि प्राचीन यात्रा की ओर ध्यान दिया जाए तो ये वे यात्राएं थीं जो बंगाल में प्रचलित थीं इनमें शक्ति-संप्रदाय एवं शक्ति की पूजा- अर्चना की ही प्रधानता थी। तत्कालीन परिस्थितियों में इस शैली का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है जिस कारण से यह नाट्य - साहित्य के एक अंग या अंश के रूप में ही स्थान पा गयी। मार्कण्डेय पुराण के आधार पर इस शक्ति यात्रा का अभिनय होता था। यद्यपि दुर्गा सप्तशती में वर्णित देवी के विभिन्न चरित्रों का अनुकीर्तन किया जाता था तथापि धीरे–धीरे वैष्णव धर्म का प्रचार तथा प्रसार होता चला गया व शक्ति का स्थान विष्णु व कृष्ण ने ले लिया। जयदेव, विद्यापति और चंडीदास के कृष्ण की लीलाओं से संबंधित पदों ने यात्रा के क्षेत्र में एक क्रांति ला दी। इन गीतों में कुछ नाटकीय तत्व–कथोपकथन आदि–विद्यमान थे और यात्रा में गीति तत्व का प्राधान्य होने के कारण इन गीतों को अपनाने में सुविधा हुई होगी। इसी कारण, संभवतः इन गीतों के आधार पर ही कृष्ण यात्रा का इतना प्रचार होता गया। जब तक शक्ति का प्राधान्य रहा तब तक 'यात्रा' शब्द से ही अभिहित किया जाता रहा। किंतु कृष्ण की लीलाओं के समावेश के पश्चात् इसी यात्रा को 'कृष्णयात्रा' के नाम से संबोधित किया जाने लगा

---

[130]वही पृ. सं - 53

[131] The Indian stage vol. I-P, page no. – 112, In fact, when a dramatic performance was forbidden under the Mahomedan rule, Jatras dealing with religious and mythological themes, came in to existence.

। जब वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार बढ़ने लगा तो कवियों का ध्यान काव्यात्मकता की ओर अधिक होने लगा जिससे गीतों की भाषा जटिल होती गई । सो साधारण जनसमाज उसे ग्रहण करने में असमर्थ होने लगे । भक्तिकालीन कवि एवं वैष्णव भक्त प्रेमचंद ने इन गीतों को गाना शुरू किया जिससे इन गीतों की ख्याति बढ़ने लगी । जयदेव और विद्यापति की कोमलकांत पदावली ने इतनी लोकप्रियता हासिल कर ली थी कि उनके पदों का कीर्तन करते भक्त थकते नहीं थे । प्रारंभ में जहां इसमें केवल सर्वशक्तिमान की दयालुता, परोपकारिता, क्षमाशीलता आदि गुणों का गान होता था वहीं भक्ति काल में जयदेव और विद्यापति के प्रभाव के कारण राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के आध्यात्मिक प्रेम का गान होने लगा । प्रेम के प्रत्येक पक्ष पर पद उपलब्ध रहने के कारण इन विषयों पर भी कीर्तन होने लगे । मनोभावों को उत्तेजित करने वाले वाद्ययंत्रों का प्रयोग वर्जित था किंतु अब उनका भी प्रयोग होने लगा । कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति रस ने लोगों के बीच अपना स्थान बना लिया था । भक्ति का प्रेम रूप आमजन के बीच अधिक प्रचलित हुआ । लोकधर्मी पारंपरिक शैलियों में ईश्वर आधारित चरित्रों का निर्माण किया जाता रहा और उन्हें विभिन्न लोकनाट्य तत्वों के माध्यम से खेला जाता रहा । इस प्रकार से भक्तिकालीन भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए एक मंच उपलब्ध हुआ । तत्कालीन पौराणिक कथाओं के माध्यम से रंगमंच पर नाटक खेले जाने लगे । भक्ति को सभी तक पहुँचाने का बेहतरीन मार्ग बन गया ।

कीर्तनियां नाटक की मूल प्रेरणा इसी कीर्तन से है । भक्तों ने अपने आराध्य के लिए गीत-संगीत का नव प्रयोग करके कीर्तन को अपना भक्तिमार्ग बनाया जिस समय मिथिला और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु की वाणी कीर्तन के द्वारा कृष्ण लीला को उत्कर्ष प्रदान कर रही थी, उन्हीं दिनों नेपाल के दरबारों की गीति–नाट्य परंपरा के साथ, मिथिला की जनता में कीर्तनियां का अभ्युत्थान हुआ । इस शैली के नाटकों में शास्त्रीय एवं लौकिक; दोनों के ही तत्व विद्यमान हैं

। इन नाटकों में वर्णित राधाकृष्ण विषयक विभिन्न लीलाओं पर जयदेव के गीत-गोविन्द का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। मध्ययुगीन नाटकों का जिस तरह की रंगशालाओं में अभिनय होता था और उन्हें प्रस्तुत करने की जो शैलियां प्रयोग में लाई जाती थीं उनका आज कई सौ वर्ष के बाद भी असम के सत्रों में उपयोग किया जाता है। वस्तुतः शंकरदेव और उनके शिष्य माधव देव ने जो पद्धति चलाई उसमें बहुत कम परिवर्तन हुए हैं। नाट्यगृह, अभिनय व प्रस्तुतीकरण की विधियाँ, संगीत एवं नृत्य– इन सबमें एक दूसरा ही युग प्रतिबिंबित होता है। बाहर से जाने वाले दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता है कि तीन– चार सौ वर्ष पूर्व के वातावरण में पहुँच गये हैं।

अंकिया नाटकों की रचना वैष्णव धर्म प्रचार के लिए की गई थी इसीलिए इनका प्रदर्शन भी सत्रों की धार्मिक प्रक्रियाओं और उत्सवों से संबंधित है। अंकिया नाट के प्रस्तुतीकरण को असम में 'भाओना' कहा जाता है अर्थात भावों को अभिनय द्वारा प्रकट करना। वर्तमान में भी देखा गया है कि ब्रह्म पुत्र घाटी के 'सत्रों' या'मठों' में भाओना खेला जाता है। कमला बारी सत्र, बरदोवा अथवा वटद्रव सत्र। कुरुआ बही सत्र, औनिआति सत्र, दक्षिण पट सत्र व गरमुर सत्र में अंकिया नाट की परंपरा आज भी कायम है। भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में अकिंया नाट के माध्यम से कई स्तरों पर मंचन किया जाता था। अंकिया नाट में सत्र के प्रमुख को सत्राधिकार कहते हैं। यह सत्र एक ऐसा गांव होता है जिसके सभी निवासी , जमीन, खेत आदि सत्र के व्यापक समाज के अंग होते हैं। इस समाज के सदस्यों को भकत या भक्त कहा जाता है। प्रत्येक सत्र अपने भकतों की दैनिक चर्या निर्धारित करता है। इसके प्रमुख 14 प्रसंग होते हैं। यहां प्रसंग का अर्थ है सम्मिलित प्रार्थना, भाषण और नाम कीर्तन। ये प्रसंग 'सत्र' के सिंहासन के समीप बैठकर भक्त लोग पूरा करते हैं। सत्र के सिंहासन को 'मणिकूट' भी कहते हैं। इस पर किसी भी प्रकार की मूर्ति विराज मान नहीं होती। यह सिंहासन श्रीमद्भागवत के लिए होता है

। नाटककार शंकरदेव के 'एकशरणियाँ' मत में मूर्ति की गुंजाइश ही नहीं थी। भागवत की पूजा और भागवत का ही गान भक्त– जीवन की दिनचर्या थी। नाटककार शंकरदेव ने श्रीमद्भागवत के संदेश को जन– साधारण तक पहुँचाने के लिए प्रसंगों के अलावा कुछ रोचक प्रदर्शनों की आवश्यकता समझी और इस तरह सत्रों में भाओना खेला जाने लगा। भाओना घर का आकार भरत के नाट्यशास्त्र के विकृष्ट रंगशाला के तुल्य होता है। इसका विशाल मंडप लकड़ी और बाँस के स्तंभों पर खड़ा होता है उसकी छत दोहरी होती है– एक तो लोहे के चादरों की और दूसरा भूसे की। पूरे नाटक का प्रदर्शन जमीन पर ही होता है बीच की रंगस्थली पर कोई मंचन नहीं होता है। प्रायः अभिनेता– अभिनेत्री गायन– बायन की बायीं ओर से ही आते हैं किंतु कुछ विशेष प्रवेशों के लिए-जिनमें रथों इत्यादि को दर्शकों के सामने लाया जाता है;रंगशाला के दूसरी ओर से भी आने की जगह होती है। उदाहरणस्वरूप 'रुक्मिणीहरण नाटक' में भगवान कृष्ण जिस रथ पर चढ़कर आते हैं वह रथ रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है और उसे थापना (सिंहासन अथवा मणिकूट का ही दूसरा नाम है) के निकट से लाया जाता है। विशिष्ट पात्रों के अवतरण के लिए पर्दा फैलाने की व्यवस्था होती है। इस पर्दे को 'आड़ कापड़' अथवा 'आड़ वस्त्र' कहते हैं। यह कापड़ भरत के नाट्यशास्त्र की पटी अथवा यवनि का के समान होता है। अकसर इसका रंगश्वेत ही होता है। जब कोई मुख्य पात्र पहली बार रंगशाला में आता है तो प्रवेश से पूर्व वह आड़वस्त्र के पीछे प्रारंभिक नृत्य करता है। नृत्य के पश्चात यवनिका को हटा दिया जाता है और मुख्य पात्र सामने आता है। लोगों के बीच उत्सकुता बनाये रखने के लिए यवनिका का प्रयोग किया जाता है। अंकिया नाट में एक अलग प्रकार की यवनिका का प्रयोग दिखाई पड़ता है जिसका उल्लेख रामचरण ठाकुर के शंकरचरित में है। शंकरदेव ने उस अलग यवनिका का प्रयोग पहली बार 'चिन्हयात्रा' नाम से रंगमंच पर खेलकर प्रस्तुत किया। इसमें नाटककार

शंकरदेव ने सात पर्दे लगाये थे । प्रत्येक पर्दे में एक– एक प्रकार के बैकुंठ दिखाये गये थे । ये सातों बैकुंठ चित्र पर्दे पर अंकित किये गये थे अर्थात् यह मालूम होता है कि भक्ति युग में चित्रित पटों की प्राचीन परंपरा का प्रयोग किया जाता था । असम की अंकिया रंगशाला सरल और भव्य है । साहित्यिक पक्ष और धार्मिक महत्व को हृदयंगम कराने के लिए वह पात्रों तथा दर्शकों के बीच सीधा संबंध स्थापित करती है किंतु सामीप्य,प्रदर्शनों के विस्मय कारी कौतुक को बनाये रखता है । सारे वातावरण में विविध रंगों तथा कलाकृत्तियों का बाहुल्य होता है । इन कौतुक पूर्ण प्रदर्शनों के लिए भक्त गण नाना प्रकार का आयोजन करते हैं जोकि इस रंगशाला में रोचक ढ़ंग से दिखाई जाती है । 'रुक्मिणीहरण' नाटक में कृष्ण के प्रवेश को अत्यधिक रोचक रूप दिया गया है, 'कंसवध नाटक' में मल्लयुद्ध,'पारिजातहरण' में पारिजात वृक्ष का रोपन, 'रामविजय नाटक' में धनुष भंग,'कालिदमन' में कालि नाग की उपस्थिति आदि कई प्रयोग नाट्य रचना और रंगमंच पर दिखाई देते हैं ।

वैष्णव और राजाश्रयी; दोनों ही प्रकार के भाषा नाटकों का कथानक पौराणिक कथाओं से लिये गये हैं । जिससे कि इन नाटकों के दृष्टिकोणों और उद्देश्यों में भिन्नता होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति दो विभिन्न रूपों में दिखाई देती है । उदाहरणार्थ उमापति के 'पारिजातहरण' में राजप्रासाद का वातावरण है । नारद के आने पर दौवारिक उनका स्वागत करता है । दासी उनका परिचय पूछती है और तब जाकर कहीं द्वारकाधीश के सामने ब्राह्मण देवता विराजते हैं । विनोद और परिहास में महलों की व्यंजना है । सुमुखिदासी श्लेष में बातचीत करती है । ब्राह्मणों के साथ यजमान के संबंध का चित्र (नारद द्वारा दान मांगना) उच्चवर्ग की सामाजिक व्यवस्था को प्रदर्शित करता है । तत्कालीन काव्य में कृष्ण लीलाएं एवं कथाएं प्रचलित थीं परंतु राजाश्रयी नाटकों में संस्कृत नाट्य शैली का प्रभाव भी परिलक्षित होता है ।

इन नाटकों के कथानक एवं मंचीय अवधारणाओं को देखकर इस बात का अहसास होता है कि असम में होने वाले नये प्रयोग कहीं-न–कहीं संस्कृत नाट्य परंपरा को आधार बनाकर किये जा रहे थे। साथ ही अंकिया नाटों के नाट्य-गृह तत्कालीन उत्तर भारत की लोक नाट्य परंपराओं से पूरी तरह भिन्न थे। सो नाटकों में सर्वत्र रंगशाला एवं रंगस्थली का प्रयोग मिलता है, रंगमंच शब्द का नहीं।

इसमें ही आगे बढ़ते हुए हम देखते है कि शंकरदेव के 'पारिजातहरण' में राज प्रसाद भी साधारण गृहस्थ आवास प्रतीत होता है। नाटककार उमापति की रुक्मिणी पारिजात पुष्प की मांग नहीं करती किंतु शंकरदेव की रुक्मिणी कहीं अधिक मानवीय है–'हे स्वामि, हामि तोहार प्रथम पतनि। जानि ओहि देव– दुर्ल्लभ पारिजात प्राननाथ हामाक देहु।।' [132] भक्तिकालीन नाट्य रचनाओं में पौराणिक पात्र नारद की चारित्रिक विशेषता है कि वे दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा करवाने में कुशल हैं। सत्यभामा के कक्ष में जाने के लिए द्वारकापुरी की सैर करने का बहाना बनाते हैं। युद्ध क्षेत्र में शची और सत्यभामा का वाग्युद्ध ग्रामीण कुटुम्बों में साधारण नारियों के व्यवहार-सा सजीव प्रतिबिंबित होता है। वस्तुतः इन नाटकों की प्रेषणीयता जनसाधारण के जीवन की झाँकी के कारण बढ़ जाती है। भक्ति-आंदोलन की प्रकृति ही यही रही है कि वह जन-जन तक जुड़ सका। साथ ही आम जीवन की अभिव्यक्ति नाटक के पर्दे पर उतारी गई। नाटक के ईश्वरीय पात्रों की विवेचना भी आम नागरिकों की तरह ही रंगमंच पर प्रस्तुत की गई। इसी प्रकार नाटककार माधव देव ने अर्जुन भंजन नाटक में यशोदा का यथार्थवादी चित्र खींचा है। गोपियों ने दही अच्छी तरह नहीं मथा–'तोरा सबक गावे (शरीर में) कि बल नाहिं? अव हेलो करिये दधि माथि ये सब लव नुटुटा वल।तोहों सब आन कृत्य करह

[132]प्राचीन भाषा नाटक,माथुर एवं ओझा,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,1975 पृ.सं.-61

। आज हामुआ पुने दधि मथन करब । जदि अधिक लवनु पाऊं तेबे तोरा सबक जे जानुता करब ! जदि अधिक लवनु पाऊं ते बेतो रास बक जेजा नुता करब!'[133]इसी नाटक में,आगे की कथा में जब नंद को मालूम पड़ता है कि कैसे यशोदा ने कृष्ण को पेड़ से बांधा तो जिन शब्दों में वे अपनी पत्नी को डांटते हैं वह एक सामान्य ग्रामीण कुटुंब के पति के रूप में प्रस्तुत किया गया है–

आहे दासिक दासी ! बांदी ! टांगि गोआरि ! ओहि प्रान पुत्र कृष्ण कक मन अपराधे गरुक पागे जैसे नखंट चोर शत्रुक बांधय।..... तोहों कि निमित्ते मानुष भेसल? राक्षस तो अधिक ! आपुन पुत्र क खाइते चावल (चाहतीथी) ! कृष्ण कनखा इहा माक खाइ..... हामार घरे दधि दुग्ध लवनु के पूछत । नदी बहाइते पारों । ताहेर निमिते कृष्णक अतए शास्तिक यली? तोहा क आजुमारिए प्रान लेव ब.....। इसके उत्तर में यशोदा का उत्तर इस प्रकार है-

इहार भाल मंद कि जानस? हामु गुहेर गृहिनि, सब अधिकार हमार।.... आहे बुढ़े, तोहो क के पूछत? छिः हामाक मारिते आवल[134]?

इस संवाद को आधार मानते हुए कहा जा सकता है कि यथार्थ का यह चित्रण भक्ति के उद्बोधक वातावरण में विविधता उत्पन्न करता है । दर्शक की ग्रहणशीलता को इस तरह सजग कर देने के बाद माधवदेव बाल कृष्ण के महत् स्वरूप पर एक विलक्षण पद प्रस्तुत करते हैं जिसमें भक्त की चेतना पल में प्रदीप्त हो जाती है–

रोम विवर मह कोटि कोटि अंड

ताँडव करु सम रेनूम्।

---

[133]वही,पृ.सं - 61

[134]वही,पृ.सं-61

निज जन रंजन भंजन ब्रज सुख

मोदि विनोदि त वेणुम।

कलशि भागल, दधि सब नासल

कयलि भोजन नवनीतम।

मीति पलावल बांधल जननि

अर्जुन भंजन रीतम्।

नाचत गावत भाव देखावत

हास बहुल लासे।

हरि कहों चरन कमल मधुआसे

कह दीन माधवदासे[135]।

यथार्थ और महत् का इस भाँति मिश्रण एक नाटक और दर्शक के बीच कशिश पैदा करता है जो कि एक बुनियादी नाटकीय तत्व है । हर महत्वपूर्ण प्रसंग के लिए एक न एक गीत मौजूद है । आंगिक अभिनय के अनुकूल लययुक्त गीत समाहित किए गए हैं । 'केलिगोपाल नाट' में गोपियों सहित कृष्ण जल क्रीड़ा करते हैं । राग गौरी में द्रुत गत गीत गाया गया है । उसके तुरंत बाद कृष्ण का आदेश पाकर जब गोपियाँ उदासीन हो धीरे-धीरे घर लौटती हैं तो उनकी नृत्यमय निष्कांति उनकी विरहव्यथा के अनुकूल ही है । उदाहरणार्थ – 'भरि पांच न सात चलिते तनु

[135],वही,पृ सं-62

तापित,हरि बिने देखो आंधियारी प्रेम पर सेपुनु,पर ये धरनि लुटि संकर उधार मुरारि[136]।' इन गीतों की व्यंजना के साथ-साथ नाटकों में प्रकृति के वर्णन द्वारा भावों को बखूबी प्रदर्शित किया जाता है । वैष्णव नाटकों में पात्रों की शोभा, महिमा और कौतुकमयी भंगिमाओं के वर्णन द्वारा,उमापति के 'पारिजातहरण' में-

रैवत बन की वसंत शोभा, सारे रसिक समाज को मोहित कर देती है-

अनगिनत किंशुक चारु चंपक बकुल बकुहुल फुल्लियां।

पुनु कतुहु पाटलि नीकि नेवारि माधवि मल्लिआं।

अति मंजु बंजुल पुंज मिंजल चारु चूअ बिराजहीं।

निज मधुहिं मातलि पल्लवच्छवि लोहितच्छवि छाजहीं।

पुनु केलिकलकल कतहु आकुल कोकिला कुल कूज हीं।

जनि तीनि जग जिति मदन नृप-मनि विजय-राज सुराजहीं।[137]

वस्तुतः वैष्णव नाटकों में भागवत की स्तुतियों की परंपरा को नाटकीय रस के आलंबन की पुष्टि के लिए व्यवहार में लाया गया है । भटिमाएं न केवल नाटकों के प्रारंभ और अंत में नायक पराक्रम और भक्त वत्सलता की व्याख्या करती है बल्कि नाटक के बीच में प्रायः मार्मिक स्थलों पर, कृष्ण के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन करके भाव को उत्तेजित भी करती है ।'पत्नी प्रसाद' नाटक में ब्राह्मण पत्नियाँ कृष्णदर्शन की आशा में सब विघ्नों को पार करके बढ़ी जा रही हैं । मानो उनकी आतुरता को द्विगुणित करने के लिए भटिमा में कृष्ण-रूप-विलास उमड़ उठता है-

---

[136]वही पृ,सं-63

[137]वही,पृ,सं - 63

स्याम सरीर बसन तथि पित।

नव धन जैसे चमके तड़ित।।

त्रिभुवन मोहन नटवर वेस।

चौभिति मेड़िया रहु गोपनि सेस।

लीला पद्म फुरावत हात।

पेखत द्विज वधू सब साक्षात्।।

इस लंबी भटिमा में हमें आगे के प्रसंग की सूचना प्राप्त होती है जिसमें कृष्ण ब्राह्मणियों को अपने घर वापस जाने को कहते हैं पर वे व्यथित हो जाती हैं । इसी तरह इन नाटको में हाव, भाव,लीला और विलास नायिका के द्वारा प्रदर्शित होता है–

लहु लहु गति धाइ प्रिया सगे रंगे जाइ।

हरि रि हसि चाइ जैसे मत्तसिंह राइ।।

रूपे भुवन जिनि सखि समे रुकमिनि।

चले वामा मध्य खिनि झनके मंजी मनि।।

पिउ मुख बेरि बेरि लज्जित नयने हेरि।

कह संकर केरि गति गोविन्द मेरि।।

सूत्र0 – तदनन्तर श्रीकृष्ण रुकमिनिक हात धरिये हसि हसि प्रियाक मुख निरेखिये लीला– गति चलि जाइ जैसन मत्त सिंह चलइछे। से राजनंदिनि, श्री कृष्णक स्वामि लभिए लज्जित नयने घन घन स्वामी मुख निरेखिये, परम आनंदे चलि जाइ।[138]

इन भाषा नाटकों के अभिनय को देखकर ही ऐसे प्रसंगों की अर्थवत्ता परखी जा सकती है। लीलागति जैसे पदों का तात्पर्य ही यह है कि नायक अथवा नायिका के चलने और बैठने का ढ़ंग, सब नृत्य की गति और गान की लय के अनुसार है। इस भाँति ही नाट्यालंकारों की झांकियां बिखरी पड़ी हैं।

भाषा नाटकों में शील निरूपण की तीसरी और सर्वाधिक पद्धति है नायक, प्रतिनायक और नायिका के अतिरिक्त अन्य पात्रों को जनसाधारण के व्यवहार तथा अनुभूतियों के मूर्ति मान स्वरूप में प्रदर्शित करना। लक्षण ग्रंथों में जिन अन्य पात्रों का विवरण दिया गया है उन्हें इन नाटकों में शामिल करने का विशेष प्रयास नहीं किया गया। दूत 'रुक्मिणीहरण' में भी हैं और वेदनिधि ब्राह्मण में भी किंतु उसमें और साहित्य दर्पण में वर्णित दूतों में कोई समानता नहीं है। वेदनिधि द्वारका से कंडिन पुर चलते समय कृष्ण के वेगवान रथ में बैठते ही मूर्छित हो जाता है।

कृष्ण– हे वेदनिधि स्वस्थ हव, स्वस्थ हव।

सूत्र– कृष्णवक आश्वास सुनिये, किछे चेतन पाइ, विप्र बोलल।

वेदनिधि– हे बापु तुहु वा के हामु वा कौन? कि निमित्त रथ आव लथिक?

---

[138]वही,पृ.सं -77

कृष्ण– (विहसि बोल) हामु द्वारकार कृष्ण तुहु वेदनिधि, रुकमिनि पठावल, तत्रिमित तुह हामु कुंडिनि चलयि छि।

वेदनिधि - हा हाल बापु बत्तलु। हामु क्षणे क मरि जाएँ, तोहाक निमिते पुनु उपजलो[139]।

परिहास का हल्का संकेत इस संवाद में है। नाटककार अभिनय के समय मुद्राओं के कारण वेदनिधि को लोकप्रिय और मनोरंजक पात्र बना देता है। दर्शक समाज से तादात्म्य स्थापित करने के लिए मनोरंजक तत्वों का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः वैष्णव नाटकों में अनेक पात्र जनसाधारण के दैनिक जीवन में पाये जाने वाले चरित्रों के मूर्तिमान स्वरूप है। उदाहरणतः माधवदेव एक ग्रामीण माँ को चित्रित करने के लिए यशोदा और बसुमती (पारिजातहरण में भगदत्त की मातामही) की मर्मस्पर्शी छवियाँ प्रस्तुत करते हैं। माधव देवकी यशोदा अपने पुत्र की भर्त्सना करती है -

हे पुता, तोहरि बाप नन्द सब गुवालक राजा। हामु ताहेर पत्नि। हामार उदरे जनमि तुहु ऐसन दुर्जन भेलि। हामार गृहे दधि नाहि, दूध नाहि? लवनु नाहि? संदेस नाहि? कौन वस्तु नाहि? तोहाक हामु खाइते नाहि देसि? तुहुकि भोजन नाहि करत? कांगाल छवाल जैसन तुह बेड़ान ।आज तोहाक हामु सिखा देवब।

उसको लाड़ प्यार करती है–

एखने आनिबो दुग्ध मथिबो आपुनि।

जत पार खाइबा दिब एक नयन लवनि।।

---

[139]वहीं,पृ.सं-107

खीररे लाडू साजि दिब चिसे कूर्पर माखि।

संजात न जाया पडार लोक करा साखि।।

ए बोल सुना हरि एड़िल रोदन।

धुल झाड़ि को लेकर मावे दिला तन[140]।।

पुत्र के खो जाने पर विलाप करती है । उसके मिल जाने पर किसी भी साधारण माता की तरह गदगद् हो जाती है । माँ की स्नेहमयी छवि ग्रामीण जीवन की परिस्थिति आदि संगीतकों में प्रतिबिंबित है । इन नाटकों का पाठ और प्रदर्शन,दोनों ही जनसाधारण की जीवन शैली के समीप दिखाई पड़ता है । इसका मुख्य कारण यह है कि तत्कालीन आचार्यों ने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया था कि भक्ति साहित्य के साथ ही भक्ति– रंग के लिए जनभाषा ही ठीक रहेगी । भक्ति– नाट्य रूप मुख्यतः वैष्णव काव्य पर आश्रित है । अभिनय,काव्य तत्व को व्याख्या या टिप्पणी के रूप में दृश्य आधार प्रस्तुत करता है और काव्य के सामूहिक ग्रहण को अधिक प्रभावी बनाता है । यह कई दिनों तक श्रृंखला के रूप में चलने वाला नाट्य रूप है जिसमें कथा के घटना स्थल के साथ 'अभिनय स्थल' में भी परिवर्तन हो जाता है । अभिनय–मुद्राएं, रूप सज्जा और वर्ण-योजना नाट्यशास्त्र की रूढ़ियों पर आश्रित होने पर भी बहुत सरलीकृत रूप में स्वीकृत की गई किंतु पोशाक अलंकार आदि पर मुगल प्रभाव स्पष्ट है।

भक्तिकालीन नाट्य परिदृश्य में 9वीं शताब्दी के आसपास निम्बार्काचार्य ने ब्रज में भक्ति– आंदोलन का सूत्रपात किया था । तथापि उसके बाद इतने लंबे समय तक दूसरे राज्यों से आने वाले संतों की परंपरा बंद हो गई थी । हमारे विषय के लिए सन् 1500ई. के आसपास की

---

[140]वही,पृ.सं-134

यात्राएं ही विचारणीय हैं । इन संतों की धार्मिक यात्राओं की तिथियां धार्मिक प्रेरणाओं और नाट्य–प्रवृत्तियों के इतिहास में विशेष महत्व रखती हैं । सबसे पहले सन्1489ई. में असम के नाटककार शंकरदेव अपनी 12 वर्ष की तीर्थ यात्रा पर अपने17 साथियों के साथ निकले । मथुरा एवं ब्रजमंडल में शायद सन् 1490ई. के आस पास उन्होंने प्रवास किया । इसके साठ वर्षों के बाद सन् 1550ई. में शंकरदेव ने पुनःयात्रा की । इस बार 120 भक्तों की विशाल टोली के साथ । शंकरदेव द्वारा स्थापित वैष्णव– सम्प्रदाय 'एकसरनियां' मत के नाम से प्रसिद्ध है । शंकरदेव की यात्रा के बाद निम्नलिखित संतों का ब्रज में आगमन– काल, प्रवास, मत– स्थापना इत्यादि विचारणीय है–

- उत्कल और वंग से श्रीमाधवेन्द्रपुरी (महाप्रभु चैतन्य के गुरु के पुत्र) 15वीं शताब्दी के अंतिम काल में (माधाव संप्रदाय)

- आंध्र से श्रीवल्लभाचार्य । सन् 1493 के आसपास (पुष्टिमार्ग)

- गौड़ से महाप्रभु चैतन्यदेव । सन् 1520 के आसपास । महाप्रभु ने बाद में लगभग 25 वर्षों में अपने 6 प्रमुख शिष्यों को ब्रज के उद्धार के लिए भेजा जिनमें रूप गोस्वामी का नाम इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है ।

- महाप्रभु हितहरिवंश– (वृंदावन में) सन् 1533ई. (राधावल्लभ संप्रदाय)

- ओरछा से श्री हरीराम व्यास– सन् 1534ई. के लगभग।

- गुजरात के स्वामी हरिदास– सन् 1543ई. के लगभग।

- आंध्र से श्रीनारायणभट्ट- सन् 1545ई. के लगभग।

वैष्णव संतों की यात्रा टोली पचास वर्षों में ब्रजमंडल में पधारी । वहां भगवान के स्तवन और लीलागान का अद्‌भुत वातावरण बन गया । ब्रजमंडल की भाषा भगवान कृष्ण की लीलास्थली की भाषा होने के कारण,तत्कालीन भागवत और वैष्णव नाटकों के लिए विशेष श्रद्धा का पात्र बनी । विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में ब्रज की शब्दावली ग्रहण की गई । कालियदमन यात्रा में संतों द्वारा प्रेरित भाषा– नाट्य धारा की विशेषताओं की प्रारंभिक झांकी मिलती है । सूत्रधार द्वारा कृष्ण के नृत्य का वर्णन इस प्रकार है–

धुवः काला कानु नाचे चरन चलाइ।

करतु कौतुक नृत्य केश, अरुण चरण चलाय रे।

देव मुनि सिरे सिरिख बरिखे हरिखे हरि गुन गाय रे।

पदःकाल कालिक माथे चढ़ि माँड़ पीड़ि कीड़ि कानु नाचे रे।

मृदंग दिमि दिमि नाथ दुँदुभि सिद्ध सब बाय के रे।[141]

प्राचीन भारत के नाटकों का अभिनय प्रायःराजभवन के नाट्य गृहों तथा रंगशालाओं में हुआ करता था जिनमें सामंतो, राज पुरूषों तथा विद्वजन का ही प्रवेश हो सकता था परंतु लोक-नाटक जन-जीवन की स्वाभाविक प्रेरणा का परिणाम होने के कारण नाटक केवल राज प्रासादों तक ही सीमित नहीं रह सका । समाज के मध्यम तथा निम्न वर्गों ने भी अपने मनोरंजन के लिए अपनी रुचि के अनुसार अभिनय के साधन जुटा लिये । सो, एक ओर देव-मंदिरों,गुफाओं

[141]वही,पृ सं- 116

तथा सामूहिक रूप में निर्मित नाट्यशालाओं में रास,यात्रा आदि लोक-नाट्य अपना विकास पाते रहे और दूसरी ओर गेय लोक-नाट्यों से भी जनता अपना मनोरंजन करती रही ।यद्यपि नाट्यशास्त्र में अनेक प्रकार की नाट्यशालाओं का वर्णन किया गया है और उनके विभिन्न अंगों का भी विस्तार से वर्णन हुआ है परंतु किसी प्रमाण के अभाव में यह कहना कठिन है कि प्राचीन भारतीय नाटक आखिरकार कहां तक इतिहास तले सुनिर्मित रंगशालाओं में अभिनीत होते थे। संभव है कि केवल राजा या धनी व्यक्तियों के ही पास ऐसी रंगशालाएं थीं जो नाट्यशास्त्र के आदेशानुसार बनाई गयी हों। विश्वास किया जा सकता है कि सामान्य जनों के लिए जो नाट्य प्रदर्शित होते थे वे खुले कमरों में खेले जाते थे और उन्हें नाट्य-मंदिर या नट-मंदिर कहा जाता था । इस तरह के नाट्य-मंडप मंदिरों के सामने या शामियाने में अस्थायी रूप से बनाई रंगशालाओं में खेले जाते थे जो मध्ययुग की बंगाली यात्राओं से मिलते-जुलते हैं।

मध्यकालीन भारतवर्ष में धर्म और संस्कृति की एक बड़ी क्रांति घटित हुई । उस समय जिन विचारशील पुरुषों ने जनता के मन पर गहरा संस्कार और प्रभाव डाला उनमें सूरदास का स्थान मुख्य है। विक्रम की दूसरी सहस्त्राब्दी का जब आरंभ हुआ उस समय शुष्क, तर्क-प्रतिपादित, निर्गुण और अद्वैत तत्त्व को ऊहापोह में पंडितों के मन उलझ रहे थे। साधारण जनता तंत्र-प्रधान धर्म में भूली हुई थी। यह बोझ मानवीय बुद्धि के लिए दूभर हो रहा था। विचार-जगत में पंडित-वर्ग और लोक एक-दूसरे से बिछुड़ गए थे। पंडितों के पास तर्क की पैनी कैंची थी उससे वे निर्गुण की मनमानी कतरब्योंत करते और बुद्धि के भूल-भुलावे में अपने आपको प्रसन्न रखते। बौद्धों के अनेक प्रकार के शून्यवादी तर्क निर्गुण रूपी वज्र को काटते छेदते रहे। भगवान शंकराचार्य ने ब्रह्मवाद और आत्मज्ञान की सरस की धारा का दार्शनिक क्षेत्र में संचार किया था किंतु वह धारा भी आगे चलकर तर्क और प्रमाण के बालू-रेत में ओझल हो गई। लगभग आठवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक पनपने वाले सिद्ध गुरु और फिर लगभग तीन सौ

वर्षों तक उनके उत्तराधिकारी नाथ गुरु,निर्गुण की बात ही जनता की भाषा में कहने का प्रयत्न करते रहे । उनकी रची हुई निर्गुनियां बारहखड़ी लोगों के लिए रस की बात न कह सकी । इन कवियों ने निर्गुण की बात कही, लोगों के मन में भी वही बात भरती गई । इस क्षेत्र में ऊँचे से ऊँचा जो कुछ साहित्यिक ढ़ंग से कहा जा सकता है उसका नमूना कबीर की वाणी है । कबीर की प्रतिभा बहुत ही अनोखी थी । उसी के बल पर भाषा भी उनकी चेरी बनी पर लोगों के लिए आत्मा राम की झांकी बालू-रेत में चमकते हुए पानी को देख लेने की तरह थी।

इस कड़ी में आगे देखते हुए नाट्य कथानक पर चर्चा करना अनिवार्य बिंदु है। 12वीं शताब्दी में जयदेव द्वारा विरचित 'गीत - गोविन्द' की अनुकृति का आकर्षण सभी कवियों को रहा है । इस कृति की रचना संस्कृत में मानी जाती है लेकिन यह रचना संस्कृत भाषा में तब हुई जब संस्कृत का ह्रास हो चुका था । इसमें संस्कृत भाषा का केवल अलंकरण और कौशल मात्र रह गया था । भाषा की दृष्टि से एस. के. चटर्जी जैसे कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि गीत गोविन्द का मूल रूप अपभ्रंश और बांग्ला से मिलता– जुलता है । उनके अनुसार संस्कृत– काव्य उसी मूल रूप मूल काव्य का एक अनुवाद है । इस विचार को स्वीकार करना मुश्किल है । कपिला वात्स्यायन का कहना है कि एस. के . चटर्जी के मत को अस्वीकार करना कठिन है किंतु यदि हम इस कृति को निकट से देखें और उसको गंभीरता से समझने की कोशिश करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह अनूदित काव्य नहीं हो सकता।कोई भी अनुवाद कितना ही सुंदर, कितना ही स्पष्ट और कितना ही मूल के निकट हो, वह रूपांतर ही रहता है । गीत गोविन्द में अर्थ और भाव का, श्रृंगार तथा अध्यात्म का और संगीत एवं ताल का जो सम्मिश्रण है, वह किसी अनूदित काव्य में नहीं हो सकता था । सो चाहे हम श्री चटर्जी के मत को महत्व दें;उनसे हम असहमत हैं । मंदिरों में प्रदर्शन की परंपरा गीत– गोविन्द से मानी जाती है । इस काव्य में

तीन चरित्र हैं– सखी, राधा और कृष्ण । समयानुसार यह कथा तीन दिन की या ढाई दिन की है । दिव्य प्रेमी युगल राधा और कृष्ण का प्रेम, कृष्ण की दूसरी गोपियों से प्रेम क्रीड़ा और राधा–कृष्ण का पुनर्मिलन । ब्रज की रासलीला का प्रमुख कथानक भी इसी विषय पर आधारित है । गीत– गोविन्द को महान काव्य रचना और वैष्णव धर्म की पवित्र पुस्तक के रूप में देखा जाता है । कई वर्षों से इस कृति का नाट्य एवं चित्र परक; सभी कलाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा है । पूरे देश में इसे नित्य के पूजा विधान में गाया जाता है । शास्त्रीय नृत्य की सभी शैलियों में इसकी नृत्य प्रस्तुतियां हुई हैं । लघुचित्रों के रूप में इसका चित्रण हुआ है । केरल का 16वीं शताब्दी का कृष्णाट्टम इसी से प्रेरित है । इस तरह भाषा में विभिन्नता होने पर भी यह काव्य रचना लोक प्रचलित है ।

भक्तियुगीन साहित्य की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति के दूसरे पहलू की ओर ध्यान केन्द्रित किया जाए तो इस समय समाज में तथा कथित संस्था के कारण समाज में अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार का समावेश हुआ । सामाजिक विशृंखलता के कारण जन-सामान्य के जीवन में विलासिता, आडम्बर,कपट,धूर्तता और मिथ्या भक्ति का समावेश हुआ ।

हिंदी भक्ति साहित्य के प्रबंध-काव्यों में जायसी कृत पद्मावत उत्कृष्ट कृति है । यह रचना दोनों दृष्टियों से अनूठा काव्य है पहला, भाषा का ठेठ अवधी रूप और दूसरा, मर्मस्पर्शी माधुर्य रूप पद्मावत में परिलक्षित होता है । पद्मावत की कथावस्तु में उदात्त ऐतिहासिकता, भाषा की विलक्षण शक्ति, जीवन के गंभीर अनुभव एवं सशक्त दार्शनिक चेतना मौजूद है । अवधी भाषा के इस उत्तम काव्य में मानव-जीवन के चिरंतन सत्य प्रेम तत्व की उत्कृष्ट कल्पना है । कवि जायसी ने प्रेम की अभिव्यक्ति को सौभाग्य-विलोपी छाया के सम्मुख लाकर खड़ा कर दिया किंतु इस निर्मम कसौटी पर कसे जाने से वह आभा और भी अधिक

प्रकाशित हो उठी । कवि के शब्दों में इस प्रेम-कथा का मर्म है- 'गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई'[142]। वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है कि रत्नसेन और पद्मावती दोनों के जीवन का अंतर्यामी सूत्र है- प्रेम में जीवन का पूर्ण विकास और नेत्र-जल में उसकी समाप्ति । प्रेमतत्व की दृष्टि से पद्मावत का जितना अध्ययन किया जाए कम है । संसार के उत्कृष्ट महाकाव्यों में इसकी गिनती होने योग्य है । इसे जो पद अभी तक प्राप्त हुआ है भाविष्य में उसके और उच्चतर होने की संभावना है[143]।

हिंदी के प्रबंधकाव्यों की दीर्घकालीन परंपरा की दृष्टि से देखा जाए तो पद्मावत के प्रेम-काव्य में मसनवी और भारतीय प्रेम-कथाओं के साथ-साथ सिद्धों व नाथ गुरुओं का पूरा योग तथा निर्गुण परंपरा एवं मुसलमानी संतों की सूफी परंपरा का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है । उन सब के सारभूत ग्राह्य अंश को स्वीकार करते हुए जायसी ने अपने विशिष्ट आध्यात्मिक दृष्टिकोण का निर्माण किया जिसे उन्होंने स्वयं प्रेममार्ग यह उदात्त नाम दिया।

प्रेम के प्रभाव से मानव का सीमा-भाव हट जाता है । वह ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है या विश्वात्मक ज्योति से तन्मय हो जाता है । प्रेम मार्ग में सिद्धि की प्राप्ति के लिए स्त्री की सत्ता अनिवार्य है । वस्तुतः वही परम ज्योति का रूप है । वही उस महापद्य कामधु है जिसके लिए साधक का मन रूपी भ्रमर रस-लोभी बनकर पहले सर्वस्व त्याग देता है और फिर सब कुछ प्राप्त करता है । प्रेम की साधना द्वारा दो पृथक तत्व एक-दूसरे से मिलकर अद्वय स्थिति प्राप्त करते हैं । इसी सम्मिलन को प्राचीन सिद्धों की परिभाषा में युगन बद्धभाव, समरस या महासुख कहा गया । प्रेमी-प्रेमिका की नई परिभाषा में प्राचीन शिव-शक्ति या सूर्य-चन्द्र के वर्णनों को नया रूप प्राप्त हुआ । पुरूष सूर्य और स्त्री चन्द्रमा है । दोनों एक अद्वय तत्व के दो रूप है । सिद्ध आचार्यों ने सूर्य-चन्द्र या सोना-रूपा;इन परिभाषाओं का बहुधा उल्लेख किया है । बौद्ध आचार्य विनय श्री के एक गीत में आया है-

---

[142]जायसी-ग्रंथावली,रामचन्द्र शुक्ल,नागरी प्रचारणी सभा,काशी,वाराणसी,संवत् 2025विक्रम,पद स.- 652 । 2 पृ.सं- 407

[143]वासुदेव शरण अग्रवाल रचना-संचयन,संपादन- कपिला वात्स्यायन,साहित्य अकादमी,दिल्ली, 2012 पृ.सं - 623

'चंदा आदि जस मर जोए'अर्थात चंद्रमा और आदित्य का समरस देखना ही सिद्धि है । चंद्रमा और सूर्य जहां अपना-अपना प्रकाश एक में मिला देते हैं, अर्थात् समरस बनकर एक हो जाते हैं; वहीं उज्ज्वल प्रकाश होता है (जिहि घर चंद सूर नहिं ऊरौ,तिहि घर हो सि उजियारा-गोरखबानी) । चंद्र और सूर्य के प्रतीक में सृष्टि और संहार, स्त्री और पुरूष ,सोम मयी उमा और कालाग्नि, रूद्र,इड़ा और पिंगला आदि के प्राचीन प्रतीक पुनःप्रकट हो उठे । पद्मावत में पदे-पदे सूर्य-चंद्र के प्रतीकों का उल्लेख किया गया है[144]।

भक्ति युग से पूर्व काव्य-साधना में कुंडली-योग आदि धार्मिक साधना का प्रमुख अंग था । इस परंपरा के अनुसार मानव शरीर ब्रह्मांड का प्रतिनिधि है । सहज-यान, हीन-यान, नाथमत, योग, तांत्रिक या कापालिक मत और निर्गुण संत मत में भी पिंड और ब्रह्मांड की यह एकता सर्वमान्य थी । यही परंपरा साहित्य में आगे तक देखी जाती है । जायसी की काव्य-साधना में यह परंपरा जस-की-तस देखी जाती है अर्थात् जायसी ने यह परंपरा अपने पूर्ववर्ती साधना-मार्गों से जिस रूप में प्राप्त की थी उसे उसी रूप में स्वीकार करके, उसके द्वारा अपने काव्य वर्णनों की व्यंजना को बहुत आगे बढ़ाया । फिर भी तंत्र, कुंडलिनी योग, सहजयान,शिव-शक्ति अथवा रसायन वाद के समस्त उपकरण को जायसी ने उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया है । जायसी ने स्पष्टता से बल-पूर्वक इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि प्रेममार्गीय साधना मुख्यतः मन की साधना है । काया- साधना उसके साथ आनुषंगिक है । जायसी ने अपने काव्य में माना है कि प्रेम के जगत में मन ही चंद्रकांतमणि है । जिस क्षण प्रेमिका रूपी चंद्र की रश्मियों का संयोग उस मणि से हो जाता है वह सर्वात्म द्रवित हो उठती है । यही द्रव–भाव रत्नसेन की अध्यात्म आकुलता है । दार्शनिक क्षेत्र में जायसी प्रतिबिंब वाद के अनुयाय है कोई चिदात्मक ज्योति यहाँ

---

[144] वही,पृ सं.- 625

परम सत्य नहीं है। सारे विश्व में वही प्रतिबिंबित है। वही एक रूप विश्व का प्रत्येक रूप बन गया। पद्मावती उसी चिदात्मक ज्योति की प्रतीक है लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि शुष्क मतवाद के ऊहापोह में जायसी को रस न था। उनका मन तो वहां रमता है जहां काव्यमयी सरसता के साथ हृदय उस ज्योति तत्त्व का स्वयं साक्षात्कार करने या उससे तन्मय होने के लिए उमड़ता है।

'पद्मावत काव्य का अनुशीलन करते हुए जिस बात की गहरी छाप मन पर पड़ती है वह यह कि इसके कवि ने भारत-भूमि की मिट्टी के साथ अपने को कितना मिला दिया था। जायसी सच्चे पृथिवी-पुत्र थे। वे भारतीय जनमानस के कितने सन्निकट थे, इसकी पूरी कल्पना करना कठिन है। गाँव में रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है उसके ज्ञान की जो उपकरण सामग्री है,उसके परिचय को जो क्षितिज है; उसी सीमा के भीतर हर्षित स्वर से कवि ने अपना गान का स्वर ऊँचा किया। जनता की उक्तियाँ, भावनाएं और मान्यताएं मानो स्वयं छंद में बँधकर उनके काव्य में गुँथ गई है। तुलसी का रामचरितमानस उस समय तक अस्तित्व में नहीं आया था लेकिन रामकथा अवध के ग्रामों में लोगों की जिह्वा पर थी। जायसी ने जनता के स्तर से ही रामकथा का संग्रह करके लगभग सौ बार पद्मावत में उसका उल्लेख किया है। इनके मिलाने से एक जायसी रामायण ही बन जाती है[145]।'-

राधौ जौं सीता सँग लाई। रावन हरी कवन सिधि पाई।।[146]

तहूँ एक बाउर मैं भेटा। जैस राम दशरथ कर बेटा।।

ओहु मेहरी कर पग बिछोवा। एहि समुद्र महँ फिरि फिरि रोवा[147]।।

---

[145]वही,पृ.सं-626

[146]वही,पद संख्या- 135 । 2

भाइन्ह माहँ होइ जनि फूटी । घर के भेद लंक असि टूटी[148]।।

उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से अनुमान लगाया जा सकता है कि भक्तिकालीन साहित्य में जन-साधारण के बीच प्रचलित लोककथाओं को जायसी ने अपने प्रबंधकाव्य में दर्ज किया है । साथ ही तत्कालीन साहित्य में लोकभाषा का सशक्त स्वरूप स्पष्ट होता है । पद्मावत में पद्यात्मक नाट्य रूप के विलक्षण लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं । वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने कहा है कि गंधर्व सेन के पुष्पित वचनों का जो उत्तर भाट ने रावण के दृष्टांत से दिया है वह और भी उदात्त है । इन कथोपकथनों में जैसे कवि का नाट्यकार स्वरूप अभिव्यक्त हो उठा है । ऊपर निर्दिष्ट कई दृष्टियों से पद्मावत काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन विशेष आकर्षण का बिंदु रहेगा । भक्ति साहित्य में यह एक अद्वितीय कृति है । एक वृहद कथा के साथ विभिन्न संस्कारों को समेटते हुए यह काव्य सामाजिक के हृदय को प्रभावित करता है । इस काव्य में मानवीय संवेदनशील परिस्थितियों को दर्शाते हुए भक्ति–संवेदना के उत्कृष्ट रूप को प्रकट किया गया है । भक्तिकालीन सूफीमत के अनुसार आत्मा में परमात्मा के मिलन का मानवीकरण काव्य को अद्‌भुत बनाता है । इससे पाठक के मन में भक्ति के प्रेममार्गी स्वरूप की चेष्टा उद्‌धृत होती है । कवि द्वारा श्रृंगार रस के संयोग और वियोग-दोनों रूपों का वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है । पद्मावत के कथानक में प्रबंधात्मक काव्य की विशिष्टता के आधार से काव्य-रूप में भारतीय काव्यशास्त्रियों की विशेषता प्रकट हुई है ।

भक्तिकालीन साहित्य,विक्रम संवत् की प्रथम सहस्त्राब्दी में जो भागवत धर्म की पहली क्रांति हुई थी तभी से राम और कृष्ण के आदर्श, लोकधर्म रूपी रथ के दोपहियों की भाँति स्वीकृत हो गए । किसी समय अध्यात्म और धर्म की व्यवस्था करने वाले जो प्राचीन वैदिक या ब्राह्मणकालीन तत्त्व थे ,वे नया प्राण लेकर राम और कृष्ण की कथाओं के साथ मिल गए । उनके

---

[147]वही,पद संख्या- 423 । 4-5

[148]वही,पद संख्या- 376 ।

गुण और चरितों में लोगों को किसी जाने–पहचाने अध्यात्म–तत्त्व की प्रतीति होने लगी। संस्कृत वाल्मीकिय रामायण के कार्य को हिन्दी भाषा के लिए गोसाईं जी ने पूरा किया। उनकी बहाई हुई धारा आने वाले युगों के लिए भी सरसता का अक्षय स्रोत बनी रहेगी। लोक से उसका सीधा नाता रामचरितमानस के द्वारा जुड़ गया है।

ठीक इसी प्रकार कृष्ण-चरित को लोकव्यापी बनाने में भागवत के कार्य को सूरदास ने सूरसागर द्वारा पूरा किया। राम और कृष्ण के आदर्शों से प्रेरित यह भक्ति-आंदोलन की कविता सोलहवीं शताब्दी में न केवल सूर-तुलसी के द्वारा उत्तर भारत में बल्कि देश के कोने–कोने में प्रकट हो उठी। भारतीय इतिहास की यह अनूठी विशेषता है कि उसमें समय-समय पर होने वाली धार्मिक हलचलों की छाप प्रायः एक–सी सारे देश पर पड़ी है। असमिया भाषा में श्री शंकर नामक महाकवि ने 'भागवत' का और 'रामसरस्वती' ने 'रामायण' और 'महाभारत' का स्वतंत्र अनुवाद किया। बांग्ला में कृतिवास ने 'रामायण' और चंडीदास ने 'कृष्ण भक्ति पदावली' की रचना की। उड़िया में जगन्नाथदास ने 'भागवत', बलराम ने 'रामायण',शारदा दास ने 'महाभारत' एवं अच्युतानंद ने 'हरिवंश' के काव्यानुवाद किए। इसी समय तेलुगु में पोतना माल्य ने 'भागवत' का बहुत सरस अनुवाद किया। कन्नड़ में कुमार व्यास ने 'महाभारत' कुमार वाल्मीकि ने 'रामायण' और विट्ठलनाथ ने 'भागवत' लोकभाषा में रखा। वैष्णवदासों के रचे हुए पद कन्नड साहित्य की बड़ी विशेषता है।'दासर पद गल' (दासों की पदावली) के सबसे श्रेष्ठ रचयिता पुरंदर दास और कनक दास थे। पद साहित्य के लिए उस समय देशव्यापी माँग में थी। इस दिशा में सूरदास का प्रयत्न चोटी का कहा जा सकता है।

इस समय के अधिकांश पद-गायक भक्ति की नम्रता लिए हुए दास होने की अरदास करते थे। उनके नामों में इस पद की छाप है। उसी प्रकार से निर्गुण का बखान करने वाले

ज्ञानमार्गी गुरु अपने –आपको नाथ कहते थे । सूरदास, नंददास आदि अष्टछाप के कवियों और अनेक भक्तों ने इस युग में कृष्ण को अध्यात्म–चैतन्य का प्रतीक मानकर उनकी लीलाओं का अत्यंत कल्पनाशील वर्णन किया है । उन्होंने पदों के द्वारा कृष्ण के एक-एक लीला का अनंत रूप प्रस्तुत किया हैं । इससे चित्र और संगीत को भी अत्यंत प्रेरणा मिली । कहा जाता है कि आरंभ में सूरदास जी भी मन एवं वाणी से अगम अगोचर रहने वाले निर्गुण का ही पदों में बखान करते थे । वल्लभाचार्य ने उनके पद सुनकर कहा - 'अरे सूर, क्यों घिघियाते हो, कुछ सगुण की लीला गाओ । तद्नुसार सूर के मन की गति फिर कर सगुण कृष्ण के रूप में स्थिर हो गई–

रूप रेख गुन जाति जुगाति, बिनु निरालंब कत धावै?

सब विधि अगम विचार हिंताते, सूर सगुण पद गावै।

एक व्यक्ति अपने ही केंद्र में तपकर कितना तेजस्वी बन सकता है, अपने मन की कल्याणी भावनाओं को कितना सरस बना सकता है और अपने तीव्र अनुभव के अखंड प्रवाह को किस प्रकार सबके लिए उड़ेल सकता है; इसका अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण सूर सागर में मिलता है । भाषा और भाव-दोनों के जैसे भंडार खुले पड़े हैं । कृष्ण के रूप में हमारे लिए वात्सल्य, श्रृंगार और भक्ति साकार हो उठा है । अपने ही जीवन का प्रतिबिंब हम उनमें पाते हैं । कृष्ण की बाल-लीलाओं के वर्णन को पढ़कर हम अपने परिवार में बिताये बाल-जीवन के और भी निकट आ जाते हैं । जीवन को ऊँचा उठाना, सरस और सुसंस्कृत बनाना ही कृष्ण-चरित का प्रयोजन है । जो वस्तु हमारे अपने जीवन से दूर है वह हमारे लिए निष्प्रयोजन है । कृष्ण की वंशी का मधुर स्वर प्रत्येक व्यक्ति और गृहस्थ के जीवन में मिल जाता है । उसे मिठास प्रदान करता है ।

सूर के काव्य के दो मर्मस्थल हैं जिसके वर्णन में वे रस-स्रोत के अत्यधिक निकट पहुँच गए हैं- एक तो कृष्ण की बाललीला और दूसरा उद्धव–गोपी संवाद। इन दोनों के वर्णन में जो सफलता सूर को मिली वह अन्य किसी कवि को प्राप्त नहीं हुई। 'मैया, मैं गायन चराऊँगा। सारे ग्वाले मुझसे ही घिरवाते हैं। मेरे पाँव दुखने लगते हैं। जो मेरी बात न मानो तो अपनी सौह दिलाकर बलदाऊ से पूछकर देखो इस प्रकार के भाव मान व हृदय की उस सरलता के द्योतक हैं जो बाल रूप में फिर-फिर कर,अपने को नई करती हुई त्रिकाल में भी कम नहीं पड़ती है। भ्रमरगीत तो सूर की बेजोड़ रचना है। विश्व-साहित्य में यह अद्वितीय रचना है। मानवीय और बुद्धि और मन का अनंत संवाद इसमें हमें सुनाई पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है मानो कृष्ण रूपी अध्यात्म तत्त्व स्वयं इस संवाद, से बाहर रहता हुआ भक्त को प्रभावित कर रहा है। उद्धव और गोपियों के वचनों में हम चैतन्य की कभी तो प्रकट और कभी ओझल हो जाने वाली छाया देखते हैं। सत्य तो यह है कि इस एक प्रसंग ने ही सूर के भक्ति–प्रधान दृष्टिकोण को दर्शन का रूप दे डाला है। भक्ति का यह दृष्टिकोण ठीक उसी प्रकार आत्मानुभव पर लक्ष्य करता है जिस प्रकार उपनिषद्–प्रतिपादित वेदांत। सुनते हैं कि जब सूरदास का अंतिम समय आ गया और वे इस लोक से विदा लेने लगे तो उनके विषय में कहा गया–'भक्ति को जहाज जात है ,जाको कछु लेनो होय सोले'। निःसंदेह सूर सागर सूर की साधना में विकसित मन का साक्षात प्रतिनिधि है। यह भक्ति का एक जहाज है जिस पर चढ़कर पाठक का मन-रूपी पथिक अध्यात्म की यात्रा कर सकता है। जिस प्रकार के तुलसीदास के अध्यात्मिक अनुभव मतवाद की चारदीवारी से ऊपर है वहीं चारदीवारी या मतवाद भी सरस, अत्यंत उदार और समस्त लोक के लिए है। उसमें कहीं भी चारदीवारी या मतवाद के घेरे नहीं दिखाई पड़ते। मनुष्य के मन को बार-बार धक्का देकर अध्यात्म तक पहुँचाने के लिए एक आकुल किंतु सच्चा और बलवान प्रयत्न सूरसागर के पदों में मिलता है।

भारतीय ज्ञानाकाश में तुलसीदास जी का मानस दीप विशेष प्रकाश रखता है। तुलसीदास जी के मन में जो उजाला भर गया था वह रामचरितमानस में प्रकट हुआ। आज भी यह ग्रंथ मानव को चरित्र की शिक्षा देने वाले महान गुरू की तरह है। रामचरितमानस जनता के हृदय की भावना है। एक रामचरितमानस को पाकर ऐसा प्रतीत होता है मानो जनता ने अपने साहित्य, दर्शन, पुराण, धर्म और भाषा की प्राचीन परंपराओं में से सब कुछ प्राप्त कर लिया हो।

रामचरितमानस विक्रम की दूसरी सहस्त्राब्दी का सबसे अधिक प्रभावशाली ग्रंथ है। भक्तिकाल में भारतीय साहित्य के समुद्र से अनेक विचार सामने आए। समुद्र के अमृत तुल्य जल की जिस मात्रा में जनता को आवश्कता थी उसे समेटकर मानो गोसाईं जी ने रामचरित मानस में भर दिया है। इसमें न कुछ अधिक है, न कुछ कम। जो अन्यत्र था वह सार-रूप से यहां आ गया है और जो सार-रूप से यहां है वही विस्तार से अन्यत्र था। ऐसा माना जाता है कि जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास का जो स्थान था,भक्ति युग में वही स्थान गोस्वामी तुलसीदास को प्राप्त हुआ। दोनों ही कवियों ने अपने साहित्य में लोक के सम्मुख अभूत पूर्व कौशल को प्रकट किया है। 'चतुर्भुज ब्रह्मा की ज्ञानवेदी में जिस प्रकार वेद चतुष्टयी का संगम होता है उसी प्रकार धर्म, दर्शन, साहित्य और पुराण रामचरितमानस में एक साथ मिले हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने जिस ज्ञान-यज्ञ का विधान किया उसके मंडप में भारतीय साहित्य की समस्त परंपराएं अपने विशुद्ध लोकहितकारी रूप में मिली हैं। इस मंडप के तोरण पर संगति और समन्वय का संदेश अंकित है। गोस्वामी जी ने रामचरितमानस की इस विशेषता को आरंभ में ही पाठकों को बता दिया है

नाना पुराण निग मागम सम्मतं यद्-

रामायणे निगदितं क्वचिदन्यो तोऽपि।

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-

भाषा निबंन्ध मति मंज्जुल मातनोति।।

इस श्लोक में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि अनेक पुराण, वेदशास्त्र तथा संत मत आदि अन्य स्रोत से जनता के लिए कल्याण कारिणी वाणी को साररूप दिया गया है। इस ग्रंथ में सर्वसम्मत हुआ । इस श्लोक में तुलसीदास जी कहते हैं कि नाना पुराणों को और निगम-आगम सम्मत विशाल ज्ञान के भंडारों को तत्कालीन लोक भाषा में बद्ध करके, एक अति सुंदर निबंध के रूप में; जनता तक पहुंचना है। कवि के शब्दों में यह रामायण अति मंजुल भाषा निबंध है। उनका यह कथन माननीय है। मंगलाचरण की इस बात को महाकवि ने मानस के अंतिम श्लोक में फिर से दोहराया है।'[149]

रामचरितमानस में लोक-यात्रा के दर्शन देखे जा सकते हैं। भारतीय संस्कृति की विशेषता के अनुसार इस लोक-यात्रा में आधि दैविक और आध्यात्मिक घटकों का संबंध भी स्थान-स्थान पर दिखाई देता है। लोक-यात्रा का नियमन करने के लिए देवताओं के अवतार हुआ करते हैं। वे कभी-कभी आंशिक रूप में और कभी-कभी पूर्ण रूप में भी प्रकट होते हैं।'यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानि र्भवति भारत। अभ्युत्थानम धर्मस्य तदा त्मानम्सृजाम्यहम्।।' उक्ति के अनुरूप अगर किसी काम में लोक-यात्रा का स्वरूप विकृत हो गया हो तो उसकी विकृतियों को हटाकर उसे सुव्यवस्थित रूप देने का कार्य इन अवतारों द्वारा किया जाता है। भारतीय संस्कृति का संसार की सभी संस्कृतियों में पुरानी और श्रेष्ठ होने का यही कारण है कि वह पाश्चात्य

[149] वही,पृष्ठ संख्या-297

संस्कृतियों की तरह पूर्णतया नाम शेष कभी नहीं हुई । उसमें समय-समय पर ग्लानि भले ही आती हो लेकिन जैसा कि कहा गयाहै-अवतारों द्वारा उसे ग्लानि मुक्त किया जाता है और वह फिर से अपने अविकृत रूप में पूर्ववत् अभिव्यक्त होती है । इस संस्कृति की यह विशेषता रामचरितमानस में सुस्पष्ट दिखाई देती है । इस ग्रंथ में श्री राम जैसे महापुरूष के अवतीर्ण होने की परिस्थिति भारत में कैसे निर्मित हुई थी-उसका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है ।

तुलसी जी ने मानस में कलियुग की स्थिति,उसके लक्षणों के वर्णन के माध्यम से तथा रावण के अत्याचारों के वर्णन के बहाने अपने युग की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति की एक झलक प्रस्तुत की है । पार्वती के 'रामावतार का हेतु क्या है ?' इस प्रश्न के उत्तर में यद्यपि शिवजी ने कहा-

'जब-जब होइ धरम कै हानी। बाढ हिं असुर अधम अभिमानी।।

करहिं अनीति जा इनहिं बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।।

तब-तब प्रभु धरि बिबिद सरीरा ।हरिहिं कृपानिधि सज्जन पीरा[150]।।'

इस पद में शिवजी ने कहा है कि निशाचर रावण के वध के लिए ही राम का अवतार हुआ है । इस कथन के माध्यम से तुलसीदास ने अपने समय के गो-ब्राह्मण देवता पृथ्वी पीड़क, अनीतिमान् एवं अत्याचारी शासक को रावण के समान माना है । इस रावण रूप शासक के विनाश के लिए समर्थ, सबल एवं सुयोग्य शासक राम की जरूरत है । इन उद्गारों में तो तुलसी का उपर्युक्त हेतु सुस्पष्ट दिखाई देता है । तुलसी ने उत्तरकाण्ड में 'कलियुग के पापों' का जो वर्णन

[150]रामचरितमानस,तुलसीदास,बालकाण्ड,गीताप्रेस,गोरखपुर,संवत् 2000 विक्रम,पृ सं-121

किया है उसमें मानो उन्होंने अपने समय के समाज एवं संस्कृति की दशा का ही पूरा चित्र खींच दिया है।

कलियुगीन ब्राह्मण, वेष धारी तथा कथित साधु, विद्यावंत, वेदपाठक, पुराणिक, संन्यासी, जपी-तपी, योगी, महंत, गोसावी, गुरू,फकीर, संत, पुजारी, कीर्तनकार आदि सबके अनाचारों का बड़ा मार्मिक वर्णन तुलसी के मानस में चित्रित है। समाज एवं संस्कृति की दुर्दशा का ही यथार्थ व प्रतिबिम्ब उक्त अभंगों में दिखलाई पड़ता है। समाज एवं संस्कृति की इस विकृत एवं अधः पतित दशा से तुलसीदास का भावुक सामाजिक मन विक्षुब्ध हो उठा। उन्होंने समाज की नवनिर्मित एवं संस्कृति की पुनःप्रतिष्ठा के लिए अपने ग्रंथों द्वारा समाज और संस्कृति के उत्कृष्ट आदर्शों के चित्र विविध रूपों में प्रस्तुत किये। गोस्वामी तुलसीदास ने मानस में व्यक्ति,परिवार और समाज का सुंदर आदर्श प्रस्तुत किया है। व्यक्ति से ही समाज बनता है। परिवार और राज्य भी समाज के ही लघु एवं विशाल रूप हैं। मनुष्य और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध है।

व्यक्ति एकांतिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास एवं उसका जीवन-निर्वाह समाज की कृपा व सहायता पर ही निर्भर करता है इसीलिए स्वभावतः व्यक्ति का भी समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य होता है। पहले-पहल जिस परिवार में व्यक्ति रहता है वहां वह एक सदस्य या परिवार का एक इकाई होने के नाते, परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति भी, कुछ कर्त्तव्य होता है। जैसे - पुत्र का माता-पिता के प्रति, माता-पिता के पुत्र के प्रति, भाई के भाई-बहन के प्रति, स्वामी के सेवक के प्रति और सेवक के स्वामी के प्रति, पति के पत्नी के प्रति और पत्नी के पति के प्रति कुछ कर्त्तव्य होता है। इसी तरह परिवारेतर विशाल समाज,राज्य के प्रति और स्थिति या व्यवसाय-विशेष के अनुसार उसका कुछ अन्य कर्त्तव्य भी होतें है। तुलसी

के काल में इन कर्तव्यों की नितांत उपेक्षा हो गयी थी । तुलसी ने इसीलिये मानस में व्यक्ति के परिवार,समाज एवं राज्य के प्रति कर्त्तव्यों का उत्कृष्ट आदर्श जगह-जगह पर प्रस्तुत किया है ।

मानस में प्रस्तुत पारिवारिक आदर्श एवं गृह-शिक्षा का समग्र-सर्वांगीण चित्र इस प्रकार है–सबेरे ब्राह्म मुहूर्त पर अरूण चूड की ध्वनि के साथ ही सभी जाग जाएं और अपनी-अपनी उपासना के अनुरूप अथवा गुरु-निर्दिष्ट मार्ग के अनुसार भगवत का स्मरण करें । अनंतर गुरु, ब्राह्मण,देवता, माता-पिता और वृद्ध की चरण-वंदना करें । तत्पश्चात प्रातः की विधि पूराकर के सूर्योदय से पहले विशुद्ध चित्त से गंगा-स्नान करें । फिर यथा विधि संध्योपासना आदि करें । ये प्रथम प्रहर के काम हैं । फिर स्त्री-पुरुष यथाधिकार सुयोग्य व्यक्तियों द्वारा पुराण आदि का श्रवण-पाठ करें । ये सब नित्य कर्म हैं जो कि हर एक व्यक्ति को करना चाहिए [151]।

घर के पुरूषों का भोजन एक ही पंक्ति में हो[152]। मध्याह्न तक घर के लोगों का भोजन समाप्त हो । फिर किंचित विश्राम के पश्चात व्यवसाय का आरंभ हो[153]। दिन के अंतिम प्रहर में पुरुष खुले मैदान में घूमने जाएं[154]। समय पर सब स्नान-संध्या करें । प्रातःकाल की ही तरह रात को भी वंदना आदि विधि भी हो । फिर भोजन के पश्चात परिवार के लोग एकत्रित हों और सांसारिक चर्चा के बदले पारमार्थिक चर्चा करें । इस प्रकार प्रसन्नचित्त होकर राम दूसरे पहर में शयन करें परंतु ततपूर्व अपने–अपने नाते के अनुसार चरण स्पर्श करें । यह सर्वमान्यतया दिनचर्या का रूप है । अब विशेष गृहाचार का रूप इस प्रकार है–

---

[151] वही,पृ.सं-357

[152] वही,उत्तरकाण्ड,पृ.सं-26

[153] वही,बालकाण्ड,पृ.सं-21

[154] वही,बालकाण्ड,पृ.सं.-218

गृह-चालक सरल मना एवं गुण ग्राही हो। सस्नेह कुटुम्ब-पालन ही उसका ध्येय हो। घर में वृद्ध स्त्रियां अपनी बहू-बेटियों के साथ कैसा व्यवहार करती हैं उस पर उसका ध्यान रहे[155]। घर में आये हुए अतिथि-अभ्यागतों के लिए उसका घर अपने घर जैसा प्रतीत हो। यह तभी संभव है जब घर में आदर और प्रेम का ही सर्वत्र व्यवहार हो। अतिथि-अभ्यागतों की सेवा के सामने गृह चालक अपना चित-वित्त, देह-गेह एवं पुत्र-कलव तृणवत समझे। प्रत्येक परिवार स्वधर्म, वर्णाश्रम धर्म एवं वैदिक क्रिया-कलापों का पीठ ही हो। तुलसीदास ने रामचरितमानस में व्यक्तिगत आदर्शों की भी प्रतिष्ठा की जिसका रूप संक्षेप में इस प्रकार है–

पुत्र का आदर्श- राम के रूप में तुलसी ने पुत्र का आदर्श प्रस्तुत किया है। माता-पिता की आज्ञा को सर्वोपरि मानकर चलना, उनके प्रति आदर की भावना रखना, वृद्ध दशा में उनके सार-संभार और कुशल की चिंता करना, संकट-काल में उनको सांत्वना देना, उनका रूख देखकर ही उनके साथ मृदु-मीठा और विनम्रता पूर्वक व्यवहार करना आदि पुत्र के सभी आदर्श राम में पाते हैं। राम कौशल्या जैसा ही प्रेम अपनी सौतेली माताओं से भी प्रेम करते हैं। विशेषकर वन-गमन प्रसंग में राम के इस आदर्श का उदात्त रूप हम देखते हैं।

माता-पिता का आदर्श- दशरथ,कौशल्या, सुमित्रा एवं कैकेयी- सबको पुत्र-वत्सलता के उत्कृष्ट आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दशरथ के उत्कट पुत्र-प्रेम की ही ये परिणति ही उनके देहांत में हुई। कौशल्या और कैकेयी के वात्सल्य का आदर्श,सौतेले पुत्र के प्रति सगे पुत्र जैसे या उससे भी अधिक स्नेह में निहित है। इसी आदर्श के फलस्वरूप कौशल्या को राम-वन-गमन प्रसंग में राम या अन्य किसी की अपेक्षा भरत की दशा क्या होगी इसकी अधिक चिंता है[156]। कैकेयी भी राम को प्राण, से भी अधिक प्रिय मानती है। सुमित्रा ने भी अपने उदात्त वात्सल्य का

---

[155] वही,अयोध्याकाण्ड,पृ.सं-141

[156]वही,अयोध्याकाण्ड,पृ.सं- 55

परिचय देते हुए लक्ष्मण से कहा था– 'तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता रामु सब भाँति सनेही[157]।। 'छाती पर पत्थर रखकर अपने सुपुत्र लक्ष्मण को वनगमन के लिए वे अनुज्ञा देती हैं। राम-विरह से विह्वल भरत की ग्लानि को, अपने प्यार भरे मधुर सांत्वना परक शब्दों से दूर करके कौशल्या ने अपने वात्सल्य के श्रेष्ठ आदर्श का निर्वाह किया है।

भाई का आदर्श:राम,लक्ष्मण और भरत तीनों भाइयों ने अपनी-अपनी ओर से भाई-भाई के प्रति कर्त्तव्य एवं स्नेह का आदर्श निभाया है। भरत का आदर्श इन सबमें उत्कृष्ट माना जाता है। राम का बाल्यावस्था में सभी भाइयों से सस्नेह व्यवहार,सौतेले भाई भरत-लक्ष्मण के साथ उनका अकृत्रिम प्रेम,भरत के कुशल की चिंता के कारण अवधि समाप्त होते ही अयोध्या लौटने की राम की उत्सुकता में तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने पर किये गए उनके विलाप में ही राम का आदर्श समाया हुआ है।

पति-पत्नी का आदर्श : राम में आदर्श पुत्र की तरह आदर्श पति के दर्शन भी होते हैं। पत्नी के प्रति एक निष्ठा, स्नेह,वन्य जीवन में प्रेम पूर्वक देखभाल, विरह में विह्वल होना आदि द्वारा राम के व्यवहार में एक आदर्श पति के दर्शन प्रस्तुत होते हैं। कौशल्या और सीता पत्नी के आदर्शत्व के मूर्तिमत रूप हैं। पति की सहचरी के रूप में और हर प्रसंग में उसका साथ देने के साथ ही साथ उसके संकट में सांत्वना देकर, कौशल्या ने आदर्श पत्नी की भूमिका निभाई तो सीता ने भी-'जिय बिनु देहन दी बिनु बारी। तैसि अनाथ पुरुष बिनु नारी।।' कहकर अपने पति के साथ ही वन में कष्टों का जीवन बिताते हुए उनकी सेवा- परिचर्या करके तथा उनके आदेशों के अनुरूप व्यवहार करते हुए आदर्श पत्नी का धर्म निभाया है।

---

[157],वही,पृ.सं -74

शासन-व्यवस्था का आदर्श: समाज की तरह शासन-व्यवस्था का आदर्श भी तुलसीदास ने प्रस्तुत किया है। तुलसी की मर्यादा वादिता उनके राज्यादर्श में भी दिखायी देती है जिस प्रकार उनके समाजादर्श में कल्याण की भावना निहित थी, उसी प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत राज्यादर्श के मूल में भी प्रजाहित की भावना विद्यमान थी। उन्होंने राजा और प्रजा का जो आदर्श रखा था, वह सुख-समृद्धि का पोषक एवं सर्वोदय की कल्पना को मूर्त रूप देने में समर्थ था। तुलसी ने अपने काल का अत्याचारी पूर्ण शासन और उसके परिणामस्वरूप प्रजा की दुर्गति देखा था। उन्होंने रावण के शासन का जो चित्रण किया वह उन्हीं के समय के आततायी शासकों के भय, अन्याय,दमन नीति एवं शोषण पर आधारित राज्य का ही प्रतिरूप है जो कि उत्तरकांड में कलियुग–महिमा में वर्णित जो समाज की अराजकता एवं दुर्दशा का चित्र भी है। वह भी उक्त शासन का ही पाश्चात्य परिणाम है जिसका वे अपने समय में अनुभव कर रहे थे। अपने समय के शासन का चित्र निम्न शब्दों में उन्होंने अंकित किया-

'नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दंड विडम्ब प्रजानि तहीं[158]।।'

सामाजिक संस्कृति के जो आदर्श ऊपर बताये गये हैं उनका स्वरूप नागरी जीवन में किस प्रकार हो सकता है, इसकी कल्पना करना दुष्कर नहीं है परंतु उन्हीं उच्च आदर्शों को ग्रामीण जीवन में भी अवतरित करना किस प्रकार संभव है ,इसका निर्देश तुलसी ने रामकालीन ग्रामीण चित्रण द्वारा किया है।

अयोध्या एवं मिथिला के नगरवासियों के आचार-व्यवहारों में शिक्षित संस्कृत उच्चस्तरीय समाज की संस्कृति का एक सीधा निर्मल रूप है जिस पर हमें गर्व करना चाहिए।

---

[158]वही,,पृ.सं-101

निश्छल, भेद-भाव रहित, नागरी दाँव-पेंच से अलिप्त विशुद्ध मानवता के दर्शन वस्तुतः इसी ग्रामीण संस्कृति में हमें हो सकता है। तुलसी का मन कदाचित इस संस्कृति में अधिक रम गया था इसीलिए उसका उन्होंने मानस में उसका विशेष रूचि के साथ सहृदयता पूर्वक चित्रण किया है।

राम-लक्ष्मण-सीता जब वन की दिशा में मार्ग-क्रमण करते हैं तब एक एक गाँव को पार करके वे आगे बढ़ते हैं। रास्ते में ग्रामीण नर-नारियों के उन्हें दर्शन होते हैं। इन राजसी सुकुमार पुरुषों को मुनि वेष धारण करके पैदल ही कंकड़ीले-पथरीले मार्ग से होकर जाते देखकर स्वभावतः भावुक ग्रामीण नर-नारियों के मन में एक प्रकार का कौतूहल निर्मित होता है। वे सोचते हैं , आपस में बातें करते हैं। कुछ भाव प्रकट करते हैं। इन परदेसियों से भी कुछ जानने की इच्छा प्रकट करते हैं पर अपरिचित व्यक्तियों से बोलें कैसे ? इच्छा को मन में ही दबाना पड़ता है परंतु अंत में एकाध नारी साहस करके सीता को छेड़ ही देती हैं और 'साँवले' से उनका नाता पूछ लेती हैं। सीता 'सयननि' क्यों नहो, उत्तर पाने पर सुख की राशि पाने का भाग्य उन्हें प्राप्त होता है। ऐसे प्रसंगों को चुनकर तुलसी ने अपनी कुशल तूलिका से,बड़े चातुर्य एवं मार्मिकता के साथ उन्हें चित्रित किया है। उनके प्रदर्शित इन चित्रों में ग्रामीणों की मनोभूमि का यथार्थीय परिचय तो मिल ही जाता है लेकिन इसके अतिरिक्त ग्रामीणों के साथ कुछ क्षणों के लिए ही क्यों नहो, सह जीवन का आनंद भी हम पालते हैं। कैकेयी के कुचक्र का परिचय पाने पर उसे कोसने और दशरथ को खरी–खोटी सुनाने में भी वे हिचकते नहीं है। उसी प्रकार रास्ते में मिलने वाली निषाद,भील,वानर आदि विभिन्न जातियों से भी सामना पड़ने पर उन्होंने जो राम के प्रति आतिथ्य और सेवा के भाव व्यक्त किये हैं उनसे कौन सहृदयी व्यक्ति आनन्द-विभोर नहीं होगा ? कोई दुर्गम झाड़ी- पहाड़ियों में मार्गदर्शन हेतु उनके साथ आना चाहता है तो कोई

हिंसक पशुओं से उनकी रक्षा करने की हामी भरता है । कोई उन्हें शुद्ध, निर्मल,शीतल जल लाकर देता है तो कोई उनके लिएकुटी बना देता है कोई साथी बिछा देता है । कोई खेवे की मजदूरी लिये बिना ही उन्हें गंगा पार कराने में ही अपने जीवन की कृतकृत्यता मानता है । इस वर्णन द्वारा तुलसी ने एक मार्मिक तथ्य पर भी परोक्ष रूप से प्रकाश डाला है । वह यह कि नागरी समाज की अपेक्षा ग्रामीण या लोक समाज में भाव की प्रधानता होती है । फलतःसहानुभूति, सहृदयता और पर-दुःख-कातरता के भाव ग्रामीण संस्कृति में अधिक मात्रा में मिलते हैं । उनकी आतिथ्य प्रियता का भी कोई जोड़ नहीं दिखाई देता है । तुलसी ने वास्तव में ग्रामीण संस्कृति के इस चित्रण द्वारा अपनी सहृदयता का बेहतरीन परिचय दिया है।

रामायण और महाभारत ने हर युग में भारतीय कला पर प्रभाव डाला है । शिल्पियों, मूर्तिकारों, चित्रकारों, नाटककारों,नृत्तकारों तथा कवियों ने इन दो महाकाव्यों से विचार तथा विषय लिये हैं तथा उनके पात्रों को अपनी कला में प्रस्तुत किया है । यहां देवताओं का स्वभाव तथा आचरण मनुष्यों के समान है । उनमें हर तरह की मानवीय कमियां हैं । पौराणिक योद्धा प्रायःधीरोदात्त, उत्तम और दोष– रहित होते हैं और कई बार देवताओं तक को परास्त कर देते हैं । राम, कृष्ण, अर्जुन, सीता, राधा, रावण और हनुमान बार– बार सामने आते हैं । हजारों गुफाएं और मंदिर इनकी मूर्तियों और चित्रों से भरे हुए हैं । रामलीला और कृष्ण लीला जो कि उत्तर भारत में प्रत्येक वर्ष लोकनाटकों के रूप में खेली जाती हैं, राम और कृष्ण की जीवन–लीला ही प्रदर्शित करती हैं । कथकली नृत्त– नाट्य, जो (मालाबार में पूरी–पूरी रात खेला जाता है) रामायण और महाभारत के योद्धाओं की कहानी ही मूर्तिमान करता है । वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति तथा अन्य संस्कृत नाटककारों से लेकर बीसवीं शताब्दी के टैगोर तथा वल्लतोल तक; सभी ने इन पौराणिक गाथाओं से प्रेरणा ली है । हिंदुओं की

शिल्पकला, मूर्तिकला, नृत्य तथा नाटक में; रूप– सौंदर्य की छटा सदा छाई रही है। इन धार्मिक कलाकारों के लिए शारीरिक सौंदर्य निराकार का साकार रूप है। भारतीय कलाकार विचारों को मूर्तिमान करने में बहुत विलासमयी आनंद का अनुभव करता है । यह भी इन्हीं दो महाकाव्यों की देन है। प्राचीन भारतीयों की इस दार्शनिकता से प्रभावित पड़ोसी देशों और सुदूर के देशों- सुमात्रा व बाली द्वीपों द्वारा, बौद्ध धर्म और इस्लाम धर्म स्वीकार करने के बाद भी वे रामायण– महाभारत के देवी देवताओं की कथाएं खेलते रहे। लगभग इन सभी देशों में राम– रावण युद्ध नृत्य– रूपकों के रूप में खेला जाता है। कई प्राचीन नृत्य– परंपराएं जो विदेशी आक्रमणों के कारण भारत में समाप्त हो गई थीं, अब तक दक्षिण– पूर्वी एशिया के द्वीपों में जीवित हैं क्योंकि ये द्वीप शताब्दियों से रामायण और महाभारत की पुरातन कथाएं खेलते आए हैं। भारत में हर वर्ष विजय दशमी के त्यौहार पर दस दिनों के लिए रामायण खेली जाती है। इस दिन राम रावण को मारकर विजय श्री प्राप्त करते हैं। सारे भारत में इस अवसर पर रामलीला होती हैं, झाँकियां निकलती हैं, खुले मैदानों और चबूतरों पर रामायण का पाठ होता है। नगरों में इसी विषय पर नाटक, संगीत– रूपक तथा नृत्त– नाटक खेले जाते हैं। इस राष्ट्रीय नाट्योत्सव में हर वर्ग और हर श्रेणी के लोग सम्मिलित होते हैं। उदाहरण स्वरूप गांवों में कथावाचक,चौपाल में पीले पन्नों वाली रामायण खोलकर बैठता है और तुलसीदास की चौपाइयां गाकर पढ़ता है। अपनी कथा में वह माहात्म्य की कथाएं जोड़कर बड़ा आकर्षक दृश्य उपस्थित कर देता है। स्त्रियों, पुरुषों और लड़के– लड़कियों की भीड़ को वह राम– सीता की कथा सुनाता है सदाचार का उपदेश देता है और अकेला ही गाकर व बोलकर भाव भरा नाटक रचता है। कस्बों और गांवों में स्त्रियां बच्चे गोद में उठाए, भूरे मटमैले खेसों में लिपटी हुई और दुकानदार लाले हुक्का पकड़े रामलीला देखने के लिए आ बैठते हैं। कथा का हर एक को पता

होता है नाटक धीरे– धीरे आगे बढ़ता कुछ लोग अपने पास बैठे हुए को कहकर नींद की एक झोंक ले लेते हैं कि 'भाई जब रावण सीता को हरने आए, मुझे जगा दी जो' । गत्ते के महल भक– भक जल उठते हैं । रस्सों से बँधा हुआ रावण का विमान हवा में उड़ता है । लक्ष्मण राक्षसों की सेना का नाश कर देता है । बाली और सुग्रीव गोटे से मढ़ी हुई बड़ी– बड़ी गदाएं उठाए लड़ते हैं । दर्शक उत्साह में भरकर अपने– अपने योद्धाओं को प्रोत्साहित करते हैं।

इस युग में वैष्णव– भक्ति का विकास प्रमुख रूप से दो धाराओं में हुआ– कृष्ण भक्ति तथा रामभक्ति । रामलीला और रासलीला का रंगमंचीय इतिहास तो बहुत प्राचीन है । भक्ति काव्य का जब ऊषा काल था, वही समय हिंदी नाट्य– रचना और रंगमंच के लिए सुनहला प्रभात था । कथा के साथ– साथ रंगमंचीय प्रक्रिया में भी परिवर्तन दिखाई देते हैं । भक्ति काव्य और रंगमंच को विराट् वैष्णव आंदोलन से प्रेरणा मिली जिसने 3वीं शती से लेकर तीन शतियों तक उत्तर– भारत को अभिसंचित किया । जनसाधारण के बीच भक्ति भाव उत्पन्न करने के लिए रामलीला और रासलीला का नाटकीय प्रदर्शन अत्यंत लोकप्रिय तथा आकर्षक साधन सिद्ध हुआ । स्पष्टतः इस तरह एक आकर्षक और लोकप्रिय रंगमंच के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत हो गई । भक्ति– आंदोलन जनसाधारण की प्रवृत्तियों की सहायता से ही विकसित हुआ । इन रंगमंचीय प्रवृत्तियों में इस नवीन रंगमंच के लिए संस्कृत की अपेक्षा लोकभाषाओं में नाटकों की माँग हुई । अनेक देशी भाषाओं में भक्त वत्सल भगवान की लीलाओं का प्रदर्शन आरंभ हुआ । उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग में ब्रजभाषा, मध्य में अवधी और पूर्व में मैथिली भाषाओं में लीलाएं प्रदर्शित की जाने लगीं । इस रंगमंच के दो क्षेत्र थे मंदिर और राजभवन । वैष्णव रंगमंच की पश्चिमी शाखा का विकास मंदिरों या अन्य धार्मिक स्थानों में हुआ । पूर्वी शाखा का विकास प्रायः

राजभवनों या दरबारों में हुआ । मंदिरों में प्रचलित रंगमंच के मुख्य रूप-रासलीला तथा रामलीला अभी धार्मिक लोक– रंगमंच की परंपरा को कायम रखे हुए हैं । ऐसा माना जाता है कि रास लीला का प्रथम मंचन वल्लभाचार्य ने किया था और रामलीला की शुरुआत गोस्वामी तुलसीदास द्वारा की गई थी । सूरसागर के अनेक पद संवाद शैली में लिखे गए हैं जिनका प्रयोग रासलीला के प्रदर्शन के लिए किया जाता है । अत्यंत प्राचीन काल से आध्यात्मिक महत्व के तीर्थों पर श्रद्धा की भावना प्रतिष्ठित रही है जो सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय पक्षों का स्पर्श करती है । अतः भावनागत संस्कार से सभी धार्मिक संप्रदायों के केंद्र और उनके प्रवर्तकों के जीवन से संबंधित स्थल व तीर्थ बनते गए । तीर्थों तथा उनकी यात्रा का सांस्कृतिक महत्व लोक– विश्वास पर आधारित है । उत्तर भारत के कृष्ण भक्ति संप्रदायों के कारण ब्रज, मथुरा, गोकुल, बरसाना, वृंदावन आदि तीर्थों के महत्व की प्रतिष्ठा हो गई थी क्योंकि ये प्रदेश आराध्य श्रीकृष्ण की लीलाओं से संबधित हैं । इसी प्रकार रामभक्त भी तीर्थाटन पर पूर्णता से विश्वास करते थे । भारतीय समाज में,धार्मिक कृत्य के रूप में,यज्ञ का महत्व स्वीकृत है । कृष्ण भक्ति संप्रदायों के युग में भी इस मान्यता में कोई कमी नहीं आई । किंत युगत परिस्थितियां यज्ञ के अनुकूल नहीं थी सो यज्ञ का अनुष्ठान नहीं हो पाता था । इस स्थिति का संकेत इन पंक्तियों में मिलता है।

जज्ञ सरा धन को उकरै, को उधर्मन मन में धरै

विरथा जन मलियो संसार । यज्ञ, जप, नहिं कीन्ह्यौं, अल्प मति विस्तार।

उधर जन- मानस में यज्ञ के प्रति सांस्कृतिक आस्था बनी हुई थी और उन्हें इस बात का विश्वास था कि यज्ञ के द्वारा स्वर्ग सुलभ है । लोगों की भक्ति संवेदना से भक्तिकालीन काव्य का गूढ़ संबंध है । इस काल के कवियों ने मानवीय मूल्यों को बचाने के लिए ईश्वर को मानवीय रूप में प्रस्तुत

किया है । ईश्वरीय संरक्षण पाने के लिए लोगों ने मौजूद कलाओं में कृष्ण और राम के चरित्र का पूजन किया है । रामानंद के अनुसार सभी व्यक्ति, यदि वे वैष्णव धर्म को मानते हों तो, भोजन साथ बैठकर कर सकते हैं । इस प्रकार उन्होंने अपने धर्म का द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिए खोल दिया और जनता इस ओर तेजी से आकर्षित हुई । रामानंद ने एक ओर तो भक्ति का मार्ग सबके लिए खोल दिया तथा दूसरी ओर देश की जन– भाषा हिंदी को अपनाकर उसी में अपने भक्ति– मार्ग का प्रसार किया । भक्ति– आंदोलन की जो लहर दक्षिण से उत्तर– भारत में आयी थी वह समस्त उत्तरी भारत में फैल गयी । मध्यकालीन भक्ति– आंदोलन जन– आंदोलन बन गया । देश की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण जनता ने इसे पूर्ण रूप से अपना लिया।

मध्यकालीन उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का उदय पारंपरिक हिंदुत्व के विरूद्ध हुआ था । इस आंदोलन का स्वरूप एवं कार्य-क्षेत्र लगभग सूफीवाद के समान ही था लेकिन जहां सूफी इस्लाम, कुरान या पैगम्बर के विरुद्ध नहीं गए वहीं भक्तिमार्गी संतों का विशेषतः निर्गुण सिद्धांत वादियों का आन्दोलन हिन्दूवाद या ब्राह्मणवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक रूप से उभरा । यह वास्तव में दीर्घ कालीन सामाजिक,धार्मिक भेदभाव एवं अनादर के फलस्वरूप समाज के निम्नवर्गों का आंदोलन था जिसका सामना उन्होंने किया था । अतःइनके आध्यात्मिक नेताओं ने न केवल परंपरागत हिंदूवाद के विधि-विधानों को ही चुनौती दी बल्कि धार्मिक नेतृत्व को अपने हाथों में लेकर ब्राह्मणों के धार्मिक एकाधिकार को निरस्त कर दिया । अतएव उनके संबंध में यह विश्वास करना उचित नहीं होगा कि वे सभी शांतिप्रिय सामाजिक-धार्मिक सुधारक थे । वास्तव में उनके सुधार की अवधारणा सैद्धान्तिक एवं वैचारिक आधार पर आधारित थी जबकि उनका उद्देश्य जीवन के व्यावहारिक पक्षों को कार्यान्वित करना था जिसके निमित्त उनके मस्तिष्क में कुछ उद्देश्य एवं स्थूल दृष्टिकोण थे । इनमें से कुछ ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजनैतिक और यहाँ तक किस शस्त्र स्वरूप भी धारण कर लिया था।

पंद्रहवीं शताब्दी तथा उसके बाद उत्तर भारत में अधिक संख्या में भक्ति संत-सगुण एवं निर्गुण दोनों संप्रदायों से उदित हुए। निर्गुण मार्ग के कबीर, नानक एवं दादू सामान्यत या गैर-सांप्रदायिक एवं निरपेक्ष थे। उन्होंने किसी भी परंपरा का अनुसरण नहीं किया बल्कि अपना एक अलग आध्यात्मिक संगठन बनाया तथा पूर्णतःप्रवर्तित स्वतंत्र उपदेशक बने रहे। उनकी दार्शनिक अवधारणा शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित वेदान्ती अद्वैतवाद पर आधारित थी यद्यपि वे सनातन हिन्दू नहीं थे। वे किसी भी चार लोकप्रिय वैष्णव संप्रदायों संबंद्ध नहीं थे तथा नहीं व्यवस्थित दार्शनिक थे। ये रहस्यवादी संत परंपरागत रूप से शिक्षित भी नहीं थे तथापि इनकी विचार धाराओं ने समान रूपधारण किया। उनमें अत्यधिक पारस्परिक वैचारिक चेतना उत्पन्न हुई। अतः यह संयोगवश नहीं हुआ कि इस प्रकार के सभी क्रान्तिकारी सन्तों ने हिंदू या मुस्लिम के रूप में अपनी पहचान नहीं बनाई। उनकी धार्मिक विचारधाराओं ने हिंदुत्व या इस्लाम-किसी को भी परिपुष्ट नहीं किया बल्कि ईश्वर के एकत्व के साथ सार्वभौमिक धर्म की अभिव्यक्ति को मूर्त रूप दिया। दादू विशेष रूप से कहते हैं–'मैं हिन्दू नहीं हूँ, न ही मुसलमान हूँ। मैं हिन्दुओं के छः दर्शनों को नहीं मानता। मैं दयालु (परमात्मा) का भक्त हूँ'[159]।

दादू हिंदुत्व एवं इस्लाम के धार्मिक मतभेदों से अत्यधिक चिंतित थे जोकि मिथ्यापूर्ण धार्मिक सर्वोच्चयता की अवधारणा पर आधारित था। अतएव वह लोगों को संकीर्ण धार्मिक विश्वासों एवं व्यवहारों से बाहर लाना चाहते थे। इसको लोगों ने पसंद नहीं किया। ऐसे विचार रखने के लिए दादू के साथ जो हुआ,वह महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ-स्वयं दादू के अनुसार 'भय एवं आतंक लोगों में पैदा होता है जब वे देखते हैं कि मैं किसी भी समुदाय

[159]एक सिक्सीन्थ सेन्चुरी इंडियन मिस्टिकः दादू एण्ड हिज फॉलोवर्स,डब्ल्यू जी.आर,1998 पृ.सं-46,48

से संबद्ध नहीं हूं।[160]' यह महत्वपूर्ण है कि सिकन्दर लोदी के पास जाकर दोनों समुदायों के धार्मिक नेताओं द्वारा कबीर के शिकायत हेतु कबीर का जो परिचय दिया वह इस प्रकार से है - 'वे जो कबीर की बातों पर ध्यान देते हैं । न हिन्दू बने रहते हैं और न ही मुसलमान[161]।' संत कवियों ने समाज सुधार और भक्ति के निर्गुण रूप को लोगों तक पहुँचाया । लोगों के भीतर मानव धर्म के प्रचार- प्रसार में इन कवियों का विशिष्ट योगदान रहा है जो कि भक्ति के युग में अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

धार्मिक समुदायों से हटकर भक्ति का विस्तार नाटकीय शैलियों के माध्यम से भी हो रहा था । अनेक लोक पारंपरिक शैलियों ने लोगों के भीतर की भक्ति में परिवर्तन ला दिया । धार्मिक आडंबरों और तांत्रिकता से अलग भक्ति का स्वरूप तैयार हुआ । इस रूप में हिंदी रंगमंच का विशिष्ट योग रहा है । अध्याय के निष्कर्ष तक पहुँचने से पहले हमें भारतीय नाटयकला और विदेशी नाटय कला के बीच अंतर्संबंध को समझना होगा । इन दोनों ही मामलों के नाट्यकला में धार्मिकता समान है । भारतीय नाट्य कला के इतिहास में मध्ययुगीन भाषा-नाटकों का उदय उतनी ही महत्वपूर्ण घटना थी जितनी यूरोप की । विशेषतः इंगलैण्ड- में 11वीं से 15वीं शाताब्दियों में चर्च से सम्बद्ध 'मिस्टरी' मोरैलिटी और 'मिरैकिल' आदि नामों से ज्ञात धार्मिक तथा बाइबिल के कथा–नाटकों का विकास । एलर्डाइसनिकल के अनुसार जिस समय सारे यूरोप में सांस्कृतिक सुषुप्ति (डार्कएज) के कारण रंगमंच करीब करीब खत्म हो चला था और चर्च के असांसारिक एवं संकीर्ण आदर्शों ने कला और मनोरंजन को सामाजिक जीवन से बहिष्कृत-साकर दिया था, तब 11वीं शताब्दी के आसपास अत्यंत प्रच्छन्न रूप में अभिनय एवं नाट्य ने चर्च ही के मार्ग से पुनः झाँकना शुरू किया । ईस्टर में ईसा मसीह के पुनर्जीवन के स्मेति–उत्सव पर कुछ पूजन–प्रक्रिया होती थी । उसी पूजन से संबद्ध बाइबिल कथा को स्पष्ट करने के लिए सविस्तार

---

[160]वही,पृ.सं- 56

[161]वही, 57

प्रदर्शन किया जाने लगा । लैटिन भाषा में' हिस्स' यानी प्रार्थना–गीतों के साथ ईस्टर की उस व्रत–कथा का प्रदर्शन होने लगा जिसमें ईसा मसीह के पुनर्जीवित होने की वार्ता उनकी माँ मेरी और उनकी आराधिका मेरी माडलिन सुनकर वध स्थली पर जाती हैं । इसी प्रदर्शन ने बाद में नाटक का रूप ले लिया और इन नाटकों को मिस्टरी 'नाटकों का नाम दिया गया।[162]' ''

'मिरैकल' नाटक में भी इनसे मिलते-जुलते रूपक थे जिनके कथानक संतों के जीवन की चमत्कारपूर्ण घटनाओं पर आधारित थे। 'मोरैलिटी' नाटकों में जीवन के नैतिक आदर्शों,पाप पुण्य और आस्था-अनास्था की मान्यताओं को प्रतीकात्मक रूप में प्रदर्शित किया जाने लगा । मध्ययुगीन भाषा-नाटकों की एक विधा यानी वैष्णव संगीतकों का यूरोप के इन चर्च नाटकों से निम्नलिखित बातों में साम्य दीख पड़ता है– 1. जिस तरह से प्राचीन गीतों यानी 'हिस्स' को बाइबिल कथाओं में पिरोकर 'मिस्टरी' और 'मिरैकिल'नाटकों को प्रस्तुत किया जाता था, लगभग उसी तरह शंकरदेव ने वरगीतों को भटिमा, प्याड़ और स्तुतियों के रूप में पौराणिक कथाओं में गूंथा । चर्च नाटकों में लैटिन भाषा के कुछ पूजन गीत होते थे तो संगीत कों में संस्कृत के श्लोक और स्तुतियां होती थीं । 2. चर्च नाटकों की अभिनय स्थली और वैष्णव संगीतकों की रंगशाला एक-दूसरे से मिलती-जुलती है । दोनों ही में दर्शक और नट के बीच निकट संपर्क होता था । प्रेक्षक दो तरफ बैठे या खड़े रहते थे –वैष्णव नाटकों में हरि बोल में प्रेक्षक साथ देते थे, चर्च नाटकों में भीड़ इत्यादि के दृश्यों में । रंगस्थली में विभिन्न स्थानों को अलग-अलग मंचों के द्वारा चर्च नाटकों में, उसी प्रकार दिखाया जाता था जैसे असम के वैष्णव नाटकों को पारंपरिक शैलियों के द्वारा दिखाया जाता था । भारतीय नाट्य शैली एवं विदेशी नाटकों की परंपरा में केवल सांस्कृतिक भेद दिखाई पड़ता है । उत्तर भारत की नाटकीय परंपरा स्थानीय लोगों के

[162]प्राचीन भाषा नाटक,डॉ दशरथ ओझा,जगदीशचन्द्र माथुर,नेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,1975,पृ सं- 252

बीच फैली हुई । अतः कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन नाटकीय शैलियाँ आम लोगों से अधिक जुड़ाव रखती हैं ये शैलियां दरबारी संस्कृति से हटकर लोगों के बीच पैर पसारती है।

अंततः कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भक्ति संवेदना को रामलीला और रासलीला की – भक्ति भावना से अलग करके कदापि नहीं समझा जा सकता । इस भावना की संतुष्टि के लिए अभिनेताओं को पूजित मुकुट पहनाकर उनमें देवत्व प्रतिष्ठित कर दिया जाता है । वे तबतक मुकुट धारण किये रहते हैं जबतक उन्हें देवताओं की भाँति सम्मानित किया जाता है । मध्यकाल की भक्ति परंपरा से प्रेरित दो और लीलाएं काशी में परंपरागत रूप से चली आ रही है । पहली नृसिंह लीला और दूसरी कृष्ण लीला । नृसिंह लीला तो भक्ति काल से भी अधिक पुरानी प्रतीत होती है । भक्तिकाल में गोस्वामी तुलसीदास ने इस परंपरागत लीला को पुनर्व्यवस्थित करके नवीन संस्कार दिया । हिंदी रंगमंच की लोकनाट्य शैलियों के श्रेय से ही भक्ति-संवेदना का विकास संभव हो सका।

उपसंहार

जब कभी भक्तिकालीन साहित्य पर चर्चा होती है तब केवल निष्कर्ष में भक्ति की सीमा पद्यात्मक काव्य तक ही सीमित रह जाती है । भक्ति कालीन साहित्य में भक्ति एक प्रक्रिया जरूर है परंतु इसके चरमोत्कर्ष का माध्यम रंगमंच ही है । हम सभी यह जानते हैं कि यदि तुलसीदास कृत रामचरितमानस का मंचन या लीलानुकरण नहीं होता तो वह इतनी लोकप्रिय न होती । जब भी हम हिंदी- रंगमंच की बात करते हैं तो आधुनिक रंगमंच की ओर ध्यान जाता है जिसे थियेटर के नाम से जाना जाता है । हम भूल जाते हैं कि संस्कृत में नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत रंगमंच का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है और विभिन्न रंगशालाओं के अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं । फिर अचानक वैदिक काल के बाद रंगमंच नदारद कैसे हो गया? यह प्रश्न विचारणीय

है। इस शोध-प्रबंध में केवल इस महत्वपूर्ण प्रश्न की खोज ही नहीं की गयी है बल्कि इसका उत्तर भी खोजा गया है। अतः भक्तिकाल में काव्य रूपी नाटकों की रचना हुई जिन्हें लीलाओं के माध्यम से लोकमंचीय शैली में खेला भी गया। इन लीला नाटकों की रचना पारंपरिक नाट्यशास्त्रीय प्रणाली की तरह नहीं थी लेकिन इन नाटकों ने जन-आंदोलन किया। लोगों के बीच अपना स्थान लोक पारंपरिक शैलियों के माध्यम से लोक प्रचलित किया।

भक्तिकालीन नाटकीय परंपरा के अंतर्गत दो धर्मों का अत्यधिक महत्व रहा है। हिंदुत्व एवं इस्लाम धर्म। यह वह दौर है जब हिंदू धर्म कुशल नेतृत्व के लिए ईश्वर की भक्ति कर रहा था और मुगलों ने अपने धर्म प्रचार-प्रसार के लिए हिंदू जनता को मुसलमान बनाने का बीड़ा उठाया हुआ था। ऐसे में राजनीतिक परिस्थितियों का असर साहित्यिक रचनाओं में भी देखा गया। भक्तिकालीन संतों ने निर्गुण काव्यधारा के माध्यम से निराकार धर्म की स्थापना की। इन संतों द्वारा काव्य क्षेत्र में यह एक आंदोलनकारी कदम था। संतों ने ईश्वरीय भक्ति को ज्ञानमार्गी भक्ति के रूप में प्रचलित किया इसी चर्चा को आगे कवि दादू कहते हैं कि मैंने वेदों एवं कुरान में बहुत खोजा लेकिन उन दोनों ही ग्रंथो में ईश्वर का निवास मनुष्य के भीतर ही पाया। इन्हीं चीजों की पुनरावृत्ति करते हुए वह पुनःइस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि मनुष्य मानवता का धर्म न समझ पाये तो उसके लिए ये ग्रंथ पढ़ना निरर्थक है। अर्थात् निर्गुण काव्य धारा के संत कवियों ने मानवता-धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया। साथ ही प्रेमा भक्ति को बढ़ावा दिया।

इस प्रकार संतों ने धार्मिक आडंबरों का पुरजोर विरोध किया। यह विरोध उनके काव्य एवं रचनाओं के साथ- साथ पारंपरिक नाटकीय प्रणाली पर भी अपना असर दिखाती है। संस्कृति रंगमंचीय शैली का स्थान स्वांग, भवई, नौटंकी एवं अन्य लोकनाट्य शैलियों ने ले लिया। रामलीला एवं रासलीला के माध्यम से लोगों के बीच वेदों के प्रमुख चरित्र राम और कृष्ण जन- समुदाय के अधिक नजदीक हो गये। लोगों की मान्यताएं बदली।

इसी कारण क्रांतिकारी संत एवं उनके अनुयायियों ने अपने स्वयं के ग्रन्थ संकलनों के रूप में तैयार किए । कबीर के शिष्यों ने बीजक में कबीर के विद्रोही स्वर को लिखा । इसमें सिखों का 'गुरूग्रंथ' एवं दादू पंथियों की 'पंचवानी', जो आज भी उनके सांप्रदायिक केन्द्रों में नियमतः पढ़ी जाती हैं उनका अनुपालन अपने मूल भूत आध्यात्मिक कृतज्ञता के रूप में होता है । यह महत्वपूर्ण है कि यद्यपि अधिकांश सांप्रदायिक केन्द्र साधारण वैष्णव मंदिरों के प्रतिरूप के अनुरूप बनाये गये और इन मंदिरों में पारंपरिक ग्रंथों के स्थान पर पंथ द्वारा परंपरावादी व्यवस्था का अनुकरण किया जाने लगा । इन संतों की वाणी को मंदिरों में कीर्तन के रूप में गाया जाता था और यह संतों की टोली अपने विचारों को घूम-घूमकर लोगों तक पहुंचाती थी । संतों की भाषा जन भाषा थी अर्थात् आम जनता की बोलियों में गीत एवं काव्य लिखे जाते थे । निर्गुण संतों ने अपना धर्म लोक-कल्याण को समर्पित किया उनकी अभिव्यक्ति लोगों को अधिक प्रभावित करती थी । निःसहाय जनता को इन काव्यों के माध्यम से अपने आराध्य पर आश्रित होने का बहाना मिल गया । ऐसे भक्तिकालीन आंदोलन ने साहित्यिक दृष्टिकोण से जन-आंदोलन का रूपधारण किया।

भक्ति-आंदोलन में संत बहुदेव वाद की धारणा को अस्वीकार करते थे । संत एकेश्वरवाद एवं अद्वैतवाद की धारणा को प्रबल रूप से स्थापित करते हैं । इन्होंने उससे संबंधित धार्मिक विधि-विधानों,मूर्ति पूजा तथा अवतारवाद को स्वीकार नहीं किया । संत भक्त भी वैष्णव धर्म के लोकप्रिय चरित्र राम एवं हरि के निराकार रूप को माना करते थे । ये कवि वैष्णववादी नहीं थे ।

पिछले अनुच्छेदों में चर्चा हो चुकी है कि भक्तिकाल में भक्ति दो वर्गों में विभाजित थी-सगुण एवं निर्गुण । कवि तुलसीदास की विचारधारा उदारवाद के विरूद्ध नहीं थी लेकिन वें वैष्णव परंपरा का अवमूल्यन नहीं कर सके ।उनका मानना था कि चारों वर्णों और चारों आश्रम का अनुसरण होना जरूरी है ।

कवि तुलसीदास की धारणा थी कि वर्ण व्यवस्था मौलिक रूप से श्रम पर आधारित थी। वास्तव में तुलसीदास जी के लिए माना जाता है कि वे समन्वयवादी सुधारक थे परंतु वे आंदोलनकारी नहीं थे। उनके विचार परंपरावादी थे। वे आदर्शवादी समाज बनाने की कल्पना करते हैं। अतः उन्होंने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में रामराज्य की स्थापना की वे अपने काव्यों में नैतिकता एवं अध्यात्मिकता के मूल्यों को ठोस रूप में रखते थे। वे समानता की अवधारणा के विरोधी नहीं थे। समाज में मौजूद अव्यवस्था से अधिक चिंतित थे। उनके काव्य में यह अनिवार्यतः दिखाई देती है कि चारों वर्णों के सभी लोग अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन, किसी अन्य के कार्यों की परिसीमित क्षेत्र में हस्तक्षेप किये बिना करें।

तुलसीदास की भाँति चैतन्य भी मूलतः एक धार्मिक–दार्शनिक थे। अपनी एक अलग धार्मिक विचारधारा के कारण वह प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से टकराव की स्थिति में आए। उन्होंने सभी के लिए धार्मिक स्वतंत्रता एवं समाज के निम्नवर्ग के लिए भी भक्ति का द्वार खुले रखने का समर्थन किया। इसलिए चैतन्य भी एक सामाजिक सुधारक कहे जा सकते हैं लेकिन उनका सुधार उनकी भक्ति का एक दूसरा रूप मात्र था। एक बार चैतन्य ने बहुत क्रान्तिकारी दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हुए घोषणा की थी - ईश्वर संपूर्णतया स्वतंत्र है उसकी कृपा वेदों की पंक्तियों का अनुसरण नहीं करती ईश्वर की कृपा जाति एवं परिवार अपेक्षा नहीं करती[163] तथा कृष्ण की पूजा में जाति एवं परिवार का कोई महत्व नहीं है[164]

इस प्रकार की भक्ति ने जागरुक वैष्णव समाज को जन्म दिया जो परम्परागत वैष्णव वाद से भिन्न था। चैतन्य ने समाज में स्त्रियों की दशा को बेहतरीन किया। मंदिरों में देवसासियों को नाटक मंडली में शामिल किया। नाटकीय प्रणाली को प्रोत्साहित किया। साथ ही गौड़िया संप्रदाय के माध्यम से स्त्रियों शिक्षा-दीक्षा की देने का प्रयास किया। वैष्णव परंपरा

---

[163]वही,पृ.सं-119

[164]वही,पृ.सं-122

में विधवा पुनर्विवाह जैसे समाज-सुधारक कार्य का आविर्भाव चैतन्य द्वारा किया गया। साथ ही जातिगत भेदभाव को अस्वीकार किया गया। उनकी भक्ति की अत्यधिक महत्वपर्ण विशेषता कीर्तनयां संकीर्तन का संगठन था जिसमें इनके अनुयायी विभिन्न समूहों में विभाजित होकर प्रत्येक द्वार पर जाकर एवं नाद बजाकर कृष्ण का नाम गाते हुए लोगों को सम्प्रदाय में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित करते थे। यह नगर के स्तर पर होता था। सो इसमें नगर के सभी लोगों का योगदान रहता था।

शोध-कार्य के प्रथम सोपान में भक्ति के स्वरूप को बताया गया है। दक्षिण के आलवारों से लेकर उत्तर भारत तक की भक्ति के प्रचार एवं प्रसार का अवलोकन किया गया है। सिद्ध, नाथ और जैन की कर्मकांडी भक्ति या मंत्रों-तंत्रों से जुड़े अंधविश्वासों के बीच, उलझे जनमानस ने अपने भक्ति के नए स्वरूप को अपनाया। अध्याय में शंकराचार्य और रामानंद आचार्यों की धार्मिक–साधना का विवेचन किया गया है। साथ ही दोनों की भक्ति साधना के अंतर को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया गया है। भक्तिकालीन प्रमुख स्तंभित कवि कबीर, तुलसी, मीरा और जायसी के भक्ति काव्य से जन-साधारण प्रभावित हुए। उसके पीछे के कारणों का मूल्यांकन किया गया है। दक्षिण भारत के प्रमुख भक्ति साहित्य का ग्रंथ प्रबंधम् है जिसमें आलवार भक्तों की काव्य-रचना का संकलन मिलता है। इस ग्रंथ से हमें दक्षिण के लोक जीवन में प्रचलित भक्ति-काव्य रचनाओं में राम और कृष्ण के प्रति भक्ति का स्वरूप ज्ञात होता है। इसी तरह उत्तर भारत में मौजूद भक्ति का स्वरूप राम और श्रीकृष्ण के माध्यम से प्रसारित होता है। भक्तियुग में रामायाण ग्रंथ द्वारा श्रीराम के चरित्र की उपासना की जाती है। वहीं श्रीमद्भागवत को आधार बनाकर भक्तिकालीन कवियों ने श्रीकृष्ण पर लीलाएं लिखीं। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों को स्पष्ट करते हुए कई विद्वानों द्वारा विभिन्न मतों की ओर दृष्टिपात किया गया है जिससे भक्ति-साहित्य में रामराज्य जैसी स्थापनाएं सामने आयी।

इससे भक्ति–काव्य से उद्धृत भक्ति-आंदोलन के पुट स्पष्ट हो सके। साधारणजन के भीतर होने वाली कुलबुलाहट और अपने विचारों की स्वतंत्रता को प्रस्तुत करने के लिए लोगों ने भक्ति का सहारा लिया।

भक्तिकालीन प्रदर्शनकारी कलाओं एवं लोकनाट्य की विशेषताओं से यह साबित हो सका कि इनके माध्यम से भक्ति-आंदोलन जन-जन तक पहुंचा। तत्कालीन धार्मिक परिवेश होने की वजह से भक्ति-पूजा-अर्चना एवं कीर्तन शैलियों लोकशैली का विकास हुआ जिससे भक्ति विभिन्न कलाओं के माध्यम से पूरे देश में फैली। भरत की लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परंपरा की जब भी बात होती है तो लोकधर्मी नाटकों को लोकनाट्य शैलियों से जोड़ दिया जाता है। इस विषय पर विचार करने के लिए नाट्य-रस पर विचार करना होगा क्योंकि भरत और अभिनव गुप्त नाट्य रस को अलौकिक मानते हैं और इसमें अलौकिक का तात्पर्य आध्यात्मिक नहीं है बल्कि तात्पर्य उस अनुभूति से है जो लोक-जीवन में प्रायः उपलब्ध नहीं होती। यानी लोकातीत अनुभवों से प्राप्य रस। नाट्य की विलक्षणता यह है कि वह रंगशाला के सीमित परिवेश के बावजूद, किसी अलौकिक शक्ति के चमत्कार से ,हमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर तुरंत में पहुँचा सकता है। रंगमंच पर जब अभिनेता अभिनय करता है तो वह नाटकीय- व्यवहार है,लोक-व्यवहार नहीं। इस प्रकार दूसरे शब्दों में जो नाट्य-धर्म है, वह जरूरी नहीं कि लोक-धर्म भी हो। भरत का तात्पर्य यही था कि नाट्य धर्म में काल,स्थान, व्यवहार आदि लौकिक जीवन से भिन्न होते हैं। उसे जिस रस और आनंद की उपलब्धि होती है वह भी लौकिक जीवन के रस तथा आनन्द से परे है।

इस विषय पर चर्चा करने का मेरा आशय यह है कि भरत के समय में साहित्यिक,नागरिक नाट्य,लोक या ग्रामीण नाट्य में अंतर नहीं था। यह भेद हमें तब दिखाई देता है जब राजदरबारों के संरक्षण में ऐसे नाटकों की ही रचना होने लगी जिनका संबंध उच्चवर्ग

के जीवन से था और जिनके कर्म व सौन्दर्य को समझने के लिए रसज्ञ या शास्त्रज्ञ होना आवश्यक था। भक्तिकाल में नाट्य परंपरा ने अपने विस्तार का मार्ग लोकनाट्य में खोजा। इस नाट्य शैली में दरबारी संस्कृति की आवश्यकता नहीं थी। साधारणजन ने अपने मनोरंजन एवं भक्ति के लिए लोकनाट्य का चुनाव किया। इस तरह प्रदर्शनकारी कलाएं लोगों के बीच प्रचलित हुईं। राम व कृष्ण की लीला इनकी प्रमुख अभिव्यक्ति बनी।

भक्तिकालीन रंगमंचीय विशेषताओं को शोध-कार्य में इंगित किया गया है। शोध-कार्य में तत्कालीन रंगमंचीय व्यवस्था को संकलित करने के बाद यह स्पष्ट होता है कि पारंपरिक लोकनाट्य शैलियों का मंचन साधारण रूप से होता था। संस्कृत नाटकों के मंचन की भाँति भव्य रंगमंच की परिकल्पना भक्तिकालीन रंगमंच में दिखाई नहीं देती। विकृष्ट , चतुरस्र या त्रयरस जैसी रंगशाला एं मध्य-युग में दिखाई नहीं देती लेकिन धार्मिक अनुष्ठानों के लिए जिस तरह मंदिरों का उपयोग किया जाता था उसी प्रकार नाटकों की प्रस्तुति के लिए मंदिर को रंगशाला के रूप में प्रयोग होने लगा। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियां रंगमंच के अनुकूल नहीं थी तब भी लोकनाट्य के रूप में लोक रंगमंच ने अपना अस्तित्व बनाए रखा। भक्तिकाल में स्वाँग, नौटंकी और भगत के जैसी पारंपरिक नाट्यशैलियों के माध्यम से रंगपरंपरा को बनाए रखा। शताब्दियों से यह मौखिक परंपरा के रूप में चली आ रही है। इस शैली के लिए खुले मंच का प्रयोग किया जाता है और साधारण–जन की उपस्थिति होती है। स्वांग विशुद्ध रूप से मनोरंजन के लिए खेला जाता है। इस तरह रामलीला और रासलीला जनता के बीच आकर्षण का विषय होता था। असम के नाटककार शंकरदेव ने वैष्णव नाटकों की परंपरा को विशेष रूप से आगे बढ़ाया है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परंपरा और भक्तिकालीन नाट्य परंपरा का समावेश करके, अंकिया नाट को प्रस्तुत किया।

'भक्तिकालीन हिन्दी नाटक' शीर्षक में मैथिली नाटक और लीलानाटकों के माध्यम से भक्त कवियों के भीतर नाटककार के अंश परिलक्षित होते हैं । पद्यात्मक नाटकीय विशेषता वाले काव्य की रचना इस काल में अभिलक्षित होती है । रामचरितमानस में प्रयुक्त पद्यात्मक कथानाक में नाटकीय संरचना के सभी गुण अपेक्षित हैं । जिस कारण रामलीला के विभिन्न लोकनाट्य रूप दिखाई पड़ते हैं । ये आज भी प्रासंगिक हैं । इन काव्यों से प्रदर्शनकारी कलाओं को भी कथा में लयात्मकता प्राप्त हुई । इससे ही यह काल जन-साधारण के अधिक नजदीक रहा । दरबारी संस्कृति का ह्रास हुआ तो लोक-साहित्य में रचना उपलब्ध हुई । हिन्दी क्षेत्र की लोक नाट्य-परंपरा का विशद विवेचन,इस क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न लोकनाट्य रूपों पर अलग-अलग विचार करने के बाद ही संभव है । ये लोक नाटक शताब्दियों से लोकजीवन को अनुप्राणित करते आ रहे हैं लेकिन इनकी विस्तृत विवेचना का न तो यहां अवकाश है और न ही किसी शोध-पत्र में अभीष्ट है । भक्तिकाल में प्रचलित रामलीला, रासलीला आदि धार्मिक नाटक माने जाते रहे हैं और स्वाँग, नौटंकी, भवाई आदि लौकिक नाटकों के रूप में परिलक्षित होते हैं ।

पूर्ववर्ती अध्यायों में ,भक्तिकालीन रचना में प्रयुक्त नाट्य तत्वों को भक्ति–संवेदना के रूप में प्रदर्शित किया गया है । इस प्रकार तुलसी, सूरदास और जायसी की रचनाओं में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रंगमंचीय तत्वों को देखा जा सकता है जिसे अब तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में नजरअंदाज किया गया है । इतिहास की पुस्तकों में भक्ति-काव्य और भक्ति-आंदोलन को विभिन्न सोपानों में व्याख्यायित किया गया है परंतु इस काल की प्रमुख विधा नाट्य और रंगमंचीय विधानों की ओर ध्यान नहीं किया गया है । इसी वजह से साहित्य के विद्यार्थियों और शोधार्थियों को अकसर लगता रहा है कि भक्ति-आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य केवल काव्य के माध्यम से ही लोगों तक पहुँचा है जबकि लोक–नाट्य की विलक्षण प्रतिभा को साहित्येतिहास

में सम्मिलित ही नहीं किया गया था । प्रस्तुत शोध-कार्य में, भक्ति-आंदोलन में हिंदी की रंगमंचीय विशेषताओं को रेखाकिंत किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के विहंगावलोकन से यह सरलता के साथ कहा जा सकता है कि विगत अनेक शताब्दियों से भक्तिकालीन नाटक के विषय एवं उनके प्रतिपादन शैली में निरन्तर विकास होता रहा है। यह नाट्य–साहित्य उपयुक्त रंगमंच के अभाव में भी देश-काल के अनुरूप अनेक उत्सों से संपर्क,प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करते हुए, जन-मानस को अनुरंजित एवं उद्वेलित करता आ रहा है। शोध-अध्ययन के दौरान हमने देखा कि इस नाट्य-साहित्य के क्रमिक विकास में अनेक सोपान हैं जिन पर आरूढ़ होने में कभी तो कमी दिखाई देती है तो कभी इसकी गति तीव्र दृष्टिगोचर होती है । यह नाट्य विकासधारा अविच्छिन्न रूप से इन सोपानों से होकर,जन-रुचि की अनुकूलता को दृष्टि-पथ में रखते हुए, परिवर्तन शीलता के साथ प्रवाहित होती रही है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन साहित्य में, भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में स्थापित लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परंपरा का स्वरूप दिखाई पड़ता है । लोकनाटकों ने इस परंपरा को जीवित रखा और लोगों के बीच अपनी साख बनाई। कुछ परिवर्तन एवं कुछ अभाव जनित परिवर्तन के साथ मध्यकाल में दरअसल हिंदी रंगमंच गौण लगता है लेकिन हिन्दी साहित्य में विद्यमान रहा।

आधार-ग्रंथ

रामचरितमानस– तुलसीदास

सूरसागर - सूरदास

कबीरग्रंथावली– कबीरदास

पद्मावत– मलिकमोहम्मदजायसी

संदर्भ– ग्रंथ सूची

1. अजित पुष्कल /हरिश्चन्द अग्रवाल, नाटक के सौ बरस, दिल्ली, संस्करण 2004ई.
2. अबुल फ़जल,अकबर-नामा, नागरी–प्रचारिणी सभा, काशी-संस्करण, 1956 ई.
3. आद्य रंगाचार्य, द इण्डियन थियेटर, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया,नई दिल्ली,फर्स्ट एडिशन1971; सेकण्ड एडिशन,1980ई.
4. अंकुर देवेन्द्र राज, अन्तरंग बहिरंग, राजकमल प्रकाशन, नईदिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पहली आवृत्ति 2013ई.

5. वही, दर्शन प्रर्दशन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, दूसरी आवृत्ति 2013ई.
6. वही, पढ़ते– सुनते– देखते, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008ई.
7. वही, सातवाँ रंग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010ई.
8. वही, रंगमंच का सौन्दर्य शास्त्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006 ; पहली आवृत्ति, 2012ई
9. इरफान हबीब, रमेश रावत (संपादक और अनुवादक), भारतीय इतिहास में मध्यकाल, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन,1999 ई.
10. कपिला वात्स्यायन, पारंपरिक भारतीय रंगमंच : अनंत धाराएं, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, संस्करण, 1996ई.
11. वही,वासुदेव शरण अग्रवाल रचना- संचयन (हिन्दी खण्ड),साहित्य अकादेमी,प्रथम संस्करण,2012 ई.
12. डॉ किशोरी लाल,हिंदी रंगमंच और रामलीला, मुक्ति मार्ग प्रकाशन, इंदौर, प्रथम संस्करण, सन् 2008 ई.
13. कृष्णदेव झारी, मध्यकालीन कृष्ण-काव्य, हिन्दी-साहित्य-भण्डार, नई सड़क, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1970ई.
14. गिरीश रस्तोगी, बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच; भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली, दूसरा संस्करण, 2015ई.

15. वही, हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद -1 ; प्रथम संस्करण 2002, प्रथम आवृत्ति,2008ई.

16. वही, नाटक और रंगपरिकल्पना, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 1992ई.

17. वही, समकालीन हिन्दी नाटककार, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, विजय दशमी, 1978ई.

18. गुप्ता ऊषा, हिंदी के कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत, सेठ भोलाराम से केसरिया–समारक ग्रंथमाला-9, प्रकाशन लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, संवत् 2016 विक्रम

19. गोविन्द चातक, रंगमंच : कला और दृष्टि, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1976ई.

20. गोविन्दाचार्य, द लाइफ ऑफ रामानुजाचार्या, एस. मूर्ति एण्ड को., मद्रास, 1906ई.

21. जगदीश चन्द्र माथुर और डॉ दशरथ ओझा, प्राचीन भाषा नाटक (मध्यकालीन नाटकों का संग्रह और विवेचन), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, 1975

22. जगदीश चन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य, पटना,बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्,प्रथम संस्करण,सन्1966ई.

23. जयदेव तनेजा, समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच; तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2002ई.

24. वही, हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा; तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2010, पूर्व प्रकाशित संस्करण,1988ई

25. वही, नई रंग चेतना और हिन्दी नाटककार; तक्षशिला प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1994ई.

26. वही, हिन्दी नाटक आज– कल, तक्षशिला प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2000ई.

27. वही, रंग– साक्षी: नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षा– अनुवीक्षा– रपट, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015ई.

28. जॉन एम. मैक्नीज, ओरिंएन्टलिज्म हिस्ट्री,थ्योरी एण्ड द आर्ट, मैन्चेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस,1987 ई.

29. .जी.एन.मल्क, द फिलॉस्फी ऑफ वैष्णव रिलीजन, वोल्यूम-1, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, फर्स्ट एडिशन,1927

30. तुलसीदास, रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, अष्टादश संस्करण, संवत् 2027 विक्रम

31. तुलसीदास,दोहावली, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण, संवत् 2006 विक्रम

32. तुलसीदास, कवितावली, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2000 विक्रम

33. तुलसीदास, गीतावली, प्रकाशन गीताप्रेस,गोरखपुर, संवत् 2000 विक्रम

34. नगेन्द्र (सं), भारतीय नाट्य साहित्य,एस चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली,1967ई.

35. राय नरनारायण, नटरंग विवेक; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981ई.

36. मोहन नरेन्द्र, समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण,2009ई.

37. जैन नेमिचंद्र, संपादक, आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, दि मैक मिलन, कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1978ई.

38. सं. परशुराम चतुर्वेदी, मीराबाई की पदावली, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन,प्रयाग, द्वितीय संस्करण, संवत् 2008 विक्रम

39. सं. परशुराम चतुर्वेदी,संत-काव्य-संग्रह, किताब महल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, सन् 1961ई.

40. पारसनाथ तिवारी, कबीर वाणी-संग्रह, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् 1970ई

41. सं. पिताम्बरदत्त बड़थ्वाल, रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, नागरी-प्रचारिणी-सभा,काशी, प्रथम संस्करण, संवत् 2012 विक्रम

42. पुष्पा कुमारी, 'मानस' के रामेतर कथा-प्रसंगों में नाटकीयता,मंजु प्रकाशन, लखनऊ-2, प्रथम संस्करण, सन् 1970 ई.

43. प्रतिभा अग्रवाल, भारतीय रंगकोश : संदर्भ - रंग– प्रस्तुतियाँ, नाट्य शोध संस्थान, कोलकता, प्रथम संस्करण 2005ई.

44. प्रतिभा अग्रवाल, भारतीय रंगकोश : संदर्भ - रंग– व्यक्तित्व, नाट्य शोध संस्थान, कोलकता, प्रथम संस्करण 2006 ई.

45. प्रिया दास की टीका,कबीर-बीजक,सत्यनाम प्रेस,बनारस, संस्करण, संवत् 1883 विक्रम

46. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008ई.

47. बलवंत गार्गी, रंगमंच, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1968ई.

48. ब्रज भूषण शर्मा,कुम्भन दास,प्रकाशन विद्या भवन, काँकरोली, प्रथम संस्करण, संवत् 2010 विक्रम

49. बीरेन्द्र नारायण, हिंदी ड्रामा एण्ड स्टेट; जनरल एडिटर ; डॉ. नगेन्द्र ; बंसल एण्ड को. पब्लिशर्स;दिल्ली, फर्स्ट एडिशन,1981ई.

50. मलिक मोहम्मद,प्रथम संस्करण, वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन, राजपाल एंड सन्ज, कशमीरी गेट, दिल्ली, 1971ई.

51. डॉ मलिक मोहम्मद, भक्ति-आंदोलन के प्रेरणा स्रोत,रंजन प्रकाशन, बौके विलास, सिटी स्टेशन मार्ग, आगरा, प्रथमसंस्करण, सन् 1972ई.

52. श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस,गोरखपुर,संस्करण, संवत् 2027 विक्रम

53. सं. महाबीर प्रसाद मालवीय, तुलसी- ग्रंथावली, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण, संवत् 1962 विक्रम

54. सं. माता प्रसाद गुप्त, कुतुबन (मृगावती), प्रामाणिक प्रकाशन,आगरा, सन्1955 ई.

55. सं. माता प्रसाद,छिताई-वार्ता,नागरी- प्रचारिणी सभा,काशी, प्रथम संस्करण संवत् 2015 विक्रम

56. मौलाना दाउद,सं.माता प्रसाद गुप्त,चन्दायन, प्रमाणिक प्रकाशन, आगरा, संस्करण, सन् 1967ई.

57. सं. माता प्रसाद गुप्त, तुलसी ग्रंथावली, खंड-1 , हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् 1949ई.

58. सं. माता प्रसाद गुप्त, मंझन (मधुमालती), मिश्र प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद,प्रथम संस्करण, सन् 1961ई.

59. सं. सुधासिंह, मध्यकालीन साहित्य– विमर्श, प्रथम संस्करण,आनन्द प्रकाशन,कोलकत्ता -700007, 2004 ई.

60. मैनेजर पाण्डेय, भक्तिकालीन आन्दोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2003ई.

61. वही, साहित्य इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013ई.

62. महेश आनंद, रंग दस्तावेज : सौ साल भाग– 1 और 2, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय / राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007ई.

63. महेश आनंद / देवेन्द्रराज अंकुर, संपादक, रंगमंच के सिद्धांत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2008, पहली आवृत्ति 2014ई.

64. माधव सोनटक्के, आधुनिक हिन्दी मराठी नाटक, संचयन प्रकाशन; प्रथम संस्करण 1988 ई.

65. मोनिका जुनेजा, अर्किटेक्चर इन मिडीव्ल, इण्डिया (फॉर्म, कॉन्टेक्स,हिस्ट्री),1976ई.

66. मुद्राराक्षस, रंग भूमिकाएं; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006ई.

67. वही, समाज, संस्कृति और राजनैतिक सत्ता; गौतम बुक सेन्टर, चन्दन सदन, दिल्ली, संस्करण, 2011ई.

68. डॉ योगेन्द्र प्रताप सिंह, हिंदी वैष्णव भक्ति काव्य–काव्यादर्श तथा काव्य सिद्धान्त, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद-9, प्रथम संस्करण, सन् 1969 ई.

69. राधावल्लभ त्रिपाठी, भारतीय नाट्यः स्वरूप और परंपरा, संस्कृत विभाग, डॉ हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय के नाट्यशास्त्र साहित्यशास्त्र में अध्ययन केन्द्र की ओर से प्रकाशित,नाट्यशास्त्र अध्ययनमाला,- 1, प्रथम संस्करण, सन् 1988 ई.

70. सं.रामचन्द्र शुक्ल,जायसी-ग्रंथावली, नागरी-प्रचारिणी-सभा,काशी,13वाँ संस्करण, संवत् 2012 विक्रम

71. सं. रामचन्द्र शुक्ल,भगवान दीन, ब्रजरत्न दास, तुलसी-ग्रंथावली, खण्ड-2, नागरी-प्रचारिणी-सभा,काशी, चतुर्थ संस्करण, संवत् 2015 विक्रम

72. रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी-साहित्य का इतिहास,नागरी-प्रचारिणी-सभा,काशी, सोलहवाँ संस्करण, संवत् 2025 विक्रम

73. रामचन्द्र शुक्ल, सूरदास,सरस्वती मंदिर, बनारस, तृतीय संस्करण,सन् 1941 ई.

74. राजबली पाण्डेय,हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास:हिंदी साहित्य की पीठिका,नागरी-प्रचारिणी-सभा,काशी, प्रथम संस्करण, संवत् 2014 विक्रम

75. रामनरेश वर्मा, हिंदी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, नागरी-प्रचारिणी-सभा,काशी, प्रथम संस्करण, सन् 1963 ई.

76. रामदास गौड़, हिन्दुत्व,ज्ञानमण्डल, काशी, प्रथमसंस्करण, संवत् 1990 विक्रम

77. राय बहादुर महामहोपाध्याय, गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, हिन्दुस्तानी एकेडमी,इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, सन् 1951 ई.

78. रविन्द्र भ्रमर, हिंदी भक्ति-साहित्य में लोक-तत्त्व, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1969 ई.

79. डॉ रामकुमार वर्मा, राम नारायण बेनी माधव, हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,कटरारोड, वाराणसी, छठवाँ संस्करण, सन् 1971 ई.

80. सं.रूप कला, भक्तमाल (नाभादास) नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 1902 ई.

81. व्याख्याकार–वासुदेव शरण अग्रवाल, पद्मावत्, प्रकाशन साहित्य सदन, झाँसी, द्वितीयावृत्ति, संवत् 2012 विक्रम

82. सं.श्यामसुन्दर दास,कबीर-ग्रंथावली,नागरी-प्रचारिणी-सभा,काशी,संस्करण, संवत् 2007 विक्रम

83. शिरोमणि गुरू द्वारा प्रबंधंक कमेटी,आदि गुरु ग्रंथ साहब, अमृतसर, संस्करण सन् 1953ई.

84. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003ई.

85. वही, भक्तिकाव्य और लोकजीवन,पीपुल्स लिटरेसी,मटिया महल, दिल्ली,1983ई.

86. शिवशंकर मिश्र, भारत वर्ष का सांस्कृतिक विकास, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, संस्करण, संवत् 2010 विक्रम

87. श्रीकृष्णदास, हमारी नाट्य परंपरा; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1953ई.

88. डॉ सज्जन राम केणी, रामचरित मानसःतुलनात्मक अनुशीलन, पुस्तक संस्थान, नेहरु नगर कानपुर, प्रथम संस्करण, सन् 1974 ई.

89. सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, भारतीय-दर्शन, हिंदी रूपकार, हरिमोहन झा एवं नित्यानंद पुस्तक भंडार, पटना,प्रथम संस्करण, सन् 1957 ई.

90. डॉ सुमन शर्मा, मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन का सामाजिक विवेचन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् 1974 ई.

91. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास,सरस्वती सदन, मसूरी,चतुर्थ संस्करण, सन् 1967ई.

92. डॉ सावित्री शुक्ल, सन्त साहित्य की सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, विश्वविद्यालय हिंदी प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण, सन् 1963ई.

93. सं. डॉ विनय, समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, भारती भाषा प्रकाशन, शाहदरा दिल्ली, संस्करण,1982ई.

94. संपादक, नरनारायण राय, असंगत नाटक और रंगमंच, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981ई.

95. हजारी प्रसाद द्विवेदी,मध्यकालीन धर्म- साधना, साहित्य भवन, प्रा.ली. इलाहाबाद, 1962ई.

96. वही,हिन्दी साहित्य की भूमिका,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,2010ई.

97. वही, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1990ई.

98. वही, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, 1964ई.

99. वही,सूर साहित्य, सरयू प्रसाद ग्रंथमाला, प्रथम संस्करण, संवत् 1963 विक्रम

100. हरबंस मुखिया, मध्यकालीन भारत: नए आयाम, नरेश नदीम (अनुवादक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998ई.

101. हरिश्चन्द्र वर्मा (सं, मध्यकालीन भारत (भाग– दो) 1540- 1761, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993ई.

102. ह्रषीकेश सुलभ, रंगमंच का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009

पत्रिकाएं

आजकल : सं. प्रतापसिंहबिष्ट, व्यापार व्यवस्थापक प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय पटियाला हाउस, नईदिल्ली 110001, अंक– 3, जुलाई 1096

नटरंग– भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक : सं. अशोक वाजपेयी, रश्मि वाजपेयी, दिल्ली 110092, अंक - 81, खंड 20, दिसंबर 2008

नटरंग– भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक : सं. अशोक वाजपेयी, रश्मि वाजपेयी, दिल्ली 110092, अंक - 82, खंड 21, दिसंबर 2008

नटरंग– भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक : सं. अशोक वाजपेयी, रश्मि वाजपेयी, दिल्ली 110092, अंक - 99, खंड 25, दिसंबर 2015

रंगमाया और फिल्ममाया : सं. प्रदीप वेणेंकर, दिल्ली 110092, अंक– 1 सितम्बर– 30 नवम्बर 1997

https://ich.unesco.org/en/RL/kutiyattam-sanskrit-theatre-00010

https://knowindia.gov.in/culture-and-heritage/medieval-history/bhakti-movement.php

https://knowindia.gov.in/culture-and-heritage/medieval-history/bhakti-movement.php

https://www.thehindu.com/entertainment/dance/in-dialogue-with-the-doyenne/article23763496.ece

http://www.mahavidya.ca/2012/06/18/the-kutiyattamkoodiyattam-sacred-dance-tradition/

https://disco.teak.fi/asia/raslila-a-devotional-dance-opera/

https://academic.oup.com/jhs/article/3/1/1/2188852